अनुज

[श्री मैथिलीशरण गुप्त]

प्रिय नगेन्द्रजी का आग्रह है, मैं सियारामशरण के जीवन के सम्बन्ध में कुछ लिख दूँ। यह उनके स्नेह के अनुरूप ही है। परन्तु इधर मैं बहुत अलसाने लगा हूँ। कभी दो-चार पद्य लिख देना दूसरी बात है। मेरी दुर्बल स्मृति भी, दैनिकी के अभाव में, अकेली-सी पड़कर असहाय है। मैं यह तो नहीं मानता कि बाह्य दृष्टि से वह काल सुस्मरणीय न होने के कारण मैंने स्वयं अज्ञातरूप से अपनी स्मृति कृश कर ली है। यह ठीक है कि हमारा परिवार धन से ऋण की दशा में आ गया था, परन्तु बीते हुए दुःख भी सुखद होते हैं। तथापि मनुष्य की शक्तियों का क्षय भी शरीर का एक धर्म होता है।

सबसे बढ़कर तटस्थता का भी मुझ में अभाव है। जीवन के मिले-जुले प्रवाह में घटनाएँ आतीं और बह जाती हैं। हम दोनों इतने निकट हैं कि अलग से उन्हें देखना मेरे लिए असम्भव-सा है। उनका सहज होना ही, प्रस्तुत प्रसंग में, मेरे लिए कठिन हो गया है। एक बार स्वयं अपने सम्बन्ध में कुछ लिखने की चेष्टा मैंने की थी; परन्तु काम चला नहीं। इस असफलता का मुझे कोई खेद भी नहीं।

सियाराम ने अपनी बाल्य-स्मृति में जो कुछ लिखा है उसे मैंने अभी फिर एक बार पढ़ा। इसलिए कि उसी से कुछ सूत्र मुझे मिल जाय और उनके सहारे मैं नगेन्द्रजी का आग्रह रख सकूँ। परन्तु जैसा उन्होंने लिखा है, मुझे स्मरण नहीं आता, मैंने उनकी कौन-सी प्रारम्भिक रचना ठीक की थी। हाँ, उनकी एक अन्य कविता उन्हीं ने 'मौर्य-विजय' के रूप में अवश्य परिवर्तित करायी थी। मैं स्वयं उस विषय पर लिखना चाहता था और उन दिनों ऐसे कथानकों की खोज में रहता था।

उनके शैशव का एक स्मरण आज भी मुझे है। उनके पैर में एक भयानक फोड़ा हुआ था। जिस दिन उसमें चीरा लगाये जाने की बात थी उसी दिन वह अपने-आप फूट गया। इतनी पीब निकली कि मानो उनका सारा शरीर ही निचुड़ गया। सम्भव है, उसी के कारण उनकी बाढ़ मारी गयी हो। ऊँचाई में वे मेरी अपेक्षा बहुत छोटे रह गये।

जान पड़ता है उस समय जिस फोड़े ने उनका पैर पकड़ा था उसकी पीड़ा को वे आज भी अपने हृदय में आश्रय दिये जा रहे हैं।

अवस्था में वे मुझसे दस वर्ष छोटे हैं और विद्या के क्षेत्र में उतने ही बड़े। तीन-चार वर्ष हिन्दी की परीक्षाओं में, शेष स्वयं शिक्षा प्राप्त करने में। भिन्न-भिन्न समय में मैंने भी कुछ प्रयास किया है। परन्तु निष्फल होने से वह नगण्य ही रहा। फिर भी जब वे अपने छोटों में अपना बड़प्पन रखते हैं तब मैं ही उनके बड़े होने का अधिकार कैसे छोड़ सकता हूँ।

साधारण और विशिष्ट जनों के बाल्यकाल की बहुत-सी बातें एक-सी होती हैं। परिस्थितियों की भिन्नता के कारण उनके परिणाम भिन्न हुआ करते हैं। अपने कुल के संस्कार भी होते हैं। इधर बौद्धिक हो जाने पर भी सियारामशरण अश्रद्ध अथवा अभावुक नहीं।

खेल-कूद की ओर बच्चों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। परन्तु अपने अनुज का यह भाग मैंने मानो पहले ही हथिया लिया था। उनका कोई उपद्रव स्मरणीय नहीं। चोट-चपेट उनका काम न था। जैनेन्द्रजी के कथनानुसार उनकी यह न्यूनता उनकी रचनाओं में भी बनी है। वे आघात नहीं कर सकते। 'परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः' के अनुसार कहीं ऐसा तो नहीं है कि उनके इशारे हमसे अक़्लमंदी की आशा करते हों!

जिज्ञासा उनमें पर्याप्त मात्रा में थी। एक बार हमारा एक मृग-शावक मर गया। उसके सम्बन्ध में, 'दाऊजू, वो हिन्न काँ गओ' (दाऊजू, वह हिरन कहाँ गया) से आरम्भ करके वे पिताजी से प्रश्न-पर-प्रश्न करने लगे। अन्त में उसे उठा ले जाने वालों के विषय में उन्होंने पूछा—वे उसका क्या करेंगे? पिताजी को यह प्रसंग प्रिय न था। फिर भी, वे किसी प्रकार उत्तर दे रहे थे। इस बार उनकी वैष्णवता क्षुब्ध हो उठी। इसी बीच मेरे बाल्य-बन्धु मुंशी अजमेरी आ गये थे। पिताजी ने उनकी ओर देखकर कहा, "क्यों जी, तुम देख रहे हो, ये हमसे कैसी बातें पूछ रहे हैं। इन्हें रोकते नहीं हो।" अजमेरी ने हँसकर कहा, "आप ही तो उत्तर दे-देकर इन्हें उत्साहित कर रहे हैं।" यह कहकर और सियारामशरण को गोद में उठाकर वे वहाँ से खिसक आये।

शारीरिक स्फूर्ति के अभाव में उनकी कल्पना और भी स्फुरित हो उठी हो तो आश्चर्य नहीं। सम्भव है, आरम्भ से ही अन्तर्मुखी प्रवृत्ति ने उन्हें बाह्य विषयों से विमुख बना दिया हो। मिट्टी के हाथी के पोले पेट में चींटी को बन्द करके वे हाथी को गतिशील भले ही न बना सके हों, हाथी पर चढ़ने का लोभ उन्हें कभी नहीं हुआ। अब तो उनके निकट उसका कोई महत्त्व भी

नहीं। बाहर आने-जाने का भी उन्हें वैसा उत्साह न था। अपने मुंशीजी वाले लेख में उन्होंने फुसलाकर बाहर ले जाने की बात कही भी है।

मन्त्र-बल से अक्षय भण्डार प्राप्त करने की उनकी चेष्टा भी कौतूहलजन्य ही समझनी चाहिए। मैं भी कुछ दिन इस फेर में रहा था। विशेषकर सरस्वती को सिद्ध करने के स्वप्न में। इन्द्रजाल नामक लीथो के छपे एक गुटके के पन्ने भी चमत्कारों पर अधिकार प्राप्त करने की आशा से मैं उलटा करता था। कहते हैं, जो जाति पुरुषार्थहीन हो जाती है वह मन्त्र-बल से मायापुरी निर्माण करने की बातें सोचा करती है। फिर भी बच्चों की इस प्रकार की चेष्टा क्षम्य ही समझनी चाहिए।

बचपन में हम लोग मोतियों के झुमके, जिनका बोझ सँभालने के लिए मोतियों की ही दुहरी साँकलें कानों पर चढ़ी रहती थीं, पहना करते थे। पैरों में चाँदी के कड़े, तोड़े, हाथों में सोने के कड़े, पोंहचियाँ और गले में गोप गुंज एवं कण्ठे आदि भी समय-समय पर पहना करते थे। सिरों पर मण्डील भी बँधवाते थे। सियारामशरण भी इसके अपवाद न थे। उनका ऐसा कोई फ़ोटोग्राफ़ भी कहीं होगा। अब तो मैं समझता हूँ, किसी ग्रह-शान्ति के लिए रत्न-विशेष की अँगूठी पहनना भी उनके मनोनुकूल न होगा। घर के लड़के भी अब गहनों से मुक्ति पा गये हैं। कुण्डल गये तो कर्णवेध की बाधा भी उनके साथ चली गयी। हमारे अँगरखों के घेर में चारों ओर गोटे-पट्टे और पीठ तथा बाँहों पर सुनहले पान-पत्ते टँके होते थे। परन्तु उन कपड़ों का मूल्य स्यात् उतना भी न होता होगा जितना आजकल लड़के एक कोट की सिलाई दे आते हैं और थोड़े में बहुत करा लेने का गर्व करते हैं। हमारे अँगरखों के साथ सुथने भी होते थे, परन्तु वे प्रायः कोरे ही रहते थे। उन्हें पहनकर कौन गाँव के लड़कों से यह सुनता कि बीबी के खूसने में चार-चार चीलर।

मेरे लिए यह चिढ़ाना अभी तक बना है। गत महायुद्ध के दिनों में कपड़े की कठिनाई खादी के कारण हम लोगों को उतनी नहीं व्यापी थी। फिर भी मैंने सोचा, धोती की अपेक्षा सुथने में थोड़ा कपड़ा लगेगा। परन्तु उसे पहने देखकर प्रयाग में महादेवीजी ने हँसकर कहा, "पाजामा पहने आप नेता-जैसे लगते हैं।" घर आकर मैंने अपने सबसे छोटे भाई चारुशीलाशरण से, जो हम लोगों के लिए खादी का प्रबन्ध करते हैं, कहा, "सुथना नहीं चलेगा। महादेवीजी रुष्ट होती हैं।" महादेवीजी ने मुझे नेता तो न बनने दिया, परन्तु कठिनाई हुई उस दिन जिस दिन झाँसी में अपने प्रदेशपाल किंवा गवर्नर महोदय की पार्टी में सम्मिलित होने का अवसर आया। मैं उस सौभाग्य से वंचित ही

रह जाता, यदि तत्र भवान् मुझे धोती पहनकर आने की आज्ञा देने की कृपा न करते ।

स्मरण आता है, विद्यारम्भ के प्रारम्भिक दिनों में एक-दो बार सियारामशरण को पाठशाला तक पहुँचा आने में मैंने उनके अभिभावक होने का अभिमान किया था । मानो मैं स्वयं सब-कुछ पढ़-पढ़ाकर अब अपने छोटे भाई की देख-रेख में लगा हूँ ।

उन दिनों प्रारम्भिक पाठशालाओं में दोनों समय पढ़ाई होती थी। प्रातः-काल अचार के साथ पूरी का कलेवा करके जाना, दोपहर को भोजन के लिए आना और संध्या को छुट्टी पाना । परन्तु तब भी छुट्टी कहाँ थी ? रात को भी पण्डितजी पढ़ाने आते थे । यही क्रम तो सियारामशरण का भी रहा । कलेवे में हम लोग बहुधा बासी पूरियों का सेवन करते हैं और वह हमें रुचिकर भी होता है । कहते हैं, एक बार गुरुदेव के पूरी खाने पर बापू ने उनसे कहा था, "यह तो विष है ।" गुरुदेव ने हँसकर उत्तर दिया, "परन्तु यह ऐसा विष है, जिसका हमारे शरीर को अभ्यास हो गया है ।"

आगे चलकर सियारामशरण उन साप्ताहिक और मासिक पत्रों को भी उलटने-पुलटने लगे जो उन दिनों हमारे यहाँ आया करते थे । विशेषकर 'सरस्वती' के लिए वे बहुत उत्सुक रहा करते थे । अन्य आकर्षणों के साथ उसमें मेरे पद्य भी छपा करते थे, जिनमें से अधिकांश उनको कण्ठस्थ हो जाते थे ।

प्राइमरी पाठशाला की पढ़ाई पूरी करके आगे पढ़ने का सुयोग वे न पा सके । कह नहीं सकता, इसमें हमारी अर्थकृच्छता कितनी आड़े आयी थी । उन दिनों हमारे छोटे कक्का थे, पहले से ही घर का सारा भार उन्हीं पर था । वे ऐसी बाधा से हार मानने वाले न थे । तथापि यह ठीक है कि हमारी झाँसी की दुकान का काम-काज बन्द हो गया था । सियारामशरण की देखभाल करने वाला कोई विश्वासी जन वहाँ न था । हाईस्कूल में उन दिनों बोर्डिंग भी न था । होता भी तो उसमें उनका रखना सम्मानजनक न समझा जाता । जिस स्कूल के बनने में हमारे घर से अधिक दान दिया गया था, उसमें उनका इस प्रकार रहना कदाचित् हीनतासूचक समझा जाता । इसके पूर्व उस स्कूल में पढ़ने के लिए मैं झाँसी भेजा गया था । परन्तु बहुत-सा धन नष्ट करके कोरा-का-कोरा लौट आया था अथवा लौटा लिया गया था । इस भय से कि शहर की संगति में कहीं आगे और भी न विगड़ जाऊँ । खेल-कूद तक तो कुशलता थी । इस प्रकार, सम्भव यही है कि परोक्ष रूप में, मैं ही अपने अनुज के शिक्षा-लाभ में बाधक बना ।

घर की प्रतिष्ठा के अनुकूल व्यापार के साधन न रह जाने से हम सभी भाई प्रायः बैठे ठाले थे। सियारामशरण साहित्य-सदन की कुछ लिखा-पढ़ी करने लगे। ठाकुरजी की पूजा का भार भी उन्हीं पर आ गया। हम लोगों को पान खिलाना भी उनका काम था। इसे अस्वस्थ होने पर भी वे आग्रहपूर्वक बहुत दिनों तक करते रहे।

साहित्य की ओर पहले से ही उनकी प्रवृत्ति थी। साहित्य-सदन का काम भी कितना था। सुतराम् रचना के लिए समय का अभाव उन्हें न था। परन्तु जैसा उन्होंने बाल्य-स्मृति में लिखा है, अपनी पद्य-रचना लेकर वे सीधे मेरे निकट नहीं आये। फिर भी यह एक ऐसी मिठाई थी जो अकेले-अकेले नहीं खायी जा सकती थी। यही नहीं दूसरों को खिलाकर ही इसमें तृप्ति मिल सकती थी। परन्तु भय-संकोच भी थोड़ा न था। मध्यकाल में हमारे संगीत और साहित्य की जो दशा हो गयी थी उसे देखते हुए लोग कला की कितनी ही प्रशंसा क्यों न करें, कलाकारों के प्रति उनकी वैसी आस्था नहीं रह गयी थी। जिस पथ में चरित्र के पतन की आशंका हो उसमें कौन गृहस्थ अपने घर के लड़के का जाना ठीक समझेगा। स्वयं कलाकार जब उघाड़ा होकर बाहर नहीं निकलता तब सहसा अपने मन का आवरण सबके सम्मुख क्योंकर हटा सकता है। अथवा कला एकान्त की ही साधना है। बाहर आये बिना यदि उसकी गति नहीं तो क्या आरम्भ में उसे संकोच भी न हो? प्रतिभा जब पागलपन की ही एक अवस्था मानी जाती है तब कौन अकस्मात् उसका प्रदर्शन करने से संकुचित न होगा? अपने कृतित्व की परीक्षा में उत्सुकता के साथ एक शंका भी रहती है। जो हो, मुझे एक सतीर्थ मिल जाने से संतोष ही हुआ। जितना सहयोग मैं दे सकता था मैंने उन्हें दिया। मेरे लिए इससे अधिक क्या संतोष होगा कि आज वह सहयोग हम दोनों में पारस्परिक हो गया है।

वस्तुतः मेरे सहयोग की सीमा कवित्व के ककहरे तक ही समझनी चाहिए। शीघ्र ही वे गुरुदेव की रचनाओं के सम्पर्क में आ गये और उनसे प्रभावित होकर उन्होंने अपना मार्ग निर्धारित कर लिया। यों तो अब भी उनकी रचनाएँ छपने से पहले एकाधिक बार मैं पढ़ लिया करता हूँ; परन्तु मेरे किसी संशोधन अथवा परिवर्तन को मान लेने के लिए वे बाध्य नहीं। यही उचित भी है।

पद्य के क्षेत्र से आगे बढ़कर उन्होंने गद्य में कहानियाँ और निबन्ध आदि भी लिखना प्रारम्भ कर दिया। इसमें एक दो सम्पर्कित लोगों से उन्हें जो सम्मतियाँ मिलीं वे आशाप्रद न थीं। परन्तु मेरा मन हर्षित और आकर्षित था।

मैंने उनसे कहा, "तुम्हें तनिक भी हतोत्साह होने की आवश्यकता नहीं। तुम्हारे इन समीक्षकों में एक अपने मन से और दूसरा अपनी बुद्धि से विवश है।"

अब तो उनमें इतना आत्म-विश्वास है कि वे अपने प्रकाशन के व्यवसाय को भी स्वार्थ के साथ परमार्थ का साधन मानते हैं।

साहित्य-प्रेस की स्थापना के विचार में भी वे ही अधिक उत्साही हुए। एक क्राउन फ़ोलियो ट्रेडिल लेकर ही कार्य आरम्भ करने की उनकी योजना थी। परन्तु जब मशीन लगाने का निश्चय हुआ तब वह भी मेरा एक व्यसन बन गया। थोड़े दिन हुए, उनके पुत्रोपम चि० राय आनन्दकृष्ण ने उनकी उस योजना का औचित्य शारदा-मुद्रण से सिद्ध कर दिया।

यौवन के आरम्भ में ही सियारामशरण को श्वास का दुर्द्धर रोग हुआ। बीच-बीच में उनका कष्ट देखकर हम लोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। किन्तु तनिक प्रकृतिस्थ होते ही वे कुछ लिखने-पढ़ने की चेष्टा करते हैं। इसी स्थिति में उन्होंने अपने आप अंग्रेज़ी का भी इतना अभ्यास कर लिया है कि वे उसके साहित्य का रस ले सकते हैं। कभी-कभी मुझे भी उसमें से कुछ देते हैं। बंगला तो वे अनायास ही पढ़ने लगे थे। परन्तु उर्दू के विषय में दाग़ की वह उक्ति उन पर पूरी-पूरी घटित हुई कि उर्दू खेल नहीं है, आते-आते आती है। एक बार बापू के निर्देशानुसार उन्होंने उसे सीखना चाहा था परन्तु अचानक रोग का दौरा हो जाने से काम रुका सो रुका। वस्तुतः उर्दू की चुलबुलाहट उनके स्वभाव से मेल नहीं खाती। जो लोग अच्छी हिन्दी लिखने के लिए उर्दू का जानना अनिवार्य बताते हैं, उनकी दृष्टि में वे दयनीय हैं। इसलिए कि ऐसे लोग हिन्दी का स्वतन्त्र अस्तित्व अस्वीकार करते हैं।

वे प्रायः भूमि पर सोते हैं। विशेषकर जाड़ों में। उनके आस-पास एक ओर कुछ पुस्तकें और दूसरी ओर बहुत-सी ओषधियाँ रहती हैं। आरम्भ में उन्होंने जलचिकित्सा आदि कितने ही प्राकृतिक उपचार किये। प्राणायाम करने की चेष्टा की और फेफड़ों के व्यायाम के लिए दस-बीस दिन स्वरालाप करते हुए भी मैंने उन्हें देखा। पहले वे संध्या समय घूमने जाते थे। अब आँगन में टहलकर ही उन्हें सन्तोष करना पड़ता है।

भोजन-सम्बन्धी प्रयोग वे अब भी किया करते हैं। इस विषय में उन्हें कोई विशेष रुचि अथवा आग्रह नहीं। पहले आम की खटाई उन्होंने साग की भाँति खायी है। अब मीठे आम खाने से भी वे डरते हैं। भोजन की भाँति वस्त्रों में भी वे साधारण हैं और खादी का ही व्यवहार करते हैं। उन्हें खेद है कि वे सूत नहीं कात पाते। रुई के सूक्ष्म तन्तु उड़-उड़कर श्वास नली में

जाने से उनके रोग बढ़ने का भय रहता है। वस्तुतः रुई से उन्हें छोटे से ही गिजगिजाहट लगती है। और रुई भरे कपड़ों की आवश्यकता वे कम्बल आदि से ही पूरी करते हैं। तनिक भी भारी वस्त्र ओढ़कर चलने में उन्हें कष्ट होता है। वे उसे सँभाल नहीं पाते। अण्डी की एक चादर से ही काम चलाते हैं। मैंने हठपूर्वक एक तूस ला दिया। उसका व्यवहार करने में उन्हें संकोच ही होता है। उनके रोग की अव्यर्थ ओषधि अभी तक नहीं निकली। पं० मोतीलाल नेहरू, आचार्य नरेन्द्रदेव, श्री किशोरलाल मश्रूवाला, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी और डॉ० राजेन्द्रप्रसाद के अनुभवों से भी उन्हें वैसा लाभ नहीं हुआ। इधर ओषधियों के विष से उनके शरीर की दशा और भी चिन्तनीय हो गयी है। श्री मश्रूवाला ने उन्हें बम्बई बुलाकर वहाँ उनकी चिकित्सा का प्रबन्ध कर देने की कृपा की है और इन दिनों वे वहीं हैं।

इस स्थिति में भी लोग उनसे अपने पत्रों के लिए लेख और कविता आदि भेजने के लिए आग्रह करते हैं और उनकी असमर्थता उनकी व्यग्रता को और भी बढ़ा देती है।

रोग ने उनका शरीर जर्जर कर दिया है; परन्तु उनका मन मानो और भी निखरकर खरा और सतेज होता जान पड़ता है। वे कभी निराश नहीं होते। आश्चर्य नहीं, यदि अपने समय के देशमान्य महानुभावों को भी अपने रोग से ग्रस्त देखकर उसे भी महत्त्व देते हों। प्रत्येक न्यूनता का एक विशेष पक्ष भी होता है, वे उसकी उपेक्षा नहीं करते। उसे भी बखानते हैं, खोटे में भी एक खरा खोजने का प्रयास करते हैं।

इदानीम् बम्बई की अपनी रोग-शय्या से उन्होंने अपने भतीजे श्रीनिवास की जन्मतिथि पर उन्हें असीसते हुए लिखा है—"ऐसी तिथियाँ आत्मचिन्तन के लिए होती हैं। परन्तु हम प्रायः भटककर यही सोचने लगते हैं कि हमारी ये आकांक्षाएँ पूरी नहीं हुई और संसार ने हमारी ओर यथोचित ध्यान नहीं दिया। इसके स्थान पर इस बात का सन्तोष उचित है कि हमें बहुतों से अधिक मिला है, असन्तोष तो इसी का होना उचित है कि हित हमसे उतना नहीं हो पाया जितना होना था। मैं तुम्हें ये बातें उपदेश देने के लिए नहीं लिख रहा हूँ, इस अस्पताल में जब मैं श्वास की तीव्र वेदना से व्याकुल होता हूँ तब यही विचार शान्ति देते हैं। मैं अनुभव करता हूँ, मुझे जो भयंकर पीड़ा होती है उससे भी अधिक पीड़ित जन यहाँ हैं, उनकी पीड़ा की अनुभूति निज की पीड़ा का शमन करती है।"

जिन दिनों हम लोग राजबन्दी के रूप में कारारुद्ध थे, उन दिनों न जाने

वे कैसे अपनी व्याधि भूल-से गये थे और शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार के भार सह गये थे। इस स्थिति में दुःख के बदले दर्प ही उनमें प्रकट हो गया था।

मैं ठीक नहीं कह सकता, गुरुदेव और बापू दोनों में वे किससे अधिक प्रभावित हुए। परन्तु यह स्पष्ट है कि उनके लिखने की शैली अलंकृत भाषा की दृष्टि से गुरुदेव की अनुयायिनी है और उनके भाव बापू के अनुयायी हैं। बापू का सामीप्य तो उन्हें अनेक बार प्राप्त हुआ, परन्तु इच्छा रखते हुए भी वे शान्तिनिकेतन नहीं पहुँच सके। उन्हें इसका दुःख अब भी है।

उस बार हिन्दुस्तानी सम्मेलन में आहूत होकर वे वर्धा गये थे। सम्मेलन के उनके अनुभव अच्छे न थे। परन्तु वे वस्तुतः बापू के लिए ही वहाँ गये थे। अतएव उनकी यात्रा सफल थी। अन्तिम दिन चलने के पूर्व जब वे बापू को प्रणाम करने गये तब वहाँ नन्दिनी नाम की एक बालिका को थपथपाकर उन्होंने उससे कहा—बेटी नन्दिनी, अब बापू तेरा नाम खुशहाली रखने जा रहे हैं। इसे सुनकर उनकी ओर मुष्टि प्रहार का अभिनय करते हुए बापू हँस पड़े।

इन्दौर के साहित्य-सम्मेलन में भी वे वर्धा से ही बापू के साथ गये थे। एक दिन वहाँ का कृषि-विभाग देखने भी गये। जहाँ खाद बनाया जाता था, वहाँ पहुँचकर उन्हें ऐसा जान पड़ा, मानो हम नरक में आ गये हैं। उनका कहना है, कई दिनों तक वहाँ की दुर्गन्धि हम लोगों के माथों में छायी रही। परन्तु बापू का एक बार नासा संकोच भी नहीं हुआ! इन्द्रियों पर उनका यह अधिकार अद्भुत था। इसी प्रसंग में उन्होंने एक घटना और भी सुनायी थी। वहाँ सेठ हुकमचन्दजी ने बहुत-से लोगों को भोजन का निमंत्रण दिया था। सबके लिए चाँदी के थाल कटोरे आदि तो थे ही, बा और बापू के लिए सोने के थाल सजाये गये थे। जब बापू अपनी मण्डली के साथ वहाँ पहुँचे तब दिखाई पड़ा सेठजी ससंभ्रम कह रहे थे 'अरे लाओ रे!' कक्ष में प्रविष्ट होते-होते बापू ने हँसकर कहा—क्या सोफे पर बिछाने के लिए खादी? इसी समय सचमुच एक सेवक एक खादी का टुकड़ा लिये वहाँ आ पहुँचा। सियारामशरण को लगा, एक ओर इतना वैभव और एक ओर टुकड़े का ऊहापोह! सेठजी के खादी बिछाने के पहले ही बापू मखमली सोफे पर बैठ गये; परन्तु भोजन उन्होंने सोने के थाल में स्वीकार नहीं किया। अगत्या मीरा बहन को उस पर बैठाया गया। अन्त में सेठानीजी गुड़ परोसने आयीं। सेठ हीरालालजी ने सियारामशरण से कहा—"ये हमारी माताजी हैं।" सबने प्रसन्नतापूर्वक वह प्रसाद ग्रहण किया।

सियारामशरण की इच्छा रही है कि कुछ बालकों को लेकर उन्हें रचनात्मक शिक्षा देने के लिए एक छोटी-सी संस्था चलायी जाय। इसके लिए उपयुक्त स्थान की बात भी उन्होंने सोची। परन्तु उनके स्वास्थ्य ने साथ न दिया। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के कुछ दिन पहले यहाँ के गणेशशंकर हृदय-तीर्थ का शिलान्यास करने के लिए कृपापूर्वक पं० जवाहरलालजी आये थे। तब पंडितजी से भी उन्होंने कहा था कि कुछ युवकों को अपने आदर्श के अनुरूप शिक्षित करने का समय आप निकाल सकें तो बड़ा अच्छा हो। पंडितजी सुनकर मुस्करा गये। वे पहले ही बहुत व्यस्त थे। यह तो भावी पीढ़ी का काम है कि उनका आदर्श अपनाकर उसकी रक्षा करें!

महायुद्ध के समाचारों में रेडियो द्वारा दोनों ओर से बमबारी का बखान सुन-सुनकर सियारामशरण के मन में जो प्रतिक्रिया हुई उसी का परिणाम उनका 'उन्मुक्त' है। जिस सामूहिक हत्या के लिए दोनों पक्षों को लज्जा होनी चाहिए थी, उसी पर वे घमण्ड करते थे। वह भी विश्व-शान्ति के नाम पर। अपने 'नकुल' काव्य में सियारामशरण ने जो लिखा है वह भी इस प्रसंग में स्मरणीय है:

मुझको तो विश्वास नहीं है रंचक इसमें,
देंगे कैसे अमृत बुझे स्वयमपि जो विष में।

बिना अभियोग आघात किये उदात्त भावों की अभिव्यक्ति किस प्रकार हो सकती है, 'नकुल' के युधिष्ठिर में मानो इसका प्रमाण उन्होंने दिया है। औद्धत्य की अपेक्षा विनय में निजत्व की रक्षा कठिन होती है। 'नकुल' में मनुष्य की उदार परम्परा की अक्षयता का अपना विश्वास भी उन्होंने प्रकट किया है। परन्तु कुबेर के सेवक का जो चित्रण उन्होंने किया है उसमें एक स्थान पर उनसे मेरा मतभेद रहा है।

देश में इतनी बड़ी घटना घट गयी, हम लोग परचक्र में पिसने से मुक्ति पा गये और भारत स्वतन्त्र हो गया। परन्तु हमने उसका महत्त्व नहीं समझा। इससे उन्हें पीड़ा होती है कि अपना कर्तव्य निभाना तो दूर, हम अपने अधिकारी नेताओं पर उलटा व्यंग्य विद्रूप करते हैं। उनके मत में कठिनाइयाँ स्वाभाविक हैं। आगे चलकर वे स्वयं दूर हो जाएँगी। हमारी दासता के दोष मिटते-मिटते मिटेंगे। जो लोग स्वयं कुछ नहीं करते अथवा जो अपनी ही बात में रहते हैं वे ही दूसरों के द्वारा हथेली पर उगायी सरसों देखना चाहते हैं। स्वार्थी, व्यवसायी और राज्य के सेवक जब ऐसी-वैसी बातें करते हैं तब बहुधा वे उत्तेजित हो उठते हैं। वे बहुत विनीत हैं परन्तु अपनी बात कहने का

साहस उनमें है। एक बार किसी प्रसंग में सहसा वे मुझसे कहने लगे, "तुम तो कभी-कभी बापू के विरोधी पक्ष के स्तर पर उतरकर बोलने लगते हो।"

श्री सुभाषचन्द्र बसु जब उत्तर प्रदेश में दौरे पर चिरगाँव पधारे थे, उसके कुछ ही पहले बंगाल में गांधीजी के साथ दुर्व्यवहार किया गया था। अपने स्वागत-भाषण में सियारामशरण ने सुभाष बाबू से उसका प्रायश्चित्त करने की माँग की थी। उनके उस भाषण की उन दिनों बहुत चर्चा हुई थी। कुछ लोगों ने उसे मेरा भाषण समझ लिया था। मैं उन दिनों काशी में था। एक दिन एक सज्जन ने मार्ग में भेंट हो जाने पर मुझसे कहा, "अरे गुप्तजी आप कब आ गये? अभी तो चिरगाँव में सुभाष बाबू का स्वागत-भाषण पढ़ रहे थे।" मेरे बड़े होने का यह लाभ था और सियारामशरण का छोटे होने का त्याग।

दिल्ली के बिरला-भवन में, जहाँ बापू की हत्या हुई थी, वे जिस भाव से गये थे उसके विपरीत बातें देखकर उन्हें बड़ी चोट लगी। श्री घनश्यामदास बिरला से इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा-पढ़ी की। उनकी आशा के विरुद्ध घनश्यामदासजी ने उनकी सद्भावना इस रूप में ग्रहण की कि अपने नाम लिखे गये उनके पत्रों के प्रकाशन की अनुमति भी उन्होंने नहीं दी। अपनी 'अंजलि और अर्घ्य' नाम की रचना में बापू की निधन-भूमि के विषय में भी मैंने दो पंक्तियाँ लिखी थीं। मैं समझता था इससे सियारामशरण को सन्तोष होगा परन्तु उन्होंने उस पद्य को न रखने के लिए कहा। उनकी भावना होगी कि हमारा श्राद्ध-कर्म क्षोभ-रहित होना चाहिए। परन्तु जहाँ गोडसे का नाम लेना पड़ता है, वहाँ बिरला-भवन का नाम क्यों नहीं लिया जा सकता। फिर भी वह पद्य निकाल लिया गया।

वे नये विचारों से कभी नहीं घबराते। उनका स्वागत करके उनसे परिचित होने के लिए प्रस्तुत रहते हैं। फ्रायड के मनोविज्ञान के विषय में भी उन्होंने थोड़ा-बहुत पढ़ा है। और अपने सम्बन्ध में उसकी कुछ बातें मिलती हुई पाकर वे उससे प्रभावित भी हैं। एक दिन वे अपने एक मान्य बन्धु से इसी विषय पर उत्साहपूर्वक चर्चा कर रहे थे। वे बन्धु भी फ्रायड के एक प्रेमी पाठक थे। उन्होंने कहा, "एक बार रात को सोते समय मुझे पीने को जो दूध मिला उसमें शक्कर के स्थान पर नमक पड़ा था। इसका कारण मेरी समझ में यह आया कि मेरी गृहिणी मुझे शक्कर नहीं देना चाहती थी। इसलिए बिना जाने ही उन्होंने शक्कर के स्थान पर नमक लेकर दूध में डाल दिया।" इस सूक्ष्म विश्लेषण पर मुझे हँसी आ गयी। मैंने कहा, "बधाई है तुम्हें, इस मनोविज्ञान

पर !" मेरे बन्धु पर्याप्त हृष्ट-पुष्ट हैं और उन्हें मधुमेह-जैसा कोई रोग भी नहीं है। शक्कर भी उन दिनों ऐसी दुष्प्राप्य न थी।

मेरे इष्ट-मित्रों से उनका व्यवहार मेरे सम्बन्ध के अनुरूप रहता है। जिन्हें मैं अपना बड़ा मानता हूँ उनका तो कहना ही क्या! जिनसे मेरा समानता का व्यवहार रहता है उन्हें भी वे अपना बड़ा मानते हैं और मेरे छोटों से समानता का व्यवहार करते हैं। मतभेद होने पर भी उनसे कोई असन्तुष्ट नहीं रहता। जैनेन्द्रजी जब यहाँ आते हैं तब मैं चाहता हूँ दोनों की लड़ाई हो और मैं कौतुक देखूँ!

कविता के संशोधन लेकर ही नहीं, अन्य बातों में भी मेरे और सियारामशरण के बीच मतभेद हो जाता है और यदा-कदा विवाद भी। निरन्तर एक साथ रहने से ऐसा होना स्वाभाविक है। किन्तु वे मुझसे इतने कभी नहीं झगड़ते जितना मैं स्वयं अपने अग्रज से लड़ बैठता हूँ। व्यवहारतः भरसक वे मेरे मतानुकूल ही चलना चाहते हैं, यद्यपि पूछने पर अपना मत भी नहीं छिपाते। आर्थिक विषयों में वे अपनी रुचि नहीं दिखाते।

अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्

वाक्य की विद्या वाली चिन्ता उन्होंने अपने लिए चुन ली है, अर्थ वाली हम लोगों पर छोड़ दी है। धन-सन्तान की वृद्धि का आशीर्वाद ही बड़ा आशीर्वाद माना जाता है। उसके अनुसार उक्त बन्धु-जैसे विचारक औरस सन्तान के अभाव के कारण ही धन के प्रति उनकी उदासीनता मान सकते हैं। परन्तु इसके विपरीत अगणित प्रमाण दिये जा सकते हैं। वास्तव में लोगों की सहज प्रवृत्तियाँ ही उन्हें परिचालित करती हैं।

उन दिनों की रीति के अनुसार छोटी ही अवस्था में सियारामशरण का ब्याह हुआ था। उनके श्वसुर लखपती तो थे ही, उस कन्या के पश्चात् उनको और कोई सन्तान नहीं हुई। वे चाहते तो सहज ही हमारा उपकार कर सकते थे। परन्तु धन तो हमारे हाथ न रहकर हमारे उत्तमर्णों के हाथ चला जाता। अन्त में जिस लड़के को उन्होंने गोद लिया था वह तो अब नहीं है, परन्तु उसके दो पुत्र हैं और हम लोगों से उनका सौमनस्य भी है।

हमारे एक मित्र अपने दुर्दिनों की बात सुनाते थे। आषाढ़ ऊपर था और उनका बैल अचानक मर गया। उनके श्वसुर धनी थे। वे वृद्ध भी थे और एकाकी भी। परन्तु हमारे मित्र की दस-बीस रुपये की सहायता भी उन्होंने नहीं की। भले ही कुछ दिन पीछे स्वयं उन्हें बुलाकर अपना सेरों चाँदी-सोना सौंप दिया और अपनी जमींदारी आदि भी उनके पुत्र के नाम कर दी। पाँच-

सात वर्ष पूर्व मेरे एक भतीजे चि० सुमित्रानन्दन को भी अपने मामा का एक गाँव मिला था, परन्तु हमारा संकट तो प्रभु की कृपा से ही कटा।

सियारामशरण को कई बच्चे हुए परन्तु कोई भी न रहा। मेरी 'नक्षत्र निपात' और 'मेरे आँगन का एक फूल' नाम की रचनाएँ उन्हीं के दो बच्चों के सम्बन्ध में लिखी गयी थीं। उनमें से एक बच्चा अब भी दौड़कर मुझे अपनी ओर आता दिखाई पड़ता है। अन्त में उनकी स्त्री भी न रहीं। उस समय उनकी अवस्था इतनी न थी कि वे दुबारा दारपाणिग्रहण न कर सकते। परन्तु वे सहमत न हुए। उनकी बाधा-व्यथा का विचार करके हम लोग भी आग्रही न हो सके। उनकी रचनाएँ ही उनकी सन्तति हैं। और आक्रोश करने से क्या?

घर में लड़के-बच्चे उन्हें बापू कहते हैं। आगे अपने राष्ट्रपिता के नाम-साम्य की नाममात्र की यह महत्ता भी उनके मन को प्रभावित करती रही हो तो यह असम्भव नहीं।

शैशव में हम सबने पिताजी से रामचरितमानस की नाम-महिमा और 'नीलाम्बुजश्यामलकोमलांगम्' आदि कुछ संस्कृत श्लोक सीखे थे। सियारामशरण ने एक बात और न जाने कहाँ से सीख ली थी। वे कहा करते थे, "हम तो गुफा में बैठकर तपस्या करेंगे।" हमें लगता है, वे वही कर रहे हैं!

भैया का गृहस्थ-जीवन

[श्री चारुशीलाशरण गुप्त]

झाँसी और कानपुर के बीच में कानपुर वाले मार्ग पर बड़ागाँव नाम का एक गाँव है। वहाँ देवकीनन्दन कारेखिमऊ की एक मात्र सन्तान केशरबाई के साथ धूमधाम से भैया का, उस समय के अनुसार, बालविवाह हुआ था। कानपुर के कारीगरों ने आकर आतिशबाजी और फुलवारी बनायी थी; बड़ागाँव के दारोग़ा ने अपनी शान दिखाने के लिए बारूद निश्चित स्थान से हटवाकर अलग लगवा दी थी। बरात के साथ पिताजी जब वहाँ पहुँचे तब खिन्न हुए; उन्होंने उसे फिर पूर्व-निश्चित स्थान पर लगवा दिया और बेचारा दारोग़ा कुछ न कह सका। बरात में झाँसी के कुछ अधिकारी भी आये थे। यों यह वह समय था जब गाँव का दारोग़ा गवर्नर से न्यून नहीं होता था।

भैया के ससुर अच्छे धनी गिने जाते थे। तीन-चार गाँवों में उनकी ज़मींदारी भी थी। सोना-चाँदी भी यथेष्ट था। उनका विचार था कि विवाह के कुछ दिन पश्चात् जमाई को अपने ही यहाँ रख लेंगे। परन्तु यह उनका भ्रम ही था। अर्थ के लोभ पर हमारा सम्मान ही विजयी रहा। अन्त में मरने से कुछ पूर्व निराश होकर वे एक लड़के को अपना उत्तराधिकारी बना गये।

उनकी विधवा दुःखित भी रहीं, परन्तु जो होना था वह हो चुका था। वे चाहती थीं कि बीच-बीच में भैया वहाँ जाकर रहें। एक दिन उन्होंने अपने किसी जन से सन्देश भेजा कि भैया थोड़ी देर के लिए ही हो जाएँ। उन दिनों नौ मील जाने के लिए साइकिल ही ऐसा साधन था जिससे जाकर शीघ्र लौटा जा सकता था। भैया प्रातःकाल डाक लेने स्वयं जाया करते थे। एक दिन डेढ़ दो घण्टे लेट होकर डाक मिलने वाली थी। इस बीच वे साइकिल से ससुराल पहुँचे। सास की प्रसन्नता स्वाभाविक थी। उन्होंने प्रेम से कुछ खिला-पिला कर अन्त में कहा—'मैं तुम्हें कुछ दे सकूँ, देना चाहती हूँ, उससे तुम कोई व्यवसाय करोगे तो मुझे सन्तोष होगा। मेरे पास अपना धन बहुत नहीं है, पर तुम उसे अस्वीकार न करना।'

उनके उक्त प्रस्ताव के उत्तर में भैया ने घर के गुरुजनों की अनुमति लेकर उसे स्वीकार कर लिया। प्रथम बार सन् १९१० के प्रारम्भ में प्रयाग प्रदर्शनी में ट्रेडिल मशीन पर छपाई होती उन्होंने देखी थी। वहीं से प्रेस करने का निश्चय उनके मन में आया था। अतएव अनेक वर्ष के शुभ संकल्पित प्रेस की स्थापना के अपने पवित्र कार्य का, उनकी अर्पित धन-राशि से, भैया को श्रीगणेश करना उपयुक्त और रुचिकर जान पड़ा था। चिरगाँव जैसे छोटे-से गाँव में मुद्रण-प्रकाशन-सम्बन्धी भविष्य की कठिनाइयाँ कम करने में उनके इस कार्य के सूत्रपात ने विशेष रूप से सहायता पहुँचायी।

ट्रेडिल मशीन देखकर प्रेस खोलने के निश्चय के प्रायः दो-तीन वर्ष पूर्व का भैया का एक प्रसंग स्मरण आ रहा है। अपने पड़ोसी स्वर्णकार सुहृद के साथ छपाई के काम आने वाले अक्षर की, सीसे की, विपरीत आकृति बनाने के प्रयोग में वे एक दिन तल्लीन थे। अक्षर के विपरीत आकार का उभार स्पष्ट हो सका है क्या, चर्चा-मध्य मेरे आ पहुँचने पर सहयोगी मित्र से संकेत से, "देखो, चारुशीला", कहकर उन्होंने वह परीक्षण अविलम्ब ओट में पहुँचा दिया था। अपने बाल्य स्वभाव के वशवर्ती होकर सीसे के अक्षर ढालने के परीक्षण के इस रहस्य को गुरुजनों के समक्ष मैं कहीं प्रकट न कर दूँ, ऐसी आशंका उन्हें उस समय रही होगी। उनके इस प्रयोगात्मक प्रसंग का स्मरण आने पर यह लगता है कि प्रेस खोलने का विचार सन् १९१० की प्रयाग-प्रदर्शनी देखने के पूर्व ही से शायद उनके मन को आलोड़ित करता रहा था।

हमारी भाभी काम-काज और व्यवहार-बर्ताव में भी कुशल थीं। ये गुण उनमें जन्मजात थे, शिक्षा-जन्य नहीं। वे हम लोगों को बड़े स्नेह से परोसकर खिलाती-पिलाती थीं। सन्ध्या समय अवकाश देखकर भैया के निर्देशानुसार मैं उन्हें अक्षराभ्यास कराने का प्रयत्न करता था। अटक-अटककर स्कूल की प्रारम्भिक पुस्तकें ही वे पढ़ सकीं। परन्तु स्त्री-शिक्षा का वैसा वातावरण न होने से पढ़ाई का काम आगे न बढ़ सका। भैया भी उन्हें पढ़ाते तो कैसे, जब घर की काकियों और भाभियों की उपस्थिति में अपनी पत्नी के हाथ से भोजन परोसवाना और उनसे सम्भाषण करना पुरानी परम्परा के अनुकूल न था।

हमारे एक सम्मान्य नागरिक अपने घर की स्त्रियों के साथ आकर हमारे यहाँ ठहरे थे। सवेरे भाभी ने स्त्रियों के पास जाकर उनसे कहा, 'उठिए, निस्तार करके पहले जलपान कर लीजिए।' अतिथि की स्त्री शौच जाने के अर्थ में 'निस्तार' शब्द सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुई। भाभी ने कहा—'हम लोग तो गाँव के वासी हैं, आपके समान कैसे बोल-बतिया सकते हैं।' परन्तु आज भाभी

होतीं तो देखतीं कि हम लोग भी अपनी गाँव की भाषा को भूलते जा रहे हैं और न ग्रामीण ही रह जाते हैं, न नागरिक ही हो पाते हैं।

सन् १९०५ में रामनवमी के दिन हमारी माताजी का देहान्त हुआ था। हम सब लोग उनके निकट थे। भैया को इस बात की भी पीड़ा हो रही थी कि माताजी का ध्यान हम लोग अपनी-अपनी ओर आकर्षित करके उनकी शान्ति में बाधक तो नहीं हो रहे हैं।

प्रातःकालीन प्रथम सूर्य की किरणों के साथ भैया को छींकों की एक लड़ी-सी आती रहती थी। हमारी मझली काकी को इससे उनके भावी रोग की आशंका होती थी। वैसे तो हमारी मझली काकी एकाकी स्वभाव की थीं, परन्तु रोगदोष में वे बहुत ही ममता के साथ हमारी सेवा-सँभाल किया करती थीं। भाभी में भी यह गुण था। मुझे भयंकर रूप में टाइफाइड हुआ था, तब स्वयं अस्वस्थ होते हुए उन्होंने मेरी बड़ी परिचर्या की थी।

अपने माता-पिता के साथ वे वृन्दावन की तीर्थयात्रा पर गयी थीं। वहाँ के एक सरोवर में स्नान करते हुए उनका पैर फिसल गया और वे पानी में डूब गयीं। कोलाहल होने पर एक साधु ने कूदकर किसी प्रकार उनका उद्धार किया। फिर भी पेट में पानी भर जाने से उनके जीवन की आशा न रह गयी थी। उपचार से प्राण तो बच गये, परन्तु जीवन-व्यापी रोग उनके फेफड़ों में बस गया।

उनके यथाक्रम चार बच्चे हुए और अन्त में एक लड़की हुई थी, परन्तु कोई भी न जिया। अन्तिम बालक कोई तीन वर्ष की आयु तक जीवित रहा। यह परिवार और परिवार के बाहर भी बहुतों का वात्सल्य-भाजन रहा। दद्दा की 'पुष्पांजलि' नाम की कविता उसी की मृत्यु पर लिखी गयी थी। 'नक्षत्र-निपात' रचना उसके बड़े भाई के निधन पर लिखी गयी थी जो डेढ़-दो वर्ष की आयु में ही चल बसा था। उक्त दोनों रचनाओं का हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अपना एक स्थान है।

भाभी को अन्त में क्षय हो गया था। उपचार से पहले तो वे स्वस्थ होती हुई-सी जान पड़ीं परन्तु १९२२ की जाड़ों की एक रात में बोलते-बोलते उनकी मृत्यु हो गयी। भैया ने ऊपर तो अपना दुःख प्रकट नहीं किया, परन्तु 'विषाद' काव्य-रचना से उसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

अपनी दिल्ली की इस अन्तिम यात्रा पर जाते हुए भैया ने मुझसे उनकी निधन-तिथि पूछी थी और कोई बात इस सम्बन्ध में उन्होंने मुझसे नहीं की।

भाभी की मृत्यु के पश्चात् उनकी अन्तिम सन्तान तीन वर्ष की आयु की उर्मिला बेटी एक वर्ष तक और जीवित रही। वह बड़ागाँव में थी। जिस दिन भैया झाँसी से चिरगाँव आ रहे थे, बीच में एक रात वहाँ रुक गये थे। भैया को देखकर बेटी अत्यन्त हर्षित हुई थी। बीमार न थी, किन्तु दूसरे दिन भैया जब चिरगाँव लौट रहे थे उसी समय बेटी ने प्राण छोड़ दिये। घटना ने भैया को मर्माहत किया। 'आर्द्रा' नामक उनकी काव्य-पुस्तक में बेटी को लक्ष्य करके जो कारुणिक कविता 'हूक' पाठक पढ़ेंगे, उससे उनके उस आकस्मिक दुःख की अनुभूति स्वयं उन्हें होगी।

सियारामशरणजी के व्यक्तित्व-सूत्र

[डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, डी० लिट्०]

श्री सियारामशरणजी से कई वर्ष हुए मेरा घनिष्ठ परिचय हुआ और वह निरन्तर गाढ़ा होता गया। मैं साहित्य-सदन में श्री गुप्तजी से परिचित होने गया था। उसी तीर्थ-दर्शन की सांहित दक्षिणा में मुझे सियारामशरणजी प्राप्त हुए। झबरे बालों से ढका हुआ चौड़ा सिर, ढलवाँ ललाट के नीचे दो चमकते नेत्र, मुस्कराता बदन, साँवला रंग, मँझली अंगलेट और रोगों से जूझते हुए भी परास्त न होने वाला शरीर का ठाठ—यही सियारामशरणजी हैं, जो प्रथम दर्शन में टकसाली साहित्यिक की अपेक्षा परिचित आत्मीय से अधिक जान पड़ते हैं।

उनकी बाल-सुलभ सरलता, हँसतामुखी रहन-सहन, बहुमुखी रुचि एवं दूसरों के साथ गहरी आत्मीयता में बँधने की क्षमता ने आरम्भ से ही मेरे मन पर बहुत प्रभाव डाला। वे वार्तालाप में रस लेते हैं, कवि और उपन्यासकार का भावुक हृदय सचाई से मित्रों के सामने उँडेल देते हैं, मतभेद प्रकट करने में भी सौम्य स्थिति से नहीं हटते।

प्राचीन के प्रति वे आस्थावान् हैं, साथ ही नूतन के प्रति उनके हृदय में स्वागत का भाव है।

नर की प्रतिष्ठा के वे भक्त हैं और मानवोचित गुणों की व्याख्या और जीवन में उनकी प्राप्ति को ही वे व्यक्ति और समष्टि का ध्येय मानते हैं।

साहित्य उनके जीवन में रम गया है। पारिवारिक सुख में फैलने वाले रस-तन्तु उनके लिए साहित्य की कृतियों में भर गये हैं। यही रस-धारा उनको मानो जीवित रखती है।

चिरसाथी के रूप में मिले हुए श्वास-रोग से उन्होंने एक प्रकार का समझौता कर लिया है, ऐसा लगता है कि उसका अवसाद उनकी बलवती प्राणधारा से पराजित होकर ही उनके अनुभव तक पहुँचता है।

साहित्य-सदन के उस विशाल प्रांगण में जहाँ श्रद्धेय मैथिलीशरणजी के लिए दैवी विचारों के अनेक विमान उतरे हैं, सियारामशरणजी एक वरदान की

तरह हैं जो अपनी उपस्थिति-मात्र से उस स्थान के आनन्दी निर्झर को सतत प्रवाहित रखते हैं। राम के चिरबन्धु लक्ष्मण की तरह उनकी सार्थकता है। गुप्तजी-रूपी वटवृक्ष की सन्निधि में पनपने पर भी उनका अपना व्यक्तित्व है जो उनकी बहुविध साहित्यिक कृतियों में प्रकट होता रहा है।

गांधी-विचार-धारा का उन पर प्रभाव पड़ा है। अथवा कहना चाहिए कि युग-पुरुष की वाणी को भली प्रकार हृदयंगम करके उसे पल्लवित व्याख्या के साथ उन्होंने साहित्य में पिरोया है!

भारतीय लोक-जीवन की जो चिर-प्रतिष्ठा है, उसको अनुप्राणित करने वाले जो चरित्र के गुण हैं, जिनकी सूची वाल्मीकि ने अपने काव्य के आरम्भ में ही बतायी है, एवं इस देश की संस्कृति में जो उदात्त और तेजस्वी जीवन-तत्त्व है, उनमें सियारामशरणजी का मन रमता है। अपने साहित्य की यह पृष्ठभूमि जनपदों में बसने वाले जन-जीवन से उन्होंने प्राप्त की है।

मेरी बहुत दिनों से यह अभिलाषा रही है कि अंग्रेजी लेखिका जैन आस्टन ने अंग्रेज़ी देहातों के जनपदीय जीवन का जैसा अमर चित्र खींचा है, वैसा चित्र भारतीय जन-जीवन का भी किसी हिन्दी-लेखक की कृपा से हमें साहित्य में मिलता। सियारामशरण के 'नारी' उपन्यास को पढ़कर कुछ उसी प्रकार का सन्तोष मुझे प्राप्त हुआ था।

हर्ष की बात है कि सियारामशरणजी की साहित्यिक वेदी अभी निरन्तर प्रज्वलित है। अभी उन्होंने गीता और उपनिषदों के अनुवाद में मन लगाया है। आशा है, उनकी साहित्यिक गंगा के तट नये-नये तीर्थों से यशस्वी बनेंगे।

भैया

[डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी]

ओ दुःसह, तेरी दुःसहता, सहज सह्य हमको हो जाय।
तेरे प्रलय घनों की धारा निर्मल कर हमको धो जाय।
अशनि-पात में निर्घोषित हो
विजय-घोष इस जीवन का;
तड़ित्तेज में चिर ज्योतिर्मय
हो उत्थान-पतन तन का।
बन्धन-जाल तोड़कर सहसा
इधर-उधर के कूलों का,
तेरी उच्छृंखल वन्या में
पागलपन हो इस मन का।
निजता की संकीर्ण क्षुद्रता तेरे सुविपुल में खो जाय;
ओ दुःसह, तेरी दुःसहता, सहज सह्य हमको हो जाय।

[पाथेय]

जिसने श्री सियारामशरण को भयंकर रोग से जूझते हुए भी सदा-अम्लान सदा-प्रशान्त सहज रूप में नहीं देखा वह इस कविता का भाव बहुत थोड़ा ही समझ सकेगा। मैंने पहली बार उन्हें दिल्ली की एक साहित्य-सभा में देखा था। उनकी कविताओं का थोड़ा आस्वाद मुझे पहले मिल चुका था। परन्तु उनका व्यक्तित्व स्वयं किसी मनोहर काव्य से कम आकर्षक नहीं था। अत्यन्त सरल स्वभाव और अत्यन्त मर्मभेदिनी तीक्ष्ण दृष्टि—प्रथम दर्शन में ये दो बातें ही दर्शक पर अपना प्रभाव डालती हैं। उनके समूचे व्यक्तित्व में कहीं बनावट या कृत्रिमता नहीं है! सहज-सारल्य की तो वे प्रत्यक्ष मूर्ति हैं। एक बार दिल्ली की बड़ी सड़क पर हम लोग—मैं, श्री सियारामशरण और श्री चारुशीलाशरण जा रहे थे। भाई चारुशीलाशरणजी सियारामशरणजी को 'भैया' कहते थे और यह अत्यन्त प्यारा और घरेलू सम्बोधन मैंने उन्हीं से सीख लिया था। जवाब में 'भैया' ने भी मुझे 'भैया' कहना शुरू कर दिया था। लेकिन असली

भैया तो वे ही थे। सो, हम तीनों संध्या समय दिल्ली के प्रशस्त राजमार्ग पर जा रहे थे। तीनों गाँव के रहने वाले गँवार। 'भैया' तो चिरगाँव के रहने वाले 'चिर-गँवार'! रास्ता भूल गये। किसी से पूछना चाहिए था। एक नवदम्पति अपने नवजात पुत्र को गाड़ी में ठेलते, बातें करते जा रहे थे। भैया ने लपक-कर उनसे ही रास्ता पूछा। मैंने कहा—भैया, यह काम अच्छा नहीं हुआ। दम्पति जब इस प्रकार बातें करते जा रहे हों तो उन्हें छेड़ना शहर में अनुचित माना जाता है। आधुनिक शिष्टाचार का ध्यान हमें रखना चाहिए था। मैंने यह बात विनोद में कही थी लेकिन शिष्टता और सरलता की मूर्ति 'भैया' को लगा कि यह बुरा हुआ। पहले तो बोले कि नहीं इसमें हम लोगों से क्या अशिष्टता हुई है? पर बात उनके मन में जमी रही। अन्त में 'अज्ञेयजी' को आधुनिक शिष्टाचार का विशेषज्ञ समझकर पंच बनाया गया और जब उन्होंने भैया के थोड़ा अनुकूल निर्णय दिया तब जाकर उनके चित्त से कलक दूर हुई। भैया वैसे सरलता के अवतार हैं फिर भी मैं उन्हें 'सरल' नहीं कह सकता; क्योंकि इस सरल-सौम्य व्यक्ति की आँखें इतनी भेदक हैं कि वह कठिन-से-कठिन प्रश्नों के कठोर-से-कठोर आवरण को तोड़कर उनके भीतरी रहस्यों को आसानी से देख लेती हैं। श्रद्धा और समीक्षण शक्ति उनके सहजात गुण हैं। शब्दों के तोड़-मरोड़ और आटोप-संटोप से उन्हें नहीं भुलाया जा सकता, ऊपरी तड़क-भड़क से उन तीक्ष्णदर्शी आँखों को नहीं चौंधियाया जा सकता। पता नहीं ये दोनों गुण किस प्रकार उनमें एकत्र वास कर रहे हैं। अपना सहज वैर भूलकर कैसे वे एक ही आश्रम में स्थित हैं। शायद यह पूर्व-जन्म की किसी तपस्या के फल हों, शायद गुप्त-कुल की अपनी विशेषता हों या फिर शायद कठोर दुःख के भीतर से छनकर आयी हुई अद्‌भुत धैर्य-निष्ठा का प्रसाद हों। शायद तीनों का ही यह सम्मिलित परिणाम है। इस व्यक्ति को मैं सरस नहीं कह सकता। 'अहि-मयूर' 'मृगबाघ' को एक साथ नचाने वाला निपुण जादूगर है। वस्तुतः भैया सहज हैं, सरल नहीं। सरलता एकांगी होती है, सहजता सब-कुछ को आत्मसात् करने के बाद सबके निर्गलित रस का मधुर परिपाक है। वह तपस्या से प्राप्त होती है। कबीरदास ने एक बार झल्लाकर कहा था—

सहज-सहज सब कोई कहैं, सहज न चीन्हें कोइ।
जिन सहजैं बिषया तजी, सहज कही जैं सोइ॥

मेरे एक असाहित्यिक समझे जाने वाले मित्र ने मुझसे एक बार प्रश्न किया कि वह क्या बात है जो सियारामशरणजी में इतनी मधुरता बनाये रखती है। उनका श्वास-रोग बड़ा कठिन रोग है; शरीर अत्यन्त शीर्ण, फिर

भी मन में कहीं तिक्तता नहीं, व्यवहार में कहीं कटुता नहीं, स्वभाव में कहीं कठोरता नहीं। कोई बात ऐसी ज़रूर होनी चाहिए जो उन्हें सदा सरस, सदा उदार बनाये हुए है। कोई एक अदृश्य रसस्रोत, किसी कठोर विश्वास-शिला पर स्थित अमर निर्झर, कुछ तो होना ही चाहिए।

एक बार एक दुर्बल तपस्वी—अतेज, असम्बल—पशुत्व से लड़ने चल पड़ा। पशुता भयंकर थी। तपस्वी निस्सहाय था। फिर क्या—

देर लगती क्या कालधूममुखी ज्वालाएँ
होकर लयंकरी करालाएँ
आ गयीं समीप वज्रवेग भरीं
जाने किस क्रूरता के हर्ष मध्य हहरीं !
आगे बढ़, पीछे हट, खेल-खेल
हिंसा का प्रमत्त भार झेल-झेल
निगल गईं वे उसे हन्त एक छिन में;
अन्त हाय, अन्त एक छिन में !

बिलकुल स्वाभाविक बात है। सियारामशरण के अन्तर्यामी कवि ने ऐसा बहुत देखा है। पर इससे क्या पशुत्व को ही बड़ा मान लिया जाय !

कवि रे, अरे क्यों आज तेरे नेत्र गीले ये,
तेरे स्वर तार सभी ढीले ये ?
कैसी किस वेदना व्यथा से है व्यथित तू ?
उर में अशान्त उन्मथित तू ?
वायु का प्रवाह रुका तेरे धरातल में
ज्योति म्लान-सी है नभस्तल में
देख यह ऐसा अन्त ?

कवि को क्षण-भर के लिए इस मर्मन्तुद घटना से अभिभूत होना पड़ा है। पर यह अस्थायी प्रतिक्रिया है। यह उसका विश्वास नहीं है, यह उसके जीवन का स्थायी भाव नहीं है—

अन्त ! अरे कौन कहाँ कैसा अन्त ?
श्रीगणेश यह है नवीन के सृजन का
आद्यक्षर नव्य-भव्य जीवन का—
जिस के निमित्त सब धीर-धनी भिक्षुक हैं,
निखिल तपस्विजन इच्छुक हैं,
जिसकी शुभाशा लिये मन में
कितने प्रवीर परिश्रान्त हैं भ्रमण में,
नश्वरता जिसमें हुई है अविनश्वरता,
मृत्यु में हिली-मिली अमरता।

और फिर

हार कहाँ उसमें कहाँ है हार ?
अन्त के दिगन्त तक उसका महाप्रसार।
आज के ही आज में उसे न देख।
उसका विजय लेख
काल का तरंगोत्ताल माला में लिखित है
अगम अनन्त में ध्वनित है !
देह वह दुर्बल—उसी का लोभ ?—
उसके बिना ही तो पशुत्व का कराल क्षोभ
ईंधन-विहीन हतप्रभ है,
व्यग्र उसकी ही पुनः प्राप्ति हेतु अब है !

[बापू]

यही वह अमर उत्स है ! मनुष्यता की जय-यात्रा के प्रति अखण्ड विश्वास। यह जड़ संभार, ऊपर तड़क-भड़क, बाह्य आवरण, मिट जाते हैं ! ये स्थायी नहीं हैं। आज जो-कुछ घट रहा है उसका अन्त आज ही नहीं हो जाता। काल का तरंगोत्ताल प्रवाह एक है और अनन्त है। जो मर गया सो समाप्त नहीं हो गया। जो पशुता की कराल ज्वालाओं में जल गया वह भी अपना दान इस महाप्रवाह में दे जाता है। 'आज के ही आज में उसे न देख।'

× × ×

'भैया' सौम्य तपस्वी हैं। ज्ञान के प्रति इतनी सजग जिज्ञासा थोड़े ही साहित्यिकों में होगी। इन दिनों जबकि थोड़े में उतर जाने वालों से साहित्य इतना प्लावित हो गया है कि उसमें नये पौधों के निरन्तर सूखने की ही आशंका बनी रहती है, इस प्रकार का निःस्पृह, निर्मान, सत्य-निष्ठ साधक मिलना सौभाग्य की बात है। वे विज्ञापनों के चक्कर में नहीं पड़ते। सरस्वती की उपासना में इस प्रकार एकान्त निष्ठा आजकल दुर्लभ है।

हे ध्रुव-धीर, प्रकाश-ख्याति की
भला तुम्हें क्या चाह ?
दिग्भ्रान्तों को तम में भी तुम
दिखलाते हो राह।

[बापू]

सियारामशरण : मेरी नज़रों में

[श्री विष्णु प्रभाकर]

—दृश्य एक—

दिसम्बर १६३७ की बात है। मैं 'जीवन-सुधा' के सम्पादक भाई यशपाल से मिलने उनके कार्यालय में गया था। बातों-बातों में वे बोले—"सुनो, आज सियारामशरणजी आये हुए हैं।"

मैंने अचरज से कहा—"सियारामशरणजी यहाँ हैं!"

"हाँ! आओ, उनसे मिलकर जाना।"

मैं दुविधा में पड़ा—सियारामशरण जितने बड़े कवि, मैं उतना ही छोटा लेखक! न जाने क्यों मेरा जी नहीं किया। मैंने कहा—"मुझे काम है। कल आऊँगा।"

यशपाल बोले—"अरे, ऐसा भी क्या काम है, आओ।"

और मुझे जाना पड़ा। उनके बारे में तब तक मैं बहुत-कुछ पढ़ चुका था। 'विशाल भारत' में प्रकाशित उनका चित्र तो मुझे बहुत ही प्रभावशाली लगा था—उन्नत ललाट, उदार स्थिर दृष्टि और सबसे अधिक चेहरे का भोलापन! मैंने सोचा—कितना सुन्दर होगा यह कवि! और तब मैंने 'मृण्मयी' की, जो तभी प्रकाशित हुई थी, कविताएँ गुनगुनाते हुए उनके कई मनमोहक चित्र अपने मानस-पट पर खींच डाले। देखा—उनके उन्नत ललाट पर रामानन्दी तिलक है, सिर पर पतली-सी चोटी है, वे सफेद खद्दर का धोती-कुरता पहने हैं, उनकी आँखों में···तभी जीने में चढ़ते-चढ़ते यशपाल बोल उठे—देखिये, मामा जी, विष्णु आये हैं।

"आइए, आइए" की ध्वान हुई और मैंने देखा कि जैनेन्द्रजी सामने बैठे हैं। उनके पास ही उकडूँ-से बैठे एक वृद्ध पुरुष कोई पुस्तक या पत्रिका देख रहे हैं। आहट पाकर उन्होंने मेरी ओर देखा और मैंने उन्हें। सहसा मन में उठा—काल-चक्र के थपेड़े खाया हुआ यह व्यक्ति कितना थक गया है!······

ठीक इसी समय जैनेन्द्रजी ने कहा—"आप सियारामशरण हैं।"

बिजली-सी कौंधी। मैंने सँभलकर देखा—ये सियारामशरण···सियारामशरण यह! नहीं! यह तो उस चित्र की छाया भी नहीं। सिर पर रूखे, उलझे बालों का जंगल। मोटे-मोटे खद्दर का कुरता और घुटनों तक की धोती और शरीर जैसे जीवन-विहीन, किसी निर्विकार भार से दबा हुआ!

—दृश्य दो—

जैनेन्द्रजी ने दिल्ली में जो साहित्य-परिषद् बुलायी थी, उसकी घटना है। संचालक महोदय चाहते थे कि सभापति के समर्थकों में सियारामशरणजी का नाम रहे। उनसे प्रार्थना की गयी, लेकिन वे तो काँप उठे—हम···! लोगों ने तर्क किया—आपको केवल समर्थन करना है। लेक्चर नहीं देना। वे बोले—"हम तो कभी बोले ही नहीं। कैसे कहेंगे!"

और कहते-कहते वे जैसे काँप-से उठे!

मैंने सोचा—इतना बोदा, इतना कमजोर व्यक्ति! छि: छि:!!···

और उनसे मैंने कहा—"आप खड़े होकर केवल इतना कह दीजिए कि मैं सभापति-पद के लिए श्री मथ्रूवालाजी के नाम का समर्थन करता हूँ। बस!"

उन्होंने यही कहा और मैं देख रहा था—वे एक-एक शब्द पर काँप रहे थे, उनकी मुद्रा साफ-साफ कह रही थी—हम भी क्या इतने बड़े काम के योग्य हैं।

यह विनम्रता थी या आत्म-निषेध?

फिर उन दो-तीन दिनों में मैं कई बार उनके नज़दीक बैठा। बातें कीं, उन्हें देखा तब जाना कि यह जो व्यक्ति सियारामशरण इतना झुका हुआ लगता है, यह निर्बल का झुकना नहीं है, बल्कि यह उस शक्तिशाली का झुकना है जो अपनी शक्ति से बराबर इनकार किये जा रहा है और जो मानता है कि वह एक क्षुद्र, एक छोटा-सा नगण्य जीव है।

सियारामशरण भोले नहीं हैं। उन्हें कोई ठग नहीं सकता, परन्तु साथ ही वे भी किसी को नहीं ठग सकते। चाहें तब भी नहीं। वे इस विद्या में कोरे हैं। वे जो कुछ हैं, यह हैं कि उन्हें विश्वास है कि वे कुछ भी नहीं हैं और इसी नकारात्मक अस्तित्व में उनका बड़प्पन है। इसलिए उनकी क्रान्ति शान्त है और उनका विद्रोह विनयी है।

परन्तु अपने में उन्हें जितना अविश्वास जान पड़ता है, दूसरे में उतना ही विश्वास है। यह प्रकृति आत्म-दान से उपजी है। इसी से उनका अपने में इतना घोर अविश्वास अखरता नहीं है और दूसरों में विश्वास उनके प्रति श्रद्धा पैदा कर देता है।

सियारामशरण देखने में जैसे बीसवीं सदी में वैदिक युग के मॉडल जान पड़ते हैं, ऐसे ही उनकी प्रवृत्ति भी धार्मिक है। यह प्रवृत्ति कभी-कभी बड़ी उग्रता से जाग पड़ती है, पर उग्रता तो उनके स्वभाव में रह ही नहीं सकती। इसलिए ऐसे समय पीड़ा उन्हें घेर लेती है। बहन सत्यवती मल्लिक की ओर से दी गयी चाय-पार्टी में श्री 'अज्ञेय' ने फिल्म लेने का प्रबन्ध किया तो सियारामशरणजी की धार्मिक भावना जैसे तड़प उठी—"वात्स्यायनजी! यह क्या करते हैं आप?"

सियारामशरण ने अपने जीवन में बहुत कष्ट उठाये हैं। प्रियजनों के वियोग की मानसिक पीड़ा और चिरसंगी दमे की शारीरिक यातना ने उन्हें बरबस तपस्वी बना दिया है। परन्तु इस व्यथा के भार से दबकर वे इतने प्रेरणा और प्रोत्साहन से भर उठे हैं। निस्सन्देह उनके ये अभिशाप जग के लिए वरदान बन गये हैं। "जहाँ पीड़ा है वहाँ पवित्रता है।" यह प्रसिद्ध उक्ति सियारामशरण की जीवन-रूपी अनुसन्धानशाला में पूरी तरह प्रमाणित हो चुकी है। सियारामशरण विनयी इतने हैं कि यदि कोई उनकी ठीक बात में भी दोष निकाले तो वे मान लेंगे—ग़लती हो सकती है। क्योंकि वे मानते हैं, वे निर्भ्रान्त नहीं हैं; जो निर्भ्रान्त नहीं है वह कहीं भी ग़लती कर सकता है! और कोई उनसे कहे कि आपकी अमुक रचना बड़ी सुन्दर है तो क्या कहने वाला उनकी आँखों से बहने वाली तरल कृतज्ञता को सह सकेगा? लज्जा से उसकी आँखें स्वयं झुक जाएँगी। इतनी निश्छलता···इतना आत्म-दान लेकिन इतना कुछ देकर भी वे स्वयं छूछे रहते हैं।

× × ×

व्यक्ति सियारामशरण जितना झुका है, कवि उतना ही ऊपर ही ऊपर उठा जा रहा है। उसने अपने में डूबकर वेदना की कूची से वे चित्र अंकित किये हैं, जिनमें रोज़ का जीवन है, उपेक्षा है, पीड़ा है, वेदना है, कसक है, पर आरोप कहीं नहीं है, चेतावनी भी नहीं। मात्र संकेत है, जो सीधा हृदय में जा पैठता है, क्योंकि उसके पीछे स्वयं कवि का अनुभव मूर्तिमान हो उठा है। मानो कवि कहता है कि मुझे देखो और समझो। मेरे मुँह से मेरी कथा सुनने की आशा मत करो। इसी से वे बोलते कम हैं, सुनना ज्यादा चाहते हैं। जीवन या साहित्य, सब जगह वे विशुद्ध मानवतावादी हैं।

सियारामशरणजी की ज्ञान-पिपासा बड़ी तीव्र है। जन्मजात प्रतिभा न होने पर भी वे इतने बड़े कवि बन गये हैं। वे कोष के सहारे ही अंग्रेजी के बड़े-बड़े कवियों की रचनाएँ पढ़ लेते हैं। एक बार मैं उनसे कह बैठा—"आपका रेखाचित्र लिखने की बात जी में उठी है।"

उन्होंने उत्तर दिया—"बात उठी है तो दबा न दीजिए। किसी के लिए उसका रेखाचित्र एक दर्पण के समान होता है। व्यक्ति अपना चेहरा उसमें देखकर सुधारने का अवसर पाता है।" आत्म-सुधार की इस प्रवृत्ति ने उन्हें सदा ऊपर उठाया है।

गहन गम्भीर विषयों की बहस में, अथवा राजनीति की दलदल में उनका मन नहीं लगता। धारा-सभा का अधिवेशन या नई दिल्ली की सैर उन्हें अधिक प्रिय है। कवि जो ठहरे! वे मानते हैं कि अज्ञानी रहकर तो वे कुछ सीख सकते हैं। इसी कारण लोग उन्हें ग़लत समझते हैं और इसी कारण वे बहुत दिनों से उपेक्षा के पात्र बने रहे।

बात यह है कि मूलतः सियारामशरणजी बौद्धिक नहीं हैं। उनकी मौलिकता परिश्रम और स्वाध्याय की मौलिकता है। विनय और श्रद्धा ने उनमें स्वाध्याय की प्रवृत्ति पैदा कर दी है। इसी के द्वारा उनकी प्रतिभा को बल मिला है, बुद्धि से नहीं। बुद्धि के सहारे वे आत्म-निषेध की भावना को नहीं पा सकते थे। बुद्धि अहम् को अस्वीकृत नहीं कर सकती और न इकाई को भूलने ही देती है।

परन्तु सियारामशरणजी आत्मनिषेध की इतनी प्रबल भावना को लेकर भी बुद्धि से नफरत नहीं करते। उनका 'नारी' उपन्यास पढ़ मैंने उन्हें अनेक बातों के साथ लिखा था—मुझे लगता है कि चिट्ठी वाली बात कुछ उलझन में फँस गयी है।

उन्होंने उत्तर दिया—"यह हो सकता है, पर पाठक उलझन में फँसे यह तो तुम चाहोगे ही। उलझन में फँसे बिना वह लेखक को जान ही कैसे सकेगा?" यानी उलझन को सुलझाने के प्रयत्न में ही पाठक लेखक को पहचानेगा, यह उनका तर्क था। मैंने सोचा—यह आदमी कुछ भी हो, बाहर का नहीं है, अन्दर का है।

× × ×

तो ऐसे हैं सियारामशरणजी, जिन्हें काल-पुरुष ने पीड़ा के पालने में डालकर खूब झुलाया है। वे शरीर से जर्जरित और आत्मा से व्यथित हैं, पर फिर भी क्रोध से अछूते हैं। वे अखण्ड विद्रोही हैं, पर दाहकता से रिक्त हैं। रुक-रुककर निकलने वाली साँस के कारण उनकी वाणी गम्भीर है। वे देखने में जरूरत से ज़्यादा ग्रामीण मालूम होते हैं, पर उनका हृदय सौजन्य और सौहार्द्र से परिपूर्ण है। उनके नेत्र पीले पड़ गये हैं, पर अनुभूति और अनुराग उनसे बराबर छलकते रहते हैं।

और इसी कारण वे स्वयं एक कुशल कवि, एक कर्मठ कलाकार तथा दूसरों के लिए साकार प्रेरणा बन गये हैं।

बापू[1] सियारामशरणजी

[राय आनन्दकृष्ण]

'और तुम्हें कपालकुण्डला भी पढ़नी चाहिए और······।' सियारामशरणजी ने एक किशोर को दस-बीस पुस्तकों की एक सूची बना दी, सभी चुने हुए उपन्यास वा कहानी-संग्रह।

दूसरे दिन उन्होंने पूर्ण लगन के साथ छान-बीन शुरू कर दी—कौन-सी पुस्तक प्रारम्भ की गयी, कौन समाप्त। इतना ही नहीं, कौन-सी पुस्तक अच्छी लगी और क्यों ? सभी प्रश्न एक से एक विकट थे, पर समाधान और विश्लेषण उतना ही तात्त्विक होता। घर के प्रत्येक बच्चे का अपने बापू—सियारामशरणजी—का यही अनुभव होगा !

यद्यपि शाल-वृक्ष की भाँति अनायास धरती फोड़कर, बिना किंचित् देख-रेख के वे सीधे उठते चले जा रहे हैं पर दूसरी पीढ़ी को वे अपने दाय से वंचित नहीं रखते। नयी पीढ़ी को आदर्श में दीक्षित करने के लिए अस्वास्थ्य के कारण वे कोई आश्रम या शाला न स्थापित कर सके हों, पर उनके संसर्ग में आने वाले प्रत्येक युवक ने यह अवश्य सुना होगा—'······जिस दिन तुम अपने इस महाराष्ट्र के राष्ट्रपति होगे······।'

जिस व्यक्ति में नयी पीढ़ी की प्रत्येक इकाई को राष्ट्रपति या उसके समान योग्यता वाला देखने और बनाने की साध हो वह पुस्तक पढ़ाकर सन्तोष नहीं प्राप्त कर सकता, क्योंकि यह तो उसकी बेबसी है।

× × ×

सियारामशरणजी के जीवन और पुस्तक का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनके सभी अभावों की पूर्ति इन पुस्तकों से होती है। 'जहाँ पुस्तकें रहती हैं वहाँ स्वर्ग बन जाता है।' और, इस स्वर्ग के अधिराज के रूप में सियारामशरणजी बहुत ही शोभित होते हैं। कोई पुस्तक बृहस्पति है और कोई जयंत।

सियारामशरणजी ने रोग-शय्या पर पड़े-पड़े जो कई भाषाओं पर अधिकार प्राप्त कर लिया वह पुस्तकों से अपनी आत्मीयता के कारण। इसके अतिरिक्त कई शास्त्रों पर वे अधिकार रखते हैं और उससे कहीं अधिक रखना चाहते हैं;

---

१. कवि के सभी वात्सल्य-भाजन उन्हें 'बापू' कहते हैं।

परन्तु धर्म-साधन में रोग-जर्जर शरीर कितना बाधक है। फिर भी, हिन्दी, बंगला, गुजराती, अंग्रेज़ी किसी में कोई सुन्दर पुस्तक प्रकाशित हुई कि सियारामशरणजी के पुस्तकालय की शोभा बढ़ाने लगी। प्रसिद्ध अमरीकी पत्र, 'रीडर्स डाईजेस्ट' में एक नोबेल पुरस्कार प्राप्त पुस्तक का सारांश था जो इस सदी की उक्त विषय की सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक मानी गयी थी। विषय था सृष्टि-क्रम-विकास। बिलकुल नया विषय होने पर भी उक्त पुस्तक मँगा ली गयी। यदि शरीर ने गवारा किया होगा, तो पढ़ी गयी होगी और सम्भवतः कवि ने उस विषय पर भी इस प्रकार अधिकार कर लिया होगा।

× × ×

सौन्दर्य-प्रेम और गांधीवाद

कवि का सौन्दर्य-प्रेम दार्शनिक सत्य की कसौटी पर कसा गया है और इस प्रकार सत्य, शिव और सुन्दर का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध स्थापित हुआ है। इस युग के सभी चेतनशील समाज पर गांधीवाद का जो उचित प्रभाव पड़ा है, कवि उसमें किसी से पीछे नहीं। चर्खा चला पाने की साध श्वास-जैसे कठिन रोग में पूरी नहीं हो पाती, तब अनुज वा अग्रज के चर्खे की मधुर-मधुर ध्वनि पर ही संतोष करना पड़ता है। फिर भी अपने हाथों अपने वस्त्र धो लेने का प्रयोग वे प्रायः करते हैं और कभी-कभी इसी कारण बीमार पड़ते हैं। वे निश्चय ही जानते हैं कि रोगी सत्याग्रहियों को गांधीजी कर्म-मार्ग से विरत कर ज्ञान-मार्ग तक ही सीमित रखते थे परन्तु कवि का हृदय अपनी कमी को भी नहीं मानता।

इस प्रकार सियारामशरणजी का कवि-जैसा स्वरूप मोटी खादी के धोती-कुरते में और भी अधिक दीप्त हो उठता है। जन्म-भर की साहित्य-साधना और उच्च दार्शनिकतापूर्ण जीवन ने उनके मुख पर एक अलौकिक कान्ति ला दी है और वे प्रथम दर्शन में गांधीवादी सन्त ही जान पड़ते हैं।

पर इन सबके भीतर एक बहुत बड़ा कवि बैठा है, जिसने अपने चारों ओर के और उससे भी अधिक कल्पना-लोक के सौन्दर्य का कितना प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया है! बालकों के जीवन में कवि ने विशेष सौन्दर्य पाया है और उसकी अभिव्यक्ति अपनी सभी प्रतिनिधि रचनाओं में की है।

सियारामशरणजी वार्तालाप में बहुत ही रोचक हैं। काव्य की भाँति उनके वार्तालाप में भी सुन्दर भावों के साथ-साथ सुन्दर अभिव्यक्ति दीखती है। कुछ दिन पूर्व माननीय सम्पूर्णानन्दजी चिरगाँव आये थे। गणेशशंकर हृदय-तीर्थ के अधूरे भवन की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करने के लिए सियारामशरणजी ने किसी प्रसंग में कहा, "हमें अभी बहुत काम करना बाक़ी है, अपनी स्वतन्त्रता

को तो मैं इस अधूरे भवन-जैसा मानता हूँ ।" सियारामशरणजी बातचीत में प्राय: अनोखी उपमाओं का प्रयोग करते हैं ।

उन दिनों महाकवि 'निराला' शोचनीय मानसिक अवस्था में काशी के कुछ उत्साही हिन्दी-सेवियों की सुश्रूषा में थे। सियारामशरणजी उनसे मिलने गये। 'निरालाजी' की वह अवस्था देख उन्हें बड़ी पीड़ा हुई। फिर भी सियारामशरणजी ने उन्हें शान्त करने का प्रयत्न किया। जब 'निरालाजी' बहुत अधिक उत्तेजित हो जाते तब सियारामशरणजी कहते, "आप यदि बहुत बड़े पहलवान, क्रान्ति-कारी या राजनीतिक नेता न हो सके तो कोई चिन्ता नहीं; आप अपने-आप में ही एक विभूति हैं।" 'निरालाजी' पर इसका यथेष्ट प्रभाव पड़ता। उस समय, 'निरालाजी' की एक पुस्तक प्रेस में थी। जिसकी भूमिका लिखने के लिए उन्होंने सियारामशरणजी से बहुत आग्रह किया। बहुत बड़े धर्म-संकट में पड़कर सियारामशरणजी को अपनी स्वीकृति देनी पड़ी, और घर लौटकर उन्होंने उक्त भूमिका के लिए जो प्रारूप सोचा था वह सचमुच चमत्कारपूर्ण था। परन्तु, इसी बीच किसी पागल ने राष्ट्र-पिता की हत्या कर डाली और सबके मन पर एक बड़ा गहरा काला पर्दा पड़ गया। इसी स्थिति में भूमिका लिखने की बात रह गयी।

कितनी चोट पहुँची उस समय इस कवि के हृदय को! जो राष्ट्र-पिता को अपना युग-पुरुष, आराध्य देव और बापू मानता था! इसका इतना बुरा असर पड़ा कि उन पर श्वास का भारी आक्रमण हुआ और काशी आकर उन्होंने थोड़ा-बहुत जो कुछ स्वास्थ्य-लाभ किया था वह दो दिनों के आँसुओं के साथ निकल गया।

× × ×

रोग-जर्जर शरीर और साधना

रोग से लड़ने-जूझते उन्हें इतना कुछ करते देख सचमुच आश्चर्य होता है। स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन रहता है, इसकी सबसे बड़ी चुनौती सियारामशरणजी हैं। उन्होंने सारी उम्र खाट पर बितायी, फिर भी प्रत्येक दिशा में अनुपम प्रगति की है। चारों ओर न जाने कितनी दवाइयों से घिरे हुए, जिनके विष को झेलना उनके जैसे महाप्राण व्यक्ति के लिए ही सम्भव है—इसी प्रकार सिगरेट के नाम पर एस्थ्रोमोनियम के दर्जनों पैकेट खतम करते उन्हें देखा जा सकता है। मोटी गादी के चारों ओर इन्हीं सबका साम्राज्य है। किसी-किसी ओषधि के बाद, और कभी-कभी भोजन के बाद पान की आवश्यकता पड़ती है। पुकारने के कष्ट से बचने के लिए कभी-कभी घण्टी भी मिलेगी, पानदान पास ही धरा है। हाँ, उससे लाभ उठाने के लिए सभी को छूट है। बगल में कुछ

पुस्तकें रखी हैं, जो दद्दा (राष्ट्रकवि) के पास वाली बैठक और इस गादी के बीच सीमा का काम करती हैं। बेंत की एक रकाबी में एकाध कलम-पेंसिल साहित्य-सदन का नाम सार्थक करती है। सियारामशरणजी—जिन्हें घर के हम सब बच्चे बापू कहते हैं—की जेब में जो एक घड़ी है वह समय पर दवा खाने के लिए अथवा रेडियो पर समाचार सुनने के लिए है। किसी ने श्वास-रोग के लिए चाय की सिफारिश की। तब से चाय का क्रम चल गया। लाभ तो हुआ नहीं, दोनों समय चाय बनने लगी।

अखबारों का ढेर आ पहुँचा। प्रत्येक अखबार की छान-बीन की गयी। प्रायः दद्दा महत्त्व की खबरों को पढ़कर सुनाने में आनन्द पाते हैं। कभी-कभी उन खबरों को लेकर बहस भी हो जाती है, कभी-कभी एक पक्ष की हार। क्योंकि कवि-युगल की धारणाओं और विचारों में पर्याप्त मतभेद की गुंजाइश है, बहुत-सी बातों में अपना-अपना दृष्टिकोण है।

सहसा, बापू अंग्रेज़ी अखबार में कोई नयी खबर देख बोल उठते हैं जिसे हिन्दी के सम्पादकों ने अनावश्यक समझा हो। परन्तु यह सारा क्रम डाक आते-आते अवश्य समाप्त हो जाता है, बापू अपने पत्रों का उत्तर अपने व्यक्तित्व-जैसे सुन्दर अक्षरों में देने लग जाते हैं।

समय भार होने लगता है, अथवा रात को नींद नहीं आती तब ताश के पत्तों[1] का सहारा लेना पड़ता है। उसमें भी किसी साथी की आवश्यकता नहीं; पेशेन्स का यांत्रिक खेल मन को फँसाये रखने में समर्थ है। बगल में दद्दा अपनी स्वाभाविक स्फूर्ति और सूझ के बल पर मिनटों में बाजी मार लेते हैं, उनकी बगल में उनके भी अग्रज अपने काँपते हाथों से—पर सियारामशरणजी को पत्रों के जुटाने में ही काफी समय और श्रम लगता है। एकाध बाजी में ही वे थककर चूर हो लेट जाते हैं। घर का कोई बच्चा कभी बदन दबाने लगता है, कभी दुखते सिर को।

दुपहरिया में रात की नींद पूरी करना आवश्यक होता है। इसलिए एक मात्र वह ऐसा समय है जो सुखपूर्वक कट सके। अथवा कभी कल्पनालोक में विचरण करते समय इस अनुभवगम्य लोक की व्यथाएँ भुलायी जा सकें।

आज, इस सन्त की ओर असंख्य हाथ जुड़े हुए हैं, मानो किसी देवता पर राष्ट्र ने असंख्य-असंख्य कुड्मल न्यौछावर कर दिये हैं, उन्हीं के बीच इस वात्सल्य-भाजन का भी शत-शत प्रणाम है—

अवेहि मां किंकरमष्टमूर्तेः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम्।

---

१. बापूजी के महा-निर्वाण के दुःखद प्रसंग पर उन्होंने इस दुर्भाग्य से छुटकारा पा लिया है।

कवि श्री सियारामशरण गुप्त का मनोदर्शन

[डॉ० रणवीर रांग्रा]

साहित्यकार का जीवन साधना का जीवन है। दीये की भाँति जलकर भी वह दूसरों को प्रकाश देता है। जीवन भर व्यथा में तपकर वह जो पाता है, उसे जगती को कविता में गाकर सुनाता है। जीवन और जगत के समस्त विष को वह अपनी साधना के बल से अमृत कर लेता है। इसीलिए तो गीता में साहित्य-साधना को 'वाङ्मय तप' माना गया है। पर आज ऐसे कितने साहित्यकार हैं जो सृजन को साधना या तप के रूप में लेते हैं, जिनके निकट साहित्य व्यवसाय न होकर आत्म-दर्शन की सीढ़ी है और जो साहित्यकार ही नहीं, सन्त भी हैं ?

भारतीय मनीषियों की इस लुप्तप्राय परम्परा के उज्ज्वल प्रतीक हैं कविवर सियारामशरण गुप्त। उनकी जीवन-व्यापी साधना से यह स्पष्टत: परिलक्षित होता है कि अपने भीतर साधुवृत्ति जगाए बिना कोई साहित्यकार बनने की सोच कैसे सकता है। अपने काव्य 'नकुल' में तो उन्होंने निर्भ्रान्ति स्वर से इस मूल सत्य को व्यक्त किया है :

मुझको तो विश्वास नहीं है रंचक इसमें।
देंगे कैसे अमृत बुझे स्वयमपि जो विष में ।।

इस सन्त-कवि का व्यक्तित्व पीड़ा से बना है, फिर भी उसमें मधुरता की कमी नहीं। उनका जीवनसाथी श्वास रोग बड़ा ही कठिन रोग है, शरीर अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण है, फिर भी, मन में कहीं तिक्तता नहीं, व्यवहार में कहीं कटुता नहीं, स्वभाव में कहीं कठोरता नहीं। घोर व्यथा के बीच से छनकर आयी अद्भुत धैर्य-निष्ठा का ही तो यह प्रसाद है कि अस्वास्थ्य से लगातार जूझते हुए भी वे 'मृण्मयी', 'बापू', 'उन्मुक्त' आदि अमर काव्यों, 'गोद', 'अन्तिम आकांक्षा' और 'नारी' जैसे मर्मस्पर्शी उपन्यासों, 'झूठ-सच', 'मनुष्य की आयु सौ वर्ष', 'अन्य भाषा का मोह', 'घूँघट' सरीखे तीखे व्यंग्य भरे निबन्धों और अनेक कहानियों के प्रणयन द्वारा निरन्तर हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि कर रहे हैं। उनकी प्रत्येक रचना में शान्तिदायिनी सात्विकता और सच्चे आस्तिक की स्थिरता मिलती है, जो सहज ही पाठक के मन को छू लेती है।

इस तपस्वी साहित्यकार से मिलकर उसके साहित्य पर चर्चा करने की मेरी बहुत पुरानी साध थी। आखिर, पिछले दिनों सुयोग मिल ही गया। जब मैं सियारामशरणजी के यहाँ गया तो दद्दा (राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त) के दर्शनलाभ का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। दोनों भाइयों के व्यवहार में इतनी आत्मीयता थी कि थोड़ी देर में ही मुझे लगने लगा कि मैं उनके ही परिवार का अंग हो गया हूँ। फिर, सियारामशरणजी मुझे अपने कमरे में ले गये। इस विशाल कमरे में दीवार से सटकर बिछी एक छोटी-सी दरी थी जिस पर एक तकिया रख हुआ था। दरी पर एक ओर पुस्तकें बिखरी थीं और दूसरी ओर दवाई की शीशियाँ-डिबियाँ रखी थीं। बस यही है इस सन्त की साधना-स्थली—नई दिल्ली की फीरोजशाह रोड पर स्थित संसद-सदस्यों के भव्य बंगले के एक कमरे में सिमटी सी।

पिछले वर्ष आकाशवाणी के इलाहाबाद केन्द्र से 'मेरी रचना-प्रक्रिया' शीर्षक से गुप्तजी की एक वार्ता प्रसारित हुई थी। उसी में से उनका एक वाक्य लेकर चर्चा आरम्भ करते हुए मैंने पूछा—"आपने एक स्थान पर कहा है, 'लोग जन्मजात कवि होते हैं, पर मैं जन्मजात रुग्ण हूँ। इस कारण भी मैं वह नहीं लिख पाता जो लिखना चाहता हूँ।' शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की पीड़ा के पालने में आपको इतना अधिक झूलना पड़ा है कि उसके प्रति आपका आक्रोश स्वाभाविक है। पर आपकी रचनाओं में अनुभूति की जो गहन तीव्रता और एक सच्चे आस्तिक की स्थितप्रज्ञा के दर्शन होते हैं उसका श्रेय क्या इस जीवनव्यापी व्यथा को नहीं है?"

प्रश्न तीखा था, पर तनिक भी विचलित हुए बिना गुप्तजी शान्त और संयत स्वर में बोले—"आपसे अपना वाक्य सुनकर लगता है कि जन्मजात कवि के साथ अपने जन्मजात रुग्ण को एक आसन पर बैठाकर कहीं मैंने उसे कवि की प्रतिष्ठा स्वयं ही न दे डाली हो। आपने ध्यान नहीं दिया, यह आपकी अनुकम्पा है। रुग्ण को न मिलेगी तो अनुकम्पा मिलेगी किसे? जीवन के अन्य क्षेत्रों में ही नहीं, साहित्य में भी उसे क्षमा मिलती है। यह मेरा अपना अनुभव है। इसलिए, कृपा के लिए और कुछ कहने से पहले धन्यवाद तो क्या दूँ, अपनी प्रसन्नता ही प्रकट करता हूँ।

"हाँ, मैंने अपनी रुग्णता को हमेशा अपने लिए वरदान ही माना है। एक बार मेरे एक उपन्यास के बारे में मुझसे प्रश्न किया गया—'यह उपन्यास आपने क्यों लिखा?' मेरा उत्तर था—'मैं रुग्ण था, इसलिए सरल कार्य ही करना चाहता था।' मेरे इस उत्तर की 'रुग्णता' का उल्लेख एक ख्यातिलब्ध

औपन्यासिक ने इन शब्दों में किया—'देखिए, अपने सम्बन्ध में वह स्वयं ऐसा कह रहे हैं।' परन्तु, वास्तव में, मैं जो कुछ लिख सका हूँ, मैं मानता हूँ, वह लिखा न जाता यदि मैं शारीरिक दृष्टि से अस्वस्थ न होता।

"एक बार विख्यात उद्योगपति श्री घनश्यामदास बिरला ने मुझसे आग्रह किया कि मैं उनकी एक हिन्दी-सम्बन्धी योजना में कुछ काम करूँ। जब मैंने उनसे कहा कि शारीरिक अस्वास्थ्य के कारण मैं उस कार्य को करने में असमर्थ हूँ तो वह कहने लगे—'आपकी रचनाओं से यह नहीं जान पड़ता कि आप अस्वस्थ हैं।' उनका यह कथन मुझे अपने साहित्य-कार्य के लिए सर्वाधिक प्रशंसात्मक जान पड़ा और उसे मैं भूल नहीं सका। हो सकता है अपने अस्वस्थ जीवन से 'पलायन' करके स्वास्थ्य के लिए ही मैं साहित्य के क्षेत्र में पहुँच जाता होऊँ। पलायनवादी होने का आरोप मुझ पर हुआ है, किन्तु वह इसलिए भी मुझे रुचता है कि पलायन की शक्ति भी नगण्य नहीं होती।"

निरन्तर एक ही प्रकार से सोचते रहने से कई बार साहित्यकार की विचारधारा स्थिर और बद्धमूल हो जाती है और साहित्य के माध्यम से वह अपना जीवन-दर्शन दूसरों पर लादने लगता है। साहित्य-सृजन में गुप्तजी की मूल प्रेरणा क्या है, यह जानने की दृष्टि से मैंने प्रश्न किया—"लिखने की प्रेरणा आपको जीवन और जगत से सीधे मिलती है या उनके प्रति बन चुके अपने किसी दृष्टिकोण से ?" प्रश्न सुनकर सियारामशरणजी कुछ देर मौन रहे, मानो अपने भीतर की गहराइयाँ नापने लगे हों। फिर सहसा उनके होंठ हिले और वे धीरे-धीरे कहने लगे—"मेरे जीवन का दृष्टिकोण कब और कैसे बन गया, इस बात का पता लगाना मेरे लिए भी अनुसन्धेय है। कहा जाता है कि मनुष्य का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उसके जीवन के प्रथम पाँच वर्षों में ही बन जाता है। ऐसे ही अपने किसी सतयुग में मैं पूरा बन चुका था। उसके बाद दूसरे युग आते हैं और मैं चाहूँ भी तो अपने को बदल नहीं सकता। बदलने की मुझे इच्छा भी नहीं होती। अपने उसी सतयुग के पुरुष के साथ साक्षात्कार करना ही मेरी साहित्यिक साधना है।" प्रश्न करते समय मैंने सोचा था, उत्तर काफी लम्बा होगा। पर गुप्तजी तो घुमाव-फिराव में न पड़कर सीधी बात करने वालों में हैं। उन्होंने एक स्थान पर कहा भी है—"हृदय को समझने के लिए हृदय की बात ही यथेष्ट होती है। वहाँ तर्क का प्रवेश निषिद्ध है।"

सत्यनिष्ठ साहित्यकार अपने को जीवन और जगत के प्रति खुला छोड़कर तो जीता ही है, पर भीतर के प्रति भी बन्द नहीं होने देता। रचना करते समय वह सामान्य धरातल से इतना ऊपर उठ जाता है कि धर्म के पाप-पुण्य,

समाज के विधि-निषेध और शासन के भय-प्रलोभन उसके लिए ढीले पड़ जाते हैं। शिक्षा और संस्कारों द्वारा जनित पूर्वग्रहों की लौह-शृंखलाएँ भी टूटती जाती हैं। तब उसकी चेतना में बाहर और भीतर के यथार्थों के नये रूप उभरते आते हैं और वह उनमें सन्तुलन बैठाता हुआ सत्य के निकट पहुँचता जाता है। रचना उसके लिए आत्मबोध का साधन बन जाती है और यह आत्मबोध उसके भीतर असीम परितृप्ति भर देता है। रचना-प्रक्रिया की इस आनन्दमयी अवस्था की ओर संकेत करते हुए मैंने पूछा—"किसी कृति को रचते समय आपको कभी ऐसा भी महसूस हुआ कि उसे रचते समय आप स्वयं भी रचे जा रहे हैं, आपके सामने बाहरी और भीतरी सत्यों के नये अर्थ खुल रहे हैं और अपने भीतर घटित हो रहे रूपान्तर से आपको असीम आत्म-तुष्टि का अनुभव हो रहा है ?"

अपने भीतर गोता लगाते हुए गुप्तजी बोले—" 'बापू' लिखते समय मैंने स्पष्टतः अनुभव किया कि किसी परम सत्य की उपलब्धि मुझे हो रही है। जिस दिन मैंने बापू की अंतिम पंक्तियाँ लिखीं, उस दिन मैंने अपने भीतर सम्भवतः उस आनन्दमयी परितृप्ति की अनुभूति की जो बड़े से बड़े साहित्यकार को यदा-कदा ही उपलब्ध होती है। वैसी स्थिति मेरी कई दिन तक रही।

" 'नारी' लिखते समय मुझे दूसरा अनुभव हुआ। उसे प्रारम्भ करते समय मेरे सामने उसका रूप कुछ भी स्पष्ट नहीं था। उसकी एक बहुत दूर की झाँकी ही मुझे मिली थी। पर मैं उसे लिखता गया और उसके नये-नये रूप मेरे समक्ष स्पष्ट होते गये। अगले अनुच्छेद में मुझे कहाँ पहुँचना है, इसका पता भी प्रायः नहीं रहता था। पुस्तक का अंतिम अंश लिख रहा था, पर तब तक भी उसका नाम मुझे नहीं सूझा था। अन्तिम वाक्य में अचानक आ गये 'नारी' शब्द ने ही मुझे यह नामकरण सुझाया। आप चाहें तो इसे मेरा बोधि-लाभ कह सकते हैं—जमुना को तो उसकी उपलब्धि हुई ही थी।" बोलते समय उनकी आँखों में चमक आ गयी थी और मुख पर कान्ति छा गयी थी, मानो अतीत की अनुभूतियाँ उभर आयी हों।

चर्चा को उपन्यासों की ओर मोड़ते हुए मैंने प्रश्न किया—"नारी की चिरोपेक्षिता जमुना जब अजीत को आत्मसमर्पण करके हल्की होने की सोचती है तो लेखक उन दोनों के बीच आ जाता है, जबकि जमुना जिस जाति की स्त्री है उसमें पति के जीवनकाल में भी उसके साथ न निभ सकने के कारण दूसरा घर कर लेना वर्जित अथवा निन्दनीय नहीं समझा जाता और हम यह भी जानते हैं कि जमुना की यह माँग मांसल की अपेक्षा मानसिक अधिक है।

कुछ लोगों को ऐसा लगता है कि लेखक यहाँ जमुना पर व्यक्तिगत संस्कारों का आरोप कर रहा है। इस विषय में आपकी क्या राय है ?"

गुप्तजी गम्भीर होते हुए बोले—"जमुना ने जो कुछ किया उसके बीच में मैं आ कैसे सकता था ? उसमें जो 'मांसल' है, उसी को देखने की मेरी प्रवृत्ति न थी। जहाँ वह सचेतन और सप्राण है, वहीं वह अपनी यथार्थ सत्ता में प्रकट होती है। अपने व्यक्तिगत संस्कार मैंने उस पर नहीं लादे। वह अपने संस्कार अपनी छोटी-सी जाति और अल्पकालिक जीवन में न जाने कहाँ से ले आयी है। हम जो जीवन जीते हैं, वह समूचा हमारा अपना ही है, यह कैसे माना जा सकता है। हमारे अनजाने में ही सीता, सावित्री, द्रौपदी और न जाने किन-किन के स्वर हमारे कानों में पड़ते रहते हैं। वे स्वर दूर से, अतीत में से, हम पा रहे हैं, केवल इसीलिए मैं उन्हें अनिष्टकर नहीं मान सकता। अतीत नहीं, मैं तो मानता हूँ अनागत भविष्य का कण्ठ भी उसके साथ मिला हुआ है।"

गुप्तजी के साहित्य में व्यक्त करुणा और आत्मपीड़न पर चर्चा चलाने के लिए मैंने पूछा—"कुछ लोगों को आपके साहित्य में आत्मपीड़न का स्वर अन्य सभी स्वरों से ऊँचा लगता है और वे बरबस पूछ बैठते हैं—'आत्मपीड़न क्या परपीड़न का ही रूपान्तर नहीं है' ?" प्रश्न बहुत तीखा था, सो वैसी ही प्रतिक्रिया हुई। वे बोले—"यह 'आत्मपीड़न' मुझे तो कल्पित और आरोपित जान पड़ता है। आत्मा को पीड़ा कहाँ ? आत्मानन्द की बात तो हम सुनते रहे हैं, पर आत्मपीड़न की कल्पना उन लोगों ने की है जो वास्तव में आत्मा को ही नहीं मानते। उनका जीवन-दर्शन मेरे से भिन्न है।"

साहित्य के क्षेत्र में गुप्तजी ने बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है। काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि सभी विधाओं में उन्होंने समान अधिकार से लिखा है। पर वे मूलतः क्या हैं, यह जानने के लिए मैंने प्रश्न किया—"आपने साहित्य की सभी विधाओं में लिखा है, और बहुत अच्छा लिखा है। फिर भी, कौन सी विधा आपको सर्वाधिक सहज और मनोनुकूल लगती है ?"

वे बोले—"मुझे कविता ही सर्वाधिक तृप्ति देती है। यह दूसरी बात है कि जिसे मैं कविता मानना हूँ, वह किसी दूसरे की दृष्टि में कविता न हो। 'आज की कविता' ने अपने नामकरण के साथ ही उसे पुरातन और जीर्ण घोषित कर दिया है। परन्तु मैं अपने स्थान पर अपने को स्थिर और निरापद ही पाता हूँ। कविता के अतिरिक्त मैंने जो और कुछ लिखा है उसे आप

औद्योगिक भाषा में मेरे कार्य का उपजात (बाइ-प्रॉडक्ट) कह सकते हैं। वह यदि कहीं अच्छा बन पड़ा है तो वहीं, जहाँ मेरी कविता किसी न किसी बहाने आकर मुझे थपथपा गयी है।"

चर्चा में तो रस आ ही रहा था, पर सियारामशरणजी के तपःपूत व्यक्तित्व से जो शान्ति बरस रही थी, वह भी आत्मविभोर किये जा रही थी। हमें बैठे अढ़ाई घण्टे होने को थे, पर किसी को समय का ध्यान ही न था। चर्चा ज्यों-ज्यों ज़ोर पकड़ती और गुप्तजी की साँस फूलने लगती, वे पास रखी दवाई की डिबिया को दियासलाई दिखा, नाक से धूनी लेने लगते। इससे साँस अनवरुद्ध चलने लगती और चर्चा आगे बढ़ लेती। इस बार, जो उन्होंने डिबिया उठायी, मुझे लगा कि मैं उनके साथ ज़्यादती कर रहा हूँ। स्वयं कष्ट उठाकर भी वे मेरे प्रश्नों का उत्तर दिये चले जा रहे हैं, यही क्या कम अनुकम्पा है। इसलिए, चर्चा को समेटते हुए मैंने आज की प्रमुख समस्या की ओर उनका ध्यान आकृष्ट कराते हुए अन्तिम प्रश्न किया—"आज का साहित्यकार जो किसी न किसी रूप में राज्याश्रय पाने की सोचने लगा है, आपके विचार में यह कहाँ तक साहित्य के हित में है?"

वे बोले, "राज्याश्रय ही क्या, किसी प्रकार का भी आश्रय—स्वाश्रय को छोड़कर—मैं साहित्यकार के लिए हानिकारक मानता हूँ। नये-नये रूपों में साहित्यकार जो अपने 'ट्रेड यूनियन' बना रहा है, उन्हें भी मैं पसन्द नहीं करता। साहित्यकार जब अपनी रक्षा के लिए गुहार करने लगता है तो उससे बढ़कर अशोभन और कुछ नहीं होता।"

कवि सियारामशरण गुप्त के अन्तिम दिन

[डॉ० नगेन्द्र]

कल की-सी बात है। अब से ठीक बारह वर्ष पहले सन् १९५२ की गर्मियों में—शायद अप्रैल या मई के महीने में, जब मैं एक दिन आकाशवाणी भवन से ९।। बजे का बुलेटिन समाप्त कर लौट रहा था, तो अचानक ही सिकन्दरा रोड के मोड़ पर एक ताँगे में मुझे श्री सियारामशरण गुप्त दिखायी दिये। मैंने गाड़ी मोड़ी और ताँगे के पास जाकर देखा कि दद्दा—श्री मैथिली-शरण गुप्त और रायसाहब—श्रीयुत रायकृष्णदास भी उसमें बैठे हैं। एक स्वजन को ताँगे में सामान के साथ छोड़ दद्दा, रायसाहब और सियारामजी मेरे साथ मोटर में आकर बैठ गये। रास्ते में मालूम हुआ कि दद्दा राज्यसभा के ग्रीष्म अधिवेशन में भाग लेने के लिए आये हुए हैं और नॉर्थ एवेन्यू में १७९ नम्बर का मकान उनके लिए नियत किया गया है। १९५२ से १९६४ तक पूरे बारह वर्ष तक दद्दा दिल्ली में रहे—उनका यह दिल्ली-प्रवास राजधानी के सारस्वत इतिहास का अत्यन्त मधुर परिच्छेद है।

दद्दा के साथ कोई-न-कोई स्वजन सदा दिल्ली में रहता था। सियारामजी भी वर्ष में एक-दो बार आकर अवश्य रहते। उन दिनों दद्दा के निवास का वातावरण और भी अधिक साहित्यिक बन जाता था। बाद में स्वास्थ्य गिर जाने से उनका आना कुछ कम हो गया और उन्हें बुलाने के लिए हम लोगों को आग्रह करना पड़ता था। १९६३ के बजट अधिवेशन में मेरे और दद्दा के बार-बार आग्रह करने पर वे २५ फरवरी को दिल्ली आये। इस बार उनका स्वास्थ्य अधिक गिरा हुआ था। बाहर से देखने पर भी रोग बढ़ा हुआ लगता था—चेहरे पर और हाथ-पैरों पर शोथ था; किन्तु भीतर से उनका मन और भी अधिक उद्विग्न था। चिरगाँव से चलते समय उन्होंने चि० सुमित्रानन्दन से कहा था कि देखो लौटकर आते हैं या नहीं। दिल्ली में वे प्रायः मित्रों से यही कहते थे कि इस बार हम अपने को अत्यन्त रुग्ण अनुभव करते हैं। बात साफ़ थी—जल्दी ही उनके विश्वस्त चिकित्सक डाक्टर विजयकुमार दीवान से सम्पर्क स्थापित कर सिटी क्लिनिक में विधिवत् परीक्षण कराया गया।

डाक्टर ने विशेष चिन्ता का कोई कारण नहीं बताया—कहा कि दमा के निरन्तर आक्रमण से इस आयु में हृदय पर असर पड़ना स्वाभाविक ही है, शोथ उसी के कारण है। निदान के उपरान्त ओषधि दी गयी और उससे लाभ हुआ—सूजन बहुत कम हो गयी; हृदय की आन्तरिक स्थिति में भी सुधार हुआ। फिर भी न जाने क्यों वे बार-बार कहते थे कि मेरी तबियत बड़ी ख़राब है। रोग उनके लिए नया नहीं था—लगभग ५० वर्ष से वे रोग से लड़ते आ रहे थे। इस लड़ाई में दोनों ही जर्जर हो चुके थे—रोग ने तो रोगी के शरीर को तोड़ ही दिया था परन्तु रोगी के आत्मबल ने भी रोग के आतंक पर विजय प्राप्त कर ली थी। ऐसी स्थिति में उनके स्वर की निराशा से मुझे कुछ निराशा होने लगी। डॉ० दीवान के साथ मैं बराबर सम्पर्क बनाये हुए था और जहाँ तक मैं समझ सका, चिन्ता का कोई कारण नहीं था। फिर भी बापू आश्वस्त नहीं थे और कई बार एकान्त में मुझसे कह चुके थे कि आपसे कुछ आवश्यक बात करनी है। यद्यपि उन्होंने मुझे यह नहीं बताया कि बात क्या है, परन्तु सन्दर्भ से मुझे यह अनुमान होने लगा था कि शायद वे अपना अन्त निकट समझते हैं। यह कल्पना मेरे लिए अत्यन्त अप्रिय थी और मेरे मत से इसके लिए पर्याप्त कारण भी नहीं था। इसलिए मैं कुछ दिनों तक तो बराबर टालता रहा और फिर एकान्त में बात करना सम्भव ही नहीं हुआ।

एक दिन शाम को ३५ मीनाबाग़ जाकर मुझे पता चला कि बापू की तबियत अचानक गिर गयी और उन्हें डॉ० दीवान के परामर्श के अनुसार सर गंगाराम नर्सिंग होम, पूर्वी मार्ग में दाखिल कर दिया गया है। तुरन्त ही मैं वहाँ पहुँचा। वे होश में थे। डॉक्टर से बातचीत करने पर मालूम हुआ कि उन्हें दिल का दौरा हुआ है; सामान्यतः हालत अच्छी थी, उपचार से लाभ हो रहा था परन्तु डॉक्टर ने व्यावसायिक सावधानी के स्वर में कहा कि ७२ घण्टे से पहले हृद्रोग में किसी को ख़तरे से बाहर घोषित करना सही नहीं है। ७२ घण्टे भी बीत गये। दद्दा को एक आवश्यक कार्य से झाँसी जाना था—किन्तु उन्होंने अपना कार्यक्रम स्थगित कर दिया। तीसरे दिन उनकी तबियत इतनी सँभल गयी कि डॉक्टर दीवान ने दद्दा से कह दिया कि आप बेशक चले जाएँ—और दद्दा चले गये। बापू काफ़ी स्वस्थ दीखते थे—पेट जो शुरू में फूल गया था, अब साफ हो चुका था; साँस की गति स्थिर हो चुकी थी और नर्सिंग होम के उस कमरे में अन्तर्बाह्य शान्ति का प्रसार था। पर यह दशा शायद एक-डेढ़ दिन तक ही रही। उनके दो पुराने रोगों—हर्निया और दमा के उभर आने से एकदम बेचैनी बढ़ गयी; आँतों में गुज्झर पड़ जाने से

उनकी क्रिया में अवरोध उत्पन्न हो गया और श्वास का कष्ट भी बहुत था। ऑक्सीजन की व्यवस्था हुई और आन्त्रिक अवरोध को भी दूर करने के लिए ओषधियाँ दी गयीं। किन्तु उनसे लाभ नहीं हुआ और वे बेहोश हो गये। बेहोशी की हालत में भी या बीच में संज्ञा प्राप्त करने पर उन्होंने दो बार कहा—डॉक्टर नगेन्द्र को बुलाओ। मुझे फोन किया गया और मैं कोई आध घण्टे में पहुँच गया, लेकिन तब तक वे फिर बेहोश हो गये थे। यह मूर्छा फिर नहीं टूटी; हृदय की स्थिति अब भी बुरी नहीं थी—नाड़ी की गति अच्छी थी, किन्तु आन्त्रिक अवरोध और श्वास-कष्ट बढ़ता जा रहा था। डॉक्टर दीवान अब विचलित प्रतीत होते थे। यद्यपि अपने निदान और उपचार के विषय में उन्हें किसी प्रकार का संशय नहीं था, फिर भी हम लोगों के आश्वासन के लिए उन्होंने दिल्ली के प्रसिद्ध चिकित्सक डॉ० मोहनलाल शर्मा को परामर्श के लिए बुला लिया। डॉ० शर्मा आये; पूरी परीक्षा करने के उपरान्त वे भी उसी परिणाम पर पहुँचे और मेरे प्रश्न के उत्तर में उन्होंने भी डॉ० दीवान के ही उत्तर की प्रायः पुनरावृत्ति कर दी। दवाइयाँ कारगर नहीं हुईं; रोग बढ़ता ही गया और रात को डॉक्टर ने जवाब दे दिया।

बापू की बीमारी का समाचार नगर में फैल चुका था; उनके मित्र और श्रद्धालु निरन्तर आते रहते थे। उस रात को मैं काफी देर से लौटा था—आकर मैंने कुछ ऐसे मित्रों को, जिनका उनके प्रति विशेष अनुराग था, फ़ोन किया कि बापू जा रहे हैं; रात शायद न काट पायें। वही हुआ २९ मार्च को प्रातः ५ बजे के लगभग भाई श्रीनिवास का फ़ोन आया कि बापू नहीं रहे। यद्यपि बुद्धि इस दुस्संवाद के लिए तैयार हो चुकी थी, फिर भी मन एक साथ चीत्कार कर उठा। तैयार होने में मुझे थोड़ी देर लगती है; पर चि० सुमित्रानन्दन ने मुझसे कह दिया था कि कक्का (आदरणीय श्री चारुशीलाशरण) मेरे पहुँचने के बाद ही बापू को लेकर दिल्ली से रवाना होंगे। अतः मैं अपनी तरफ़ से जल्दी-से-जल्दी तैयार होकर कुछ सहयोगियों के साथ सर गंगाराम अस्पताल पहुँचा। किन्तु वे लोग तब तक दद्दा के दिल्ली-आवास ३५ मीनाबाग़ जा चुके थे। हम लोग भी पन्द्रह मिनट में वहाँ पहुँच गये। देखा कि वे केवल मेरे लिए ही रुके हुए हैं। बापू का शव गाड़ी में रखा जा चुका था—पीछे की सीट पर अपने भैया के सिर को गोद में लेकर कक्का बैठे थे—पैर कक्की ने अपने हाथ में लिये हुए थे। आगे की सीट पर चि० सुमित्रानन्दन और चि० श्रीकण्ठ थे—व्हील पर थे चि० उर्मिलाचरण। मुझे देखकर कक्का बोले—डॉक्टर साहब, हम आपके ही लिए रुके हुए थे। मैं

पूरी शक्ति लगाकर स्थिति को सँभालने का प्रयत्न कर रहा था—वे लोग तो सभी जैसे हतज्ञान हो चुके थे। कक्का के लिए 'भैया' अग्रज, अभिभावक, गुरु और मित्र सब कुछ थे। ऐसा लगता था मानो अपनी सम्पूर्ण भावना के साथ-साथ विचारणा भी वे भैया को समर्पित कर चुके थे। जीवन में चिररुग्ण भैया के लिए कर्म का पूरा दायित्व उन्होंने अपने ऊपर ले लिया था और बदले में विचार का सम्पूर्ण दायित्व उन्हें सौंपकर वे निश्चिन्त हो गये थे। इसलिए भैया के न रहने पर वे एकदम असहाय से हो रहे थे और उस समुदाय में सबसे बड़े होने पर भी अपने स्वभाव और अभ्यास के कारण वे व्यवस्था आदि के लिए आदेश देने की अपेक्षा आदेश पाने की प्रतीक्षा करते रहते थे। अन्त में उन्होंने कह दिया कि जैसा डॉ० नगेन्द्र कहें वैसा ही किया जाए। करना ही क्या था—करने को रह ही क्या गया था? घर की मरकरी फ़ोर्ड गाड़ी जो शायद एक-डेढ़ वर्ष पूर्व बापू के ही प्रस्ताव पर खरीदी गयी थी, शव-यात्रा की शिविका बनी—साथ में एक टैक्सी कर दी गयी जिसमें शेष परिवार जन—भाई रघुवीरशरण, भाई श्रीनिवास—परिवारभुक्त वैद्य मुंशी देशराज आदि बैठ गये। प्रस्थान का दृश्य अत्यन्त कारुणिक था—गाड़ियाँ चलते ही सभी लोग ज़ोर-ज़ोर से रोने लगे। अपने जीवन में इतने असंयत भाव से मैं कभी नहीं रोया। मेरे मन में यह भावना रहती है कि प्रत्येक मनुष्य के राग-द्वेष और हर्ष-विषाद उसकी व्यक्तिगत अनुभूतियाँ हैं—सार्व-जनिक रूप में उनकी अभिव्यक्ति प्रदर्शन बन जाती है जो किसी भी रूप में वांछनीय नहीं हो सकती। इसीलिए अपने राग की अप्रच्छन्न अभिव्यक्ति में भी मुझे उतनी ही लज्जा और संकोच का अनुभव होता है जितना कि द्वेष और मत्सर की मुक्त अभिव्यक्ति में। न जाने क्यों मेरे मन से यह सामन्तीय संस्कार अब भी नहीं निकल पाता है कि पुरुष को नहीं रोना चाहिए। इसलिए मैं ऐसे अवसरों को, जबकि भावना का नियन्त्रण करने की सम्भावना नहीं होती, बचाने का प्रयत्न करता हूँ और जहाँ यह नहीं हो पाता वहाँ मुझे बाद में मन ही मन लज्जा का अनुभव करना पड़ता है। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में ये सभी मनोवैज्ञानिक प्रतिबन्ध टूट गये—मीनाबाग़ का प्रांगण अनेक प्रौढ़जनों और वयस्कों के क्रन्दन से भर गया। श्रीनिवास, ऊर्मिल और मैं ज़ोर-ज़ोर से रो उठे—कक्का, सुमित्रा आदि का रुदन नीरव था। बापू को लेकर गाड़ी चल दी; तभी मुझे याद आया कि राजघाट के दर्शन कर उनकी आत्मा को विश्रान्ति मिलेगी। इसीलिए मैंने भागते-भागते ऊर्मिलजी से कह दिया कि गाड़ी को राजघाट के सामने से होकर ले जाना।

मरकरी फ़ोर्ड भरभराकर चली गयी। ६०-६५ मील की रफ़्तार से चल कर २ बजे तक बापू का शवयान चिरगाँव पहुँच गया और उसके एक घण्टे पीछे टैक्सी भी शेष परिजनों को लेकर पहुँच गयी। २९ मार्च, १९६३ को सन्ध्या के ७ बजे चिरगाँव में ही कनकनेवंश की परम्परागत श्मशान भूमि में बापू के पार्थिव अवशेष अग्नि को समर्पित कर दिये गये और २ अप्रैल को श्री चारुशीलाशरण एवं चि० सुमित्रानन्दन गुप्त, चि० ऊर्मिलजी तथा कण्ठजी उनके फूलों को श्री अयोध्याजी एवं प्रयाग जाकर विसर्जित कर आये। बापू की सौम्य मुखाकृति और उसमें से झाँकती हुई स्नेह-सिक्त आँखें मेरे सामने निरन्तर घूमती रहीं। कई बार इच्छा हुई कि चिरगाँव जाकर अन्तिम संस्कारों में भाग लूँ पर चेतना इतनी शिथिल हो गयी थी कि कुछ करने का साहस ही नहीं हुआ।

चित्त बड़ा उदास रहा। बार-बार मन में आता था कि बापू न जाने क्या कहना चाहते थे। कभी-कभी यह ग्लानि होती थी कि मैं उनकी अन्तिम आज्ञा नहीं सुन सका। उस उदासी में अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क मेरे मन में उठते रहते थे। धीरे-धीरे समय बीता। शुद्धि के बाद बापू का रिक्थ पत्र खोला गया तो मालूम हुआ कि उसमें २०,०००) रुपये की राशि एक पुरस्कार के लिए नियोजित की गयी है; पुरस्कार का नामकरण दद्दा के नाम पर किया गया है और उसके चार न्यासियों में मेरा भी नाम है। इस दूसरे तथ्य के उद्‌घाटन से मेरी कल्पना को विराम मिला; कदाचित् इसी संदर्भ में वे मुझे बार-बार याद कर रहे थे।

× × ×

सियारामशरणजी चले गये। जिसका जाना निश्चित हो उसे कौन रोक सकता है? फिर भी मनुष्य अपनी आदत से मजबूर है। मृत्यु के बाद भी मानव-मन वैचारिक पोस्टमार्टम करता रहता है। तर्क-वितर्क का वह क्रम अभी टूटा नहीं है। अभी कुछ दिन पहले हम लोग झाँसी में ही थे। वैद्य देशराजजी और कक्का हमें छोड़ने स्टेशन आये हुए थे। स्वभावतः बापू के निधन का प्रसंग छिड़ गया।

मैंने कहा—मेरे मन में बार-बार यह आता है कि डॉक्टर ने पूरे ओषधि-बल से हृदय-रोग पर आक्रमण कर उसे तो वश में कर लिया, किन्तु जिस शरीर पर वे उन तीव्र ओषधियों का प्रयोग कर रहे थे वह अनेक रोगों के निरन्तर प्रहार से पहले ही जर्जर हो चुका था। परिणाम यह हुआ कि नया रोग तो काबू में आ गया पर पुराने रोग पूरे वेग से उभर आये और अन्त में

आन्त्रिक अवरोध ही उनकी मृत्यु का कारण बना। मेरा यह विश्लेषण एक सामान्य जन का विश्लेषण मात्र है। शायद एकदम ग़लत भी है; क्योंकि सम्भावना यही थी कि हृद्रोग पर तुरन्त ही क़ाबू किये बिना उनकी मृत्यु उसी के कारण हो जाती। हम सबकी ही डॉक्टर की योग्यता और सद्भाव में पूर्ण आस्था रही है और आज भी है, फिर भी मेरे मन से यह बात नहीं जाती—अतिस्नेहः पापशंकी। उस दिन भी मैंने यही बात कही।

यद्यपि वैद्यजी ने मेरे विचार के साथ कुछ सहमति प्रकट की, पर कक्का ने कहा—कुछ भी हो भैया आगे जी नहीं सकते थे। और फिर, अलग ले जाकर बोले—'मृत्यु के कुछ समय पूर्व भैया ने मुझसे पूछा था कि तुम्हारी भाभी किस दिन गयी थीं। ऐसा प्रश्न उन्होंने जीवन में पहली बार किया था और मेरा मन एक अतर्क्य विषाद से भर गया था। इसके अतिरिक्त एक कारण मेरे इस विश्वास का और भी है—जिन दिनों भैया 'गोपिका' के अन्तिम अंश लिख रहे थे, उनकी मनःस्थिति कभी-कभी ऐसी हो जाती थी कि मुझे अनायास ही यह भान होने लगता था मानो 'गोपिका' पूरी करने के बाद वे नहीं रहेंगे—और मन यही चाहता था कि किसी-न-किसी बहाने से 'गोपिका' समाप्त न हो।'

ये दोनों ही कारण तर्क-सम्मत नहीं थे और सामान्यतः मेरा विवेक उन्हें स्वीकार न करता; परन्तु मेरी अन्तरात्मा उनका प्रतिवाद न कर सकी—मन, वचन से भैया के साथ पूर्ण ऐकात्म्य स्थापित कर लेने वाले अनुज की प्रतीति को झुठलाने का साहस मुझे नहीं हुआ।

मौत की परिधि में

[रामकिशोर द्विवेदी]

२६ मार्च, १६६३, आज सुबह से ही मन न जाने कैसा हो रहा है। जैसे किसी आत्मीय के न रहने पर उदासी और विरसता के बादल दिमाग में छा जाएँ और उन बादलों के बीच एक अजीब-सी टीस रह-रहकर बिजली की चमक की तरह लगे। दूर भूत में लटका हुआ विस्मृति का झीना-सा पर्दा हिलता दिखता है और उस पर्दे के पीछे दिखता है एक धुँधला-सा दृश्य।

दरियागंज (दिल्ली) स्थित 'पूर्वोदय प्रकाशन'! समय, १६६१ की कोई एक ढलती दुपहरी। पहली मंजिल पर बने प्रकाशन-कार्यालय की बालकनी पर एक मूँज की अन-बिछायी खाट पड़ी हुई है। उसमें बैठे हुए हैं प्रकाशन के मालिक सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्रकुमार। चारपाई पर बहुत से सन्तरे पड़े हुए हैं। चारपाई के सिरहाने रखी कुर्सी पर आसीन हैं एक दूसरे वयोवृद्ध सज्जन। कद छोटा, रंग साँवला तथा बदन पर खद्दर की धोती और कुर्ता। चेहरे की झुरियों के भीतर से झाँकती हुई एक बच्चे की-सी सरलता सहसा अपनी ओर आकर्षित करती है। श्री मोहनसिंह सेंगर ने परिचय कराया है—'आप हैं सियारामशरणजी और आप हैं डॉक्टर······ पास ही के आँख के अस्पताल में काम करते हैं।' और···और फिर क्षणों का परिचय मानो बरसों पुराना हो गया हो। बातचीत जारी है। सहसा उनके चेहरे पर एक अजीब-से विवशताजन्य दर्द की छाया जरा देर के लिए दृष्टिगत होती है। 'भैया, मुझे तो बहुत पुराना दमा है। मैं तो होमोराड पास ही रखता हूँ। जब कभी जरूरत हुई, तो चुरुट बनाकर पी लेता हूँ। एक बार तो इस रोग ने मरणासन्न कर दिया था, और जैनेन्द्रजी की शुश्रूषा का ही फल है कि मैं आज यहाँ बैठा हूँ।' अक्सर दर्द-कथाएँ डॉक्टरों पर विशेष प्रभाव नहीं डालतीं, क्योंकि ऐसे किस्से सुनना उनके लिए रोजमर्रा का काम हो जाता है। किन्तु यह कथा कुछ ऐसी निश्छलता और आत्मीयता के साथ सुनायी गयी है कि प्रभावित किये बगैर नहीं रहती। गुप्तजी पूर्ण वैष्णव तथा सात्विक वृत्ति वाले कवि हैं। वे केवल लेखन में ही नहीं, बल्कि जीवन में,

व्यवहार में भी पूर्णतः गांधीवादी हैं। ठीक-ठीक याद तो नहीं, लेकिन इसी बीच सेंगरजी, जैसा कि उनकी आदत है, कोई फुलझड़ी दाग़ देते हैं। सब लोग हँस पड़ते हैं और साथ ही गुप्तजी भी। एक सहज और निश्छल हँसी, भीतर-बाहर को मिलाती हुई हँसी।

विस्मृति का झीना पर्दा और करीब आता है और एक दृश्य स्पष्टतः नज़र आता है। २५ फरवरी, १९६३, दोपहर ढले तीन का समय। नई दिल्ली स्थित नेशनल म्यूजियम तथा विज्ञान भवन के बीच का फासला। विज्ञान भवन की ओर से आते हुए दीखते हैं श्री सियारामशरणजी। वे पूर्ण स्वस्थ दिखते हैं। खादी की पोशाक, सहज, सरल चाल और निरभिमान व्यक्तित्व। 'नमस्कार गुप्तजी !' एक करबद्ध नमस्कार का एक करबद्ध विनम्र उत्तर—'नमस्ते भय्या।' और उनकी आँखें सहजभाव से पूर्व-परिचित चेहरे पर कुछ खोजने-सा लगती हैं। 'पहचाना आपने मुझे ?' 'हाँ, आप डॉक्टर··· ?' हाँ, मैं डॉक्टर द्विवेदी हूँ। जैनेन्द्रजी के यहाँ एक बार आपसे मिला था। आजकल आप यहीं हैं ? दद्दा के साथ ठहरे होंगे।' 'हाँ भय्या, मैं यहीं हूँ।' 'अच्छा आज मैं आज्ञा लूँगा, तीन बजे विज्ञान भवन पहुँचना था, लेट हो गया हूँ। फिर दर्शन करूँगा। अच्छा, नमस्कार !' और इतना कहकर मैं विज्ञान भवन की ओर सरपट बढ़ जाता हूँ और सोचता जाता हूँ। इतना विनम्र और सौम्य व्यक्तित्व ! मानो मूर्तिमान सौम्यता हो।

क्या करेगा वैद्य अब आकर भला ?

विस्मृति का पर्दा हट जाता है। २८ मार्च, रात के ८ बजे हैं। सर गंगाराम नर्सिंग होम का ८ नम्बर का कमरा है। कमरे के भीतर श्री सियारामशरणजी अचेत पड़े हुए जल्दी-जल्दी साँस ले रहे हैं। दायें हाथ में इण्ट्रावेनस ग्लूकोज की ड्रिप लगी हुई है। नाक में लगी नली के द्वारा ऑक्सीजन दी जा रही है। पेट कुछ फूला हुआ-सा जिसमें चौड़ी पट्टी बँधी हुई है। कुछ लोग शय्या की बगल में बैठे तथा कुछ लोग कमरे में खड़े हैं। बगल में रखी डॉली के ऊपर पोटेसियम क्लोराइड, माइकोरन, डिजाक्सिन, हाईड्रोकॉर्टिजोन आदि के इन्जेक्शन तथा कुछ और दवाइयाँ पड़ी हुई हैं। कमरे में मौत का-सा सन्नाटा है। बीच-बीच में कुछ लोग आपस में बातें करने लगते हैं। मैंने डरते हुए उनके पेट पर हाथ रखा है जो कि सख्त हो रहा है। आदतवश मेरा हाथ दायें हाथ की नाड़ी तक पहुँचता है। उनका हाथ ठण्डा हो रहा है। नाड़ी कुछ कमजोर और गति में तेज है और एक अजीब से विषाद का एहसास कराती है जो कि अक्सर मृत्यु के पहले होता है। मुझे अपनी हरकत खुद को कुछ अजीब व

नाटकीय-सी लगती है। मैंने वहाँ खड़े सज्जन से उनकी बीमारी के बारे में कुछ पूछ-ताछ की है और पुनः व्याधि-जर्जर कवि के चेहरे पर एक निगाह डाली है। सारे वातावरण में असहायता का भाव है। शायद ठीक वैसा ही एहसास जो कि कभी 'प्रयाणोन्मुखी' कविता लिखने के पूर्व कवि को हुआ था, वहाँ मौजूद सभी लोगों को हो रहा है :

क्या करेगा वैद्य अब आकर भला,
मृत्यु ने जब आ दबाया है गला।

किन्तु मरणोन्मुख कवि के चेहरे पर एक निश्चिन्तता का भाव है क्योंकि शायद वह जानता है कि उसका अन्त कभी नहीं होने वाला। मानो वह अव्यक्त रूप से काल को चुनौती दे रहा हो :

अमर हूँ मैं ओ काल कराल,
कर सकेगा तू क्या मेरा,
रहूँगा जीवित मैं चिरकाल,
व्यर्थ यह भ्रू-कुंचन तेरा ?

[पाथेय में संकलित 'अमर' शीर्षिका कविता से]

ज्यादा देर कमरे में ठहरना न जाने क्यों मेरे लिए असम्भव-सा हो गया है और मैं बाहर निकल आया हूँ। कमरे के बाहर बहुत-से लोग खड़े हैं जिनमें कुछ हिन्दी के कवि व प्रकाशक तथा गुप्त परिवार के सदस्य हैं। श्री यशोधर मोदी, रामावतार त्यागी, श्याममोहन श्रीवास्तव, द्वारकादास व अन्य कई परिचित घेरकर पूछते हैं—भाई डॉक्टर, क्या हालत है ? शायद सबका अन्तर्मन कुछ शुभ सुनना चाहता है। और मैंने न चाहकर भी प्रोफेशनल अन्दाज में कहा है : 'प्रोग्नोसिस इज वेरी ग्रेव' (स्थिति बड़ी गम्भीर है) उफ ! हम कितने असहाय हैं। मृत्यु के आगे हमारा कोई वश नहीं ! असंख्य प्रियजनों की मंगल कामनाएँ, सारे वैज्ञानिक उपकरण एक आदर्श सर्वप्रिय व्यक्ति को सुरक्षित रखने में असमर्थ हैं।

रात गये हम सब अपने-अपने घर लौट आते हैं।

और २९ मार्च आज प्रातः ही एक प्रत्याशित किन्तु हृदय-द्रावक समाचार सुनने को मिला है। स्वजन दुखी हैं—राजधानी के लोग दुखी हैं—सारा हिन्दी-जगत दुखी है। साहित्यकार श्री सियारामशरण गुप्त नहीं रहे। गांधी-दर्शन का एक अनूठा भावात्मक व्याख्याता संसार से उठ गया है। आज सारे वातावरण में उदासी और विरसता छायी हुई है।

और विलिंगडन अस्पताल की वह रात

स्व० सियारामशरणजी बचपन से ही दमे के शिकार थे और ६७ वर्ष की अवस्था तक इस पूर्णरूप से असाध्य रोग को ढोते आये। दमा के दौरे की तीव्रता एवं तज्जन्य मानवी वेदना का एहसास वही कर सकता है जो उसे भोगता है। दीर्घकालिक श्वास रोग से ग्रस्त होने के कारण आहिस्ता-आहिस्ता उनके फुफ्फुसों तथा उनसे सम्बन्धित रक्तवाहिनियों में कुछ ऐसे परिवर्तन हुए, जिनके कारण उन्हें पुराना फुफ्फुसजन्य हृद्रोग अर्थात् क्रॉनिक कॉरपल्मोनेल हो गया। कॉरपल्मोनेल में हृदय की दाहिनी मेण्ट्रीकल मूलतः प्रभावित होती है। करीब ६ साल पूर्व उन्होंने प्रोस्टेट का आपरेशन करवाया था। आपरेशन पेट के निचले हिस्से के बीचो-बीच चीरा लगाकर हुआ था। बाद में चीरे की जगह पर उन्हें हर्निया हो गया। इस रोग को भी वे ढोते चल रहे थे। दिल्ली में उनके चिकित्सक थे सिटी क्लिनिक वाले डॉ० दीवान। और वे बरसों से उनका इलाज करते आ रहे थे। क्रॉनिक कॉरपल्मोनेल तथा दमे का इलाज, जो कि शायद जीवन के अन्त तक चलता रहना है। दमे के दौरे के लिए गुप्तजी होमोराड (?) नामक किसी चीज का चुरुट बनाकर पिया करते थे। गोकि यह चीज उनके लिए हानिकारक थी पर डॉ० दीवान उन्हें इसके लिए कभी रोक नहीं सके। क्योंकि इस पर उनका विश्वास था। और डॉक्टर उनके विश्वास पर किसी प्रकार भी आघात नहीं करना चाहता था, क्योंकि वे (बकौल डॉ० दीवान) साधारण आदमी नहीं थे। डॉ० दीवान की उनके प्रति श्रद्धा थी और डॉ० दीवान पर उनकी प्रगाढ़ आस्था और विश्वास।

इलाज की पहली शर्त है मरीज का डॉक्टर पर पूर्ण विश्वास व आस्था। डॉक्टरों की अर्थलोलुपना और कर्तव्यहीनता पर 'डॉक्टर' जैसी व्यंग्यात्मक कविता के द्वारा प्रहार करने वाला स्वाभिमानी कवि किसी एक डॉक्टर पर अटूट विश्वास रखे यह जरा भी आश्चर्य की बात नहीं है। क्योंकि वे कवि के साथ-साथ एक आदर्श पुरुष, आदर्श मरीज थे। डॉक्टर दीवान पर उनके अटूट विश्वास का कारण एक कहानी है और वह कहानी डॉ० दीवान की जुबानी कुछ यूँ है :

सन् ५८ की बात है। दद्दा (मैथिलीशरण गुप्त) 'यूरीमिया' तथा 'कॉरोनरी' के शिकार होकर विलिंगडन अस्पताल में भरती हुए थे। डॉ० दीवान उन दिनों सरकारी नौकरी पर वहीं थे। दद्दा के बचने की कोई उम्मीद नहीं थी, किन्तु डॉ० दीवान का भाग्य कि वे वहाँ से चलकर आये। तभी से सारा गुप्त परिवार डॉक्टर दीवान का हो गया। मृत कवि का विश्वास भी डॉ० दीवान का हो गया।

मृत्यु के दस दिन पूर्व उन्हें हृत्शूल शुरू हुआ। डॉ० दीवान ने उचित इलाज के लिए उन्हें गंगाराम अस्पताल में भर्ती कर लिया। इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम लिया गया। उसमें कॉरपलमोनेल के अतिरिक्त मामूली से हृत्पेशी-रक्ताल्पता के लक्षण दिखे। इनका इलाज किया जाता रहा। डिजॉक्सिन, मूत्रवर्द्धक दवा, ऑक्सीजन आदि दी जाती रहीं, किन्तु हालत और बिगड़ती ही गयी। डॉ० दीवान ने उनसे कहा कि दूसरे डॉक्टर को मशविरे के लिए बुला लें। उत्तर मिला : "हमें आपके इलाज की पूर्णता और योग्यता पर पूरा विश्वास है।" आखिर हालत बदतर होती गयी। एक दिन सारे वदन में ऐंठन शुरू हुई, कई बार कै हुई और वे बेहोश हो गये। डॉ० दीवान ने अपनी ओर से डॉ० शर्मा को बुलाया। दुबारा इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम लिया गया। उसमें पोटेसियम की कमी के लक्षण दिखे। उन्हें ड्रिप के द्वारा पोटेसियम दिया जाने लगा। शायद पोटेसियम की कमी के कारण ही उनकी आँतें क्रियाहीन हो गयीं और पेट फूल आया। पोटेसियम की कमी तो नियंत्रण में आ गयी, किन्तु मौत किसके नियन्त्रण में आ सकती है। इसी बीच गुर्दा-दोष पैदा हो गया। और इतना ही नहीं, मृत्यु के दो दिन पूर्व बेहोशी की हालत में ही दमे का आखिरी भयंकरतम दौरा शुरू हुआ। ऐसा दौरा जो कि हर सम्भव इलाज के बावजूद नहीं रुका। डॉ० दीवान का केस बहुत ही जटिल था। वे किसी तरह भी अपने प्यारे मरीज को नहीं बचा सके। उन्हें यह मरीज खोकर जितना दुख हुआ शायद और कभी नहीं हुआ!

स्वार्थों की कुर्बानी : विषमताओं का हलाहल

सियारामशरणजी आज मरकर भी अमर हैं। वे हिन्दी साहित्य में गांधीवादी विचारधारा के अग्रणी कवि, कहानीकार व लेखक थे। गांधीवादी होने के नाते सत्य, अहिंसा और शान्ति के पुजारी थे, किन्तु वे ऐसी शान्ति को कभी बर्दाश्त नहीं कर सकते थे, जो किसी दुर्दम सत्ता के आगे घुटने टेककर माँगी जाए। कायर बनने से बेहतर है शस्त्र उठाया जाए और शान्ति हासिल की जाए। 'पाथेय' में संकलित 'शंखनाद' नामक कविता में वे कहते हैं :

'यह मृत-शान्ति असह्य हो उठी,
छिन्न इसे कर दे तू आज,
मृत्युंजय इस घट में अपना
कालकूट भर दे तू आज,
ओ कठोर, तेरी कठोरता
कर दे हमको कुलिश-कठोर,
विचलित कर न सके कोई भी
झंझा की दारुण झकझोर।'

देश की वर्तमान संकटकालीन स्थिति में गांधी-दर्शन के अमर गायक का यह उद्घोष प्रेरणादायक है और मार्गदर्शक भी ।

गुप्तजी आदर्शवादी थे, केवल लेखन में ही नहीं, बल्कि व्यक्तिगत जीवन में भी । वे बाहर-भीतर से एक जैसे थे । आज के कुछ हिन्दी साहित्यकारों के निकट सम्पर्क में जो साधारण व्यक्ति आता है वह यह महसूस करता है कि ये ईर्ष्या, द्वेष, संकुलता, बहुरूपियापन आदि दुर्गुणों से मुक्त नहीं हैं । आखिर ऐसा क्यों है ? समाज के नेतृत्व का भार ढोने वाले इन साहित्यकारों का पारा मानवीय मूल्यों के बैरोमीटर में इस हद तक तलस्पर्शी क्यों है ? कारण कुछ भी हो सत्यं-शिवं सुन्दरम् की सर्जना के लिए हमें व्यक्तिगत जीवन में इस स्थिति से ऊपर उठना होगा । मानवीय मान्यताओं के प्रति अपनी आस्था व्यक्त करनी होगी । क्षुद्र स्वार्थों की कुर्बानी देनी होगी । विषमताओं का हलाहल पीना होगा । साहित्यकार का पथ काँटों का पथ है, आदर्श का पथ है । सियारामशरणजी के आदर्श जीवन से हमें सीख लेनी चाहिए । शायद साहित्य के अखाड़े के नवागन्तुकों को ही इंगित करके यशलब्ध कवि ने कहा है :

'आ सकेगा नर वही मेरे निकट
क्रूस जो अपना उठाकर चल सके ।'

['अमृत पुत्र' से]

अन्तिम दर्शन

[डॉ० सावित्री सिन्हा]

लगभग दस वर्ष पूर्व, नार्थ एवेन्यू में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के निवास-स्थान पर मैं धड़कते हृदय और संकोच के साथ खड़ी थी। 'साकेत और यशोधरा' के कवि मैथिलीशरणजी के दर्शन की कामना से मैं पहली बार उनके यहाँ गयी थी। दरवाजा थपथपाकर मैं उसके खुलने की प्रतीक्षा कर रही थी कि दूसरी ओर का कमरा खुला। सामने के सोफे पर बैठे हुए दद्दा कुछ पढ़ रहे थे और बापू उन्हीं के पास की कुर्सी पर मौन बैठे हुए थे। मैं उनकी आश्चर्यजनक सहजता और सादगी की भव्यता से अभिभूत निर्निमेष खड़ी रह गयी। अभिवादन के लिए मेरे हाथ उठे उसके पहले ही बापू हाथ जोड़कर खड़े हो गये। मेरी समझ में नहीं आया इस विनम्र गरिमा को अपनी तुच्छता से कैसे सँभालूँ। मैं सहसा ही राम और गांधी के इन उपासकों के चरणों पर झुक गयी।

अवहेलना किये जाने पर भी शान्त

पहली ही बार दद्दा और बापू के स्नेह और वात्सल्यपूर्ण व्यवहार से मुझे इतना प्रोत्साहन मिला कि अपनी तुच्छता को उनके घर के महत वातावरण के अनुपयुक्त समझते हुए भी मैं उनके दर्शन का लोभ संवरण नहीं कर पाती थी और प्रायः हर तीसरे दिन उनके यहाँ पहुँच जाती थी। एक घटना से मैं बापू के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आयी। उनके अनुज श्री चारुशीलाशरण की पुत्रवधू भारती कुछ अस्वस्थ थीं, उन्हें अपनी चिकित्सा और परीक्षण के लिए प्रायः नित्य ही एक स्थानीय अस्पताल में जाना होता था। दद्दा ने कृपापूर्वक यह कार्य मुझे सौंपा। 'बापू' भी उनके साथ आते थे। मैं भारती को लेकर अन्दर जाती और बापू बाहर गाड़ी में बैठे प्रतीक्षा करते रहते। एक दिन बापू और भारती वहाँ मुझसे पहले पहुँच गये। मैं पहुँची तो देखा बापू की साँस फूल रही है और वह अटक-अटककर, हाँफ-हाँफकर ड्यूटी-नर्स से कुछ बात कर रहे हैं। मेरे तो प्राण सूख गये। सार्वजनिक अस्पताल की नर्सों के लिए उच्चता का मापदण्ड व्यक्ति की वेशभूषा और अंग्रेजियत होती है; कहीं बापू

की सरलता और भारतीयता के कारण वह उनके साथ कोई गलत व्यवहार न कर दे, इस भय से भागती हुई उनके पास पहुँची; नर्स को बताया कि वह कौन हैं। अंग्रेजी में बातचीत कर अपना प्रभाव डाला। बापू ने जेब से निकालकर सुशीला नय्यर का पत्र दिखाया, जो उन्होंने अस्पताल की संरक्षिका के नाम लिखा था। मेरी अंग्रेजी बोलने की सामर्थ्य और डॉ० सुशीला नय्यर के पत्र को देखकर नर्स की भौंहों के बल कुछ कम हुए। मेरी जान में जान आयी और मैंने सोचा कि न जाने कब तक भारत के मनीषी, साहित्य-कार, दार्शनिक और कवि को राजनीतिक नेताओं की पकड़ाई हुई लकड़ी के सहारे चलना पड़ेगा; न जाने कब तक केवल हिन्दी बोलने का अपराध करने वाले महान् साहित्यकारों के अपमान की आशंका बनी रहेगी! पर बापू पर इस घटना का कुछ प्रभाव नहीं पड़ा, उनकी सहज मुस्कान में कहीं वक्रता नहीं आयी। सतत शारीरिक पीड़ा से धुँधले नेत्रों की चमक और स्निग्धता वैसी ही बनी रही।

प्रशंसा करते थे तो किये जाते थे

बापू दूसरों की प्रशंसा करते हुए तिल का ताड़ बना देते थे। कभी-कभी उनके मुँह से अपनी प्रशंसा सुनने वालों को बड़े संकोच में पड़ जाना पड़ता था। एक ही घटना को वह अनेक व्यक्तियों से अनेक बार दुहराते थे। मुझे यह सौभाग्य अनधिकार ही प्राप्त हो गया। एक दिन भारती डाक्टर के कमरे में थी, मैं भी; और बापू बाहर प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने मुझसे पूछा—"आप कौन-सी कक्षाओं को पढ़ाती हैं ?"

मैंने उत्तर दिया—"एम० ए० और बी० ए० को।"

बापू आश्चर्य में आकर सहजता से बोले—"मैं तो समझता था, आप अध्यापिका हैं, प्राइमरी और मिडिल कक्षाओं को पढ़ाती होंगी।"

उनकी सरलता से मैं गद्गद हो गयी। किसी भी इन्टरव्यू बोर्ड का यह रिमार्क मुझे विश्वविद्यालय तो क्या किसी कालेज की नौकरी के उपयुक्त भी न ठहराता, लेकिन बापू के मुँह से अपने व्यक्तित्व के इस मूल्यांकन से मैं अपनी ही दृष्टि में कुछ ऊँची हो गयी। गलत या सही, यह नहीं कह सकती।

कुछ ही दिनों बाद उन्होंने मुस्कराते हुए पूछा—"आप डॉक्टर भी हैं ?" मैंने संकोच से सिर हिलाकर उत्तर दिया—"हाँ।"

"आपने मुझे उस दिन क्यों नहीं बताया था ?"

"आपने मुझसे पूछा कहाँ था, बापू !" मैंने कहा।

और उस दिन से मेरी 'आत्मगोपन शक्ति' की जो अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा

बापू करते, उससे उनकी महानता, सरलता और ऋजुता के अनुभव से मैं मन-ही-मन विभोर हो उठती। आज भी उनके शब्द आँखों में आँसू बनकर बिखर जाते हैं।

एक दिन की बात है, बापू अपने किसी मित्र की गाड़ी में विश्वविद्यालय आये हुए थे। ड्राइवर को गाड़ी लौटाकर ले जाना था। बापू गाड़ी से उतरे, हाथ जोड़कर ड्राइवर से बोले—"अच्छा, नमस्ते ड्राइवरजी! आपको बड़ा कष्ट हुआ।" मैं उनका मुँह देखती रह गयी। सलामी देने का आदी ड्राइवर आश्चर्यचकित उनकी ओर देखता ही रह गया। उसे भी कदाचित् यह पता नहीं होगा कि उसके प्रति इतनी कृतज्ञता व्यक्त करने वाला यह व्यक्ति सरस्वती का वरद् पुत्र है, हिन्दी का मूर्धन्य साहित्यकार है, मानवतावाद को अपने व्यक्तित्व में उतार लेने वाला साधक और द्रष्टा है। उसका समाधान तो शायद बापू के गले में पड़ी हुई तुलसी की माला, खद्दर के मोटे कुरते, सूखे विखरे सफेद बालों और मोटे चमड़े के जूतों ने किया होगा।

दूसरे ही क्षण यह सन्त मानव अपने वात्सल्य से बापू नाम को सार्थक कर रहा था। विश्वविद्यालय से लौटते हुए वह डॉ० नगेन्द्र के घर पर थोड़ी देर के लिए रुके। उनकी लड़की प्रतिमा को बुलाकर उन्होंने कहा—"आज यमद्वितीया है, मुझे टीका नहीं लगाओगी?" सहज संकोचशील प्रतिमा बोली—"टीका तो भाई को करते हैं, आप तो बापू हैं!" परन्तु बापू टीका लगवाकर और मिठाई के रुपये देकर ही माने।

'गोपिका' पूरी हो गयी किन्तु...

इस बार जब बापू दिल्ली आये, उनका स्वास्थ्य आरम्भ से ही ठीक नहीं था। वह प्रायः नित्य ही अपने अस्वस्थ होने की बात कहा करते थे। एक दिन वह कुछ स्वस्थ थे। उन्होंने मुझसे कहा—" 'गोपिका' पूरी हो गयी है, आप इसकी पाण्डुलिपि ले जाइए और पढ़कर बताइए इसमें कुछ दोष तो नहीं है?"

"बापू! आप क्या कहते हैं! मैं आपकी कृति में दोष निकालने योग्य हूँ?"

"नहीं, नहीं, मेरा मतलब है पढ़ो और बताओ तुम्हें कैसी लगी। और क्यों? उन्मुक्त की अहिंसा तो आपको पसन्द नहीं है न, हो सकता है इसमें भी कुछ ऐसी ही बात हो, जिससे आप सहमत न हों।"

मैं 'गोपिका' की पाण्डुलिपि ले आयी, परन्तु उसके विषय में बापू से कह सकूँ कि उनकी रचना हिन्दी के लिए एक नयी घटना है, ऐसा अवसर नहीं आ पाया। तीसरे ही दिन बापू अस्पताल चले गये। तीन दिन तक उनकी अवस्था बड़ी चिन्ताजनक रही। वह ऑक्सीजन के सहारे साँस ले रहे थे, परन्तु थे

चेतनावस्था में। उनकी पीड़ा और वेदना देखी नहीं जाती थी। इन तीन दिनों में दद्दा की चिन्ताग्रस्त मुद्रा देखकर बड़ी चिन्ता होती थी, ऐसा लगता था कहीं वह भी बीमार न पड़ जाएँ। उनके गम्भीर धैर्य के आवरण में आवेष्टित व्यथा को समझकर जान पड़ता था, लक्ष्मण के शक्तिबाण लगने पर राम की भी यही दशा रही होगी। चौथे दिन बापू के मुख पर असाधारण शान्ति और प्रसन्नता थी। जैसे ही मैं उनके पास गयी, अपने नेत्रों में सहज स्नेह भरकर उन्होंने पूछा—"गोपिका पढ़ी।" लेकिन मैंने जो उत्तर दिया उसे न वह समझ सके, न सुन सके। मैं कुछ और बोलती, वह कुछ और सुनते। मुझे बड़ी निराशा हुई। तब तक सबका यही विश्वास था कि तेज दवाओं के कारण बापू की श्रवण-शक्ति अस्थायी रूप से समाप्त हो गयी है। डाक्टर भी पूर्ण रूप से आश्वस्त थे कि उनकी हालत सुधर रही है, उन्होंने दद्दा को चिरगाँव जाने की अनुमति दे दी। मैं लौटकर दरवाजे तक आयी कि उन्होंने मुझे पुकारा और पूछा—"दद्दा गये?" मैंने कहा—"नहीं तो, वह कल शाम तक जायेंगे। आपकी तबियत तो अब अच्छी है?" उन्होंने दो बार कुछ अनर्गल प्रलाप किया, मैं चौंकी। कहीं उनके मस्तिष्क में विकार तो नहीं आ गया है! उनकी आवाज में भी काफी तेजी थी। कक्का और मैं दोनों ही एक साथ बोल उठे—"बापू आप क्या कह रहे हैं?"

उन्होंने शान्त होकर बुन्देलखण्डी में उत्तर दिया—"पता नहीं, मेरी समझ में नहीं आता मैं क्या बोलता हूँ।"

मृत्यु का वह हृदयद्रावक रूप

उसके बाद वह विकार कान और मस्तिष्क ही नहीं, समस्त शरीर पर छा गया। कई बार बापू उठकर कमरे से निकलने लगते थे। २७ मार्च के अपराह्न में उन्होंने कहा—"डॉ० नगेन्द्र को फोन करके बुला दो।" लेकिन डॉ० नगेन्द्र के पहुँचने तक वह अन्तिम तन्द्रा में अचेतन पड़े थे, कुछ कहने-सुनने की शक्ति उनमें नहीं रह गयी थी, कभी-कभी 'श्री राम' और 'दद्दा' उनके मुँह से मुश्किल से निकलता था। 'बापू' पुकारने पर उनकी पथरायी हुई आँखें थोड़ी खुलतीं और फिर बन्द हो जातीं। २८ मार्च को मैं कई घण्टे उन के पास रही। नाक में ऑक्सीजन की नली सतत रूप से लगी थी, फलों का रस और ग्लूकोज नलियों से चढ़ाया जा रहा था—डाक्टर अन्तिम क्षण तक आशावान थे। बापू ने एक बार आँख खोली। मैं और गिरधारी (उनका पुराना सेवक) सामने खड़े थे, उन्होंने गिरधारी को ऐसे नेत्रों से देखा जैसे कोई विदा लेता हुआ पिता पुत्र को देख रहा हो, उनकी साँस ऊर्ध्वगति से

चल रही थी। मैं मृत्यु का यही रूप एक बार पहले देख चुकी थी, इसलिए मेरे मन की शंका बराबर बढ़ती ही जा रही थी। बापू की साँस धीरे-धीरे कम होती गयी, आँखों की चेतना लुप्त होती गयी, पर कोई यह विश्वास करने को तैयार न था कि बापू जा रहे हैं, हमारी आशाओं के विपरीत, और डाक्टरों के आश्वासन के विपरीत जा रहे हैं।

दद्दा के घर में बापू की गीता का नियमित रूप से पारायण होता है। स्वजन, परिजन, मित्र, नौकर-चाकर सब एक साथ बैठे उसका पाठ करते हैं। आज भी चिरगाँव में दद्दा का घर, बापू की दिवंगत आत्मा की शान्ति के लिए, बापू की ही गीता के स्वर से गूँज रहा होगा—

सर्व काम परित्यागी विचरे नर निःस्पृह,
अहंता-ममता मुक्त, पाता परम शान्ति सो !
ब्राह्मीस्थिति यही पार्थ, इसे पाके न मोह है,
टिकती अन्त में भी है ब्रह्मनिर्वाण दायिनी।

काश ! मैं भी वहाँ पहुँच पाती।

भाग २

आलोचना

सियारामशरण के ग्रन्थ

[श्री विद्याभूषण अग्रवाल, एम० ए०, साहित्य-रत्न]

गुप्त-बन्धुओं ने हिन्दी-संसार की जो सेवा की है वह अनेक दृष्टियों से विशेष महत्त्व रखती है। मैथिलीशरण की ही भाँति सियारामशरणजी की प्रतिभा भी बहुमुखी और उर्वर रही है। अनेक सुन्दर ग्रन्थों की रचना करके उन्होंने हिन्दी-साहित्य की वृद्धि की है।

सियारामशरण ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं; परन्तु ऐसे हिन्दी-पाठक अधिक नहीं होंगे, जिन्होंने उनके प्रायः सभी ग्रन्थों का अध्ययन किया हो। उनके ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य की स्थायी निधि हैं, किन्तु कुछ पाठक उनमें सरसता तथा प्रासादिकता का अभाव पाते हैं। कदाचित् यही कारण है कि उनके ग्रन्थों का पठन-पाठन क्षेत्र थोड़ा सीमित हो जाता है। हल्की मर्मस्पर्शिता के सहारे 'पापुलर' होने का लोभ सियारामजी पूरी तरह संवरण कर चुके हैं। उनके समस्त ग्रन्थों का सुचारु रूप से अध्ययन करने के लिए पर्याप्त अवकाश ही नहीं, जीवन की गहराइयों में जाने का धैर्य और अभ्यास भी अपेक्षित हैं। अधुनातम हिन्दी-साहित्य की थोथी भावुकता और सरसता पर पले हुए पाठक को आपकी रचनाओं का पाठ करने में कुछ न कुछ कष्ट प्रतीत होता है।

सियारामशरणजी ने विशेष ख्याति अपने उपन्यास 'नारी' के कारण पायी। फिर भी, कविता के क्षेत्र में जो कार्य आपने किया वह अमर और स्थायी है। यहाँ हम आपके प्रायः सभी ग्रन्थों की संक्षिप्त झाँकी पाठकों को देना चाहते हैं। हम क्रमशः आपके काव्य-ग्रन्थ, उपन्यास, कहानी, निबन्ध तथा नाटकादि का परिचय देंगे।

काव्य-ग्रन्थ

मौर्य-विजय (सं० १९७१)—सियारामशरणजी ने अपनी प्रारम्भिक प्रेरणा भारत के प्राचीन गौरव से ग्रहण की। राष्ट्र के निर्माण-कार्य में अतीत का गौरव-गान हमारे स्वतन्त्रता-युद्ध की परम्परा रही है। 'मौर्य-विजय' में कवि ने सिल्यूकस के भारत-आक्रमण की कथा को लिया है। कवि का ध्येय पाठक के हृदय में स्वदेशानुराग का उदय कर उसे अतीत गौरव से परिचित कराना

ही है। वह समझता है कि आत्म-विस्मृति ही देश की अवनति का मूल कारण है। इस काव्य की रचना तीन सर्गों में समाप्त हुई है।

यह द्विवेदी-युग के इतिवृत्तात्मक काव्य का सुन्दर उदाहरण है। कथा छप्पय छन्दों में कही गयी है जिससे प्रवाह में गति कुछ मन्द अवश्य हो उठती है। ग्रन्थ रामवन्दना से प्रारम्भ होता है। चन्द्रगुप्त मौर्य के ऐश्वर्यपूर्ण राज्य के वर्णन के पश्चात् कवि ने सिल्यूकस के आक्रमण को छन्द-बद्ध किया है। चाणक्य मन्त्री के आप्त वचन सुन्दर बन पड़े हैं। ग्रीक और हिन्दू-सेनाओं के भयंकर युद्ध का सुन्दर ओजस्वी वर्णन किया गया है। निम्नलिखित गीत में कवि ने तत्कालीन राष्ट्रीय जागरण को ध्वनित किया है :

जय जय भारतवासी कृती
जय जय जय भारत मही !

अन्त में सिल्यूकस की एथेना से चन्द्रगुप्त के विवाह का वर्णन है। 'मौर्य-विजय' राष्ट्रीय गौरव की भावना से ओत-प्रोत है। सुन्दर कथात्मक शैली में लिखे गये काव्य की दृष्टि से यह कवि की एक अमर कृति है।

अनाथ (सं० १९७४)—कवि का हृदय इस देश की घोर दरिद्रता और सामाजिक कुरीतियों से सदा प्रभावित रहा है। उसी प्रभाव का परिणाम है कि स्थान-स्थान पर सियारामशरणजी ने ग्रामीण-जीवन तथा उसके नारकीय जीवन के इतने मर्मस्पर्शी चित्र हिन्दी-साहित्य को दिये हैं। 'अनाथ' में कवि के सुकोमल हृदय का मार्मिक चित्र प्राप्त होता है। इसमें ग्रामीण-जीवन का एक करुण चित्र है, जिसमें ज़मींदारी-प्रथा, बेगारी तथा शोषण और पुलिस के हृदयहीन अत्याचारों की कहानी है। मोहन और उसकी स्त्री यमुना साधारण ग्रामीण हैं। उनका पुत्र मुरलीधर मृत्यु-शय्या पर निःसहाय अवस्था में पड़ा है। इस पृष्ठभूमि पर ज़मींदार के अत्याचार और पुलिस के हृदयहीन व्यापार मुखर हो उठते हैं। इस काव्य में उस समय की राजनीतिक स्थिति पर तीखा व्यंग्य है।

दूर्वादल (सं० १९७२–८१ की रचनाओं का संकलन)—यह काव्य-ग्रन्थ कवि के साहित्यिक विकास और प्रगति का परिचायक है। इसमें विभिन्न-विषयक रचनाओं का संग्रह है, जो कवि ने समय-समय पर अपने तथा देश के जीवन से प्रभावित होकर लिखी थीं। कवि का आत्म-पीड़न तथा अपने जीवन को सोद्देश्य और महत्त्वपूर्ण बनाने की सदभिलाषा अनेक रचनाओं में व्यक्त हुई है। सियारामशरण की उदात्त वृत्तियों से अभिभूत व्यक्तित्व भली प्रकार से इन रचनाओं में निखर आया है। जन्मभूमि की प्रशस्ति में भी कई कविताएँ

लिखी गयी हैं । इस संकलन की इन तीन रचनाओं ने काफ़ी ख्याति प्राप्त की है : तुलसीदास; घट; वर्ष-प्रयाण ।

'दूर्वादल' की कविताओं से स्पष्ट है कि इन वर्षों में कवि की शैली अधिक परिमार्जित और परिष्कृत हो चुकी है । देश के राष्ट्रीय और सांस्कृतिक नव-जागरण (Renaissance) का सबल स्वर इनमें विद्यमान है; साथ ही युगीन छायावादी और रहस्यवादी शैली की कविता का भी गुप्तजी पर प्रभाव पड़ रहा था । 'घट', 'वीणा', 'पथ' तथा 'कब' शीर्षक कविताएँ इसका उदाहरण हैं । सुकोमल भावों की सूक्ष्म व्यंजना करने वाले लघु-गीतों की जो शैली उस दशक में चल पड़ी थी उसका भी वहुत कुछ प्रभाव इस संकलन की कविताओं में परिलक्षित है । एक उदाहरण लीजिए :

किस दिन माया जाल तोड़ के
गेह निज छोड़ के,
बाहर हुए थे इस अक्षय भ्रमण को ?
—विश्व महासिन्धु सन्तर को ?
हे सर्वत्रगामी चर
विचर-विचर कर
ढूँढ़ते किसे हो तुम,—
कौन प्रेयसी है वह, चाहते जिसे हो तुम ?

[पथ]

कई कविताओं में 'सम्बोधन' शैली (Ode) का अनुकरण किया गया है । इन सभी तथ्यों से यह स्पष्ट है कि कवि इस समय अपने चारों ओर होने वाली काव्य-प्रगति से पूर्णरूपेण परिचित था और उसे सहानुभूति के साथ ग्रहण कर अपनी प्रतिभा के सहारे हिन्दी-कविता को एक नवीन दिशा और नये विषय प्रदान करने के प्रयत्न में संलग्न था । अन्य रचनाओं में कवि का आत्म-निवेदन, राष्ट्रीय-प्रेम तथा ईश्वर-भक्ति की अभिव्यक्ति है । सियारामशरण के काव्य को समझने के लिए 'दूर्वादल' एक महत्त्वपूर्ण संकलन माना जायगा ।

विषाद (सं० १९८२)—इस पुस्तक में पन्द्रह विषादमयी रचनाएँ संकलित हैं, जिनकी प्रेरणा कदाचित् धर्मपत्नी की मृत्यु से कवि को प्राप्त हुई है ।

इन कविताओं की घनीभूत पीड़ा बरबस मर्म को स्पर्श करती है । यों तो कवि अपनी पीड़ा को नियन्त्रित कर उसे सक्रिय शक्ति के रूप में देखने की चेष्टा कर रहा है, किन्तु सफलता अभी दूर है । यथा :

हृदय का ऐसा दाहक दाह
मर्म का इतना गहरा घाव
साधनों का यह बृहदाभाव
वेदना का यह चिर चीत्कार।

कवि की व्यथा बड़ी गहरी परन्तु संयत है।

वह नहीं जानता कहाँ से और क्यों मृत पत्नी की स्मृति पुरवाई हवा की भाँति आती है और उसे झकझोर जाती है :

वह भूला भटका मनस्ताप
कर उठा अचानक है विलाप!

कवि का रोम-रोम चीत्कार कर उठता है और धैर्य का बाँध टूट जाता है।

हाय! देकर वह दिव्य प्रकाश
किया है तूने तमोविकास,
मेघ! मत तू ये आँसू डाल
हृदय से ही निष्ठुर है काल!

कवि अपनी वैयक्तिक वेदना का साधारणीकरण करना चाहता है। उसके लिए वह प्राण-पण से प्रयत्नशील है। अपनी वेदना की स्वीकृति भी वह नहीं करना चाहता है; किन्तु दुःख इतना तीव्र है कि उस स्नेह की याद बरबस आ जाती है :

तन में, मन में, रोम-रोम में, नख से शिख पर्यन्त
लिखकर तू रख गयी स्नेहमयि! अपना स्नेह अनन्त!

× × ×

बार-बार मन में लाता है तेरा स्मरण विषाद
क्षण-भर को ही वहाँ तुझे क्या आती है कुछ याद?
कभी कल्पना पहुँचाती है क्या तुझ तक यह बात
मैं इस समय कर रहा हूँगा नीरव अश्रु-निपात?

कवि के जीवन की करुण झाँकी देने वाला यह काव्य-ग्रन्थ काव्य-प्रेमियों की रुचिकर वस्तु है। गुप्तजी के जीवन-मोह का एकमात्र स्रोत जब चुक गया तो उनकी आत्म-पीड़ा क्रन्दन कर उठी। 'विषाद' करुण रस की अमर रचना है।

आर्द्रा (सं० १९८४)—इस संग्रह में कुल तेरह कविताएँ संग्रहीत हैं। कथात्मक शैली में गार्हस्थिक और सामाजिक जीवन के मर्मस्पर्शी चित्र हमें इसमें मिलते हैं। 'हूक' कविता में बेटी रमा की हृद्‌गति के कारण होने वाली मृत्यु का

वर्णन है और मानव की अतृप्त आकांक्षा का भी साथ ही मार्मिक चित्रण हुआ है। समाज की अनेक कुरीतियों पर कवि ने दृष्टि-निक्षेप किया है और सरल प्रसादमयी भाषा में कथाओं के सहारे देश की दरिद्रता, अशिक्षा, नृशंसता आदि पर सुन्दर कटूक्तियाँ की हैं। इन रचनाओं में कवि के भग्न-हृदय की हूक है और समाज के अन्याय और क्रूरता के प्रति उसका प्रबल आह्वान-स्वर है। सियारामशरणजी अपने काव्य में सामाजिक पक्ष को सदा सामने रखते हैं। इस संग्रह की प्रत्येक कविता में करुणासिक्त कथा है। जो बरबस पाठक के हृदय को आन्दोलित कर उठती है। 'खादी की चादर' में चम्पा का कारुणिक चित्र है; 'नृशंस' शीर्षक कविता में दहेज प्रथा की पृष्ठभूमि में समाज को 'घातक समाज-कंस' की संज्ञा दी गयी है; 'एक फूल की चाह' कविता तो अस्पृश्य जाति के प्रति किये गये सवर्णों के अत्याचार की हृदय-स्पर्शी कहानी है। निम्न पंक्तियाँ देखिए :

हाय ! फूल-सी कोमल बच्ची
हुई राख की थी ढेरी !
अन्तिम बार गोद में बेटी
तुमको ले न सका मैं हा !
एक फूल माँ का प्रसाद भी
तुझको दे न सका मैं हा !

'अग्नि-परीक्षा' में हिन्दू-मुसलिम दंगों की भूमिका पर 'सुभद्रा' नाम की हिन्दू-नारी के सतीत्व के ओजमय दर्शन होते हैं, जिसने सीता की भाँति 'सलिल-परीक्षा' देकर अपने प्राण त्याग दिये।

इसी प्रकार की कहानियों द्वारा कवि ने हिन्दू-समाज तथा भारतीय राष्ट्र के करुणार्द्र चित्र 'आर्द्रा' में प्रस्तुत किये हैं। कथात्मक पद्य, प्रवाहमयी शैली, चित्रमय भाषा और प्रसाद गुण के लिए यह संग्रह हिन्दी-साहित्य में अनूठा है। कहीं-कहीं गद्यात्मकता का अधिक समावेश है, अतएव पाठक के लिए रस क्षीण हो जाता है। काव्य-सौष्ठव इन कविताओं में किंचित् न्यून है। 'प्रयाणोन्मुखी' कविता इसका अपवाद है, और वह शायद इस कारण कि इसकी प्रेरणा कवि के वैयक्तिक आत्म-पीड़न से सम्बन्धित है।

आत्मोत्सर्ग (सं० १९८८)—अमर शहीद श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के बलिदान के अवसर पर यह राष्ट्रीय कथा-काव्य लिखा गया था। सियाराम-शरणजी के निकट विद्यार्थीजी का बहुत मूल्य था, साथ ही यह घटना भी राष्ट्र की भावनाओं को झकझोर देने वाली थी। कवि की लेखनी कानपुर के

साम्प्रदायिक दंगे के कारण क्षत-विक्षत मानवता के दर्शन कर चीत्कार कर उठी। विद्यार्थीजी के आत्म-बलिदान की यह करुण कथा इस खण्ड-काव्य में अंकित है। प्रारम्भ में पूज्य बापू के दो शब्द हैं और मैथिलीशरण गुप्त की श्रद्धांजलि है। कानपुर के विषाक्त वातावरण का चित्रांकन सुन्दर बन पड़ा है। विद्यार्थीजी का साहस और देश के लिए निर्भीकता से किये हुए बलिदान की कथा पढ़कर आज भी रोमांच हो जाता है। वास्तव में यह एक बड़ा सरल तथा सजीव काव्य है। विद्यार्थीजी उत्तेजित भीड़ को सम्बोधित करते हुए कहते हैं :

हाज़िर मेरा खून, तुम्हारा
फूले-फले अगर इस्लाम !

× × ×

अब मत भोगो, अपने हाथों
अरे बहुत तुमने भोगा
हिन्दू - मुसलमान दोनों का
यह संयुक्त राष्ट्र होगा !

× × ×

कवि विद्यार्थीजी की नृशंस हत्या पर उक्ति करता है :

अरे दीन के दीवानो, हा !
यह तुमने क्या कर डाला ?
अपने हाथ खून से रँगकर
किया स्वयं निज मुँह काला ?

इस काव्य के अन्तिम पृष्ठों में बड़ी व्यथा है जो मन को कचोट डालती है। राष्ट्रीय संग्राम के इतिहास में ऐसे ज्वलन्त पृष्ठ कम ही हैं। कवि केवल यह कहकर आत्म-सन्तोष पाने की चेष्टा करता है :

अपने तनु की खाद बनाकर
अमर बीज तुमने बोया।
नहीं बुझेगी चिता तुम्हारी
उसकी यह ज्वलन्त ज्वाला
निज प्रकाश से मातृभूमि का
मुख उसने है धो डाला।

पाथेय (सं० १९९०)—तीन-चार वर्षों के बीच लिखी गयी विचारात्मक कविताओं का संग्रह इस पुस्तक में किया गया है। कवि की मनोदशा को एक नये रूप में प्रदर्शित करने वाली ये कविताएँ भावुक पाठकों को अधिक रुचिकर नहीं होंगी—ऐसी हमारी आशंका है। परन्तु कवि के मानसिक विकास की प्रगति अध्ययन करने वाले साहित्यिक पाठक इस संग्रह में कवि का अधिक सक्षम एवं जागृत रूप देखेंगे, जो पत्नी की मृत्यु के कारण कुछ दब-सा गया था। वही कवि अब एक नवाशा लेकर जीवन-मार्ग की ओर चल पड़ा है और मानवीय तत्त्वों के सहारे नव-निर्माण का शिलान्यास करने की चेष्टा कर रहा है। समस्त पुस्तक में यात्रा के प्रतीक बिखरे पड़े हैं, 'नूतन यात्री' ने इस 'पाथेय' का सम्बल ग्रहण किया है। आज क्षणिक आनन्द भी कवि को रस प्रदान करता है :

आज चराचर के प्राणों में
जीवन है छलका-छलका

× × ×

चल नित नया प्रकाश लायगा
सुप्रभात आल्हाद-स्वरूप !

कवि में, सहसा जीवन के भौतिक पक्ष के प्रति हर्षातिरेक उद्गीत हो चुका है और वह इस स्फूर्ति और उन्मेष का गीत गा उठता है :

अहा ! अचानक प्रबल वेग से
मुझमें नवजीवन आया।
आया हाँ आया आया।
तरल-तरंगों में उठ इसने
तन को, मन को लहराया,
लहराया हाँ लहराया।

इस संग्रह की एक रचना काफ़ी ख्याति प्राप्त कर चुकी है जिसका शीर्षक है शंखनाद।

मृत्युंजय ! इस घट में अपना
काल-कूट भर दे तू आज !

छोटी-छोटी नगण्य घटनाओं से असीम और विराट की झाँकी इस संग्रह की रचनाओं की एक खास विशेषता है। कहीं-कहीं भावनाएँ अस्वाभाविक भी हो उठती हैं। कवि ने विचार के सहारे जीवन का मूल्यांकन करने

की चेष्टा (Conscious effect) की है। इसलिए कविताओं में एक प्रकार की सात्विकता तो मिलती है; पर काव्यानन्द क्षीण होता चलता है। हर्ष और पुलक के क्षण भी निरे बुद्धिवाद के बोझ से दबे जा रहे हैं और ऐसे स्थल इन रचनाओं में बहुत कम मिलेंगे जहाँ कवि ने पाठक को रस-निमग्न कर दिया हो!

मृण्मयी (सं० १९९३)—सियारामशरण के लगभग सभी काव्य-ग्रन्थों में एक प्रकार की शान्तिदायिनी सात्विकता मिलती है। स्थान-स्थान पर वे अपनी सरल किन्तु प्रांजल भाषा में जीवन की मौलिक भावनाओं के गीत गाते हैं। प्रस्तुत संग्रह उनकी इन वृत्तियों का सुन्दर परिचायक है। इसमें कुल ग्यारह कविताएँ हैं और एक-दो को छोड़कर सभी काफ़ी लम्बी हैं। कथात्मकता इनका मुख्य लक्षण है। लघु-कथा के सहारे अतीव सरल प्रवाहमान शैली में जीवन तथा समाज की गुरुतम समस्याओं को लिया गया है और एक सुनिश्चित दार्शनिक विचार-धारा की स्पष्ट व्यंजना की गयी है। 'मृण्मयी' के गीत—जैसा कि इस शीर्षक से स्पष्ट है—वास्तव में धरती के गीत हैं। बुन्देलखण्ड के उन्मुक्त जीवन का प्रभाव कवि पर सदा रहा है और उसी धरती का हृदय-स्पन्दन इन रचनाओं में उभर आया है। प्रारम्भिक समर्पण में (जो 'सावन तीज' के प्रति हुआ है) कवि की इस उक्ति को देखिए:

दूर-दूर तक शस्यावलि में
वसुधा का पुलकोद्भव है;
हे मंगलमयि, तेरे कर में
पुण्य पुरातन नव-नव है।
हे सुवत्सले, तेरे उर में
वत्सलता है क्षेमकरी;
मेरी शुष्क मृण्मयी भी यह
मानस में है हरी-हरी।

धरित्री के शस्य-श्यामल जीवन की यही सजग आह्लादकारी प्रेरणा इस पुस्तक का मूल है; और इस दृष्टि से हिन्दी की यह अनूठी चीज़ है। 'रजकण' 'लाभालाभ' 'अमृत' 'मंजुघोष' शीर्षक कविताएँ इसी मूल विचार की व्याख्या करती हैं। 'छल' कविता में बाल-क्रीड़ा की पृष्ठभूमि पर सागर और मानव के भ्रम अथवा आत्म-वंचना के सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। शब्द-चित्रों की छटा इन रचनाओं में अनेक स्थान पर मिलती है। सागर-तट पर लहरों का यह वर्णन देखिए:

अद्भुत अपूर्व किसी मेला में,
जीवन की खेला में,
एक-दूसरे से टकराती हैं;
आपस में फिर भी घुली-मिली
गिरती हुई भी एक-सी ही खिलीं
एक-लय एक गान गाती हैं
आती हैं रिलती हुई तट पर।
तट यह दूर तक निद्रालस फैला पड़ा
सिकता के मंजुल महीन शुभ्र पट पर;
ऊर्मियाँ ये छप-छप करके छपाका बड़ा
मानो इसे क्रीड़ा से खिझाती हैं,
टीका फेन-चंदन का लगा-लगा जाती हैं। [छल]

'ग्वालिनें' में कवि का वैष्णव-हृदयनाद सौन्दर्य के साथ मुखरित हुआ है। 'सम्मिलित' शीर्षक कविता में माता वसुधा और प्रकृति का वरद रूप व्यक्त हुआ है। 'अमृत' में कवि ने पौराणिक अमृत-मंथन की कथा वर्णित करते हुए हलाहल-अमृत के समान तत्त्व की विवेचना की है :

छले गये हा! छले गये हम
पा न सके निज भाग।
सुर-दल ही है जयी यहाँ भी
मिला उसी को तथ्य;
जिसे हलाहल समझा हमने
अमृत वही था सत्य!

प्रकृति को कवि वरदायिनी और क्षमामयी रूप में ग्रहण करता है और मनुष्य की क्रूरता के अनेक चित्र प्रस्तुत करता जाता है :

पशु से बच भी जायँ, बचा है कौन मनुज से ?
आह ! मनुज के लिए मनुज है क्रूर दनुज से !

मिट्टी और स्वर्ण का यह भेद मनुष्य का अपना भ्रम है, आत्म-वंचना है। धरती से प्रेरणा लेकर यह कवि मनुष्य-मात्र में 'समदृष्टि' और समन्वयात्मक बुद्धि का संचार करना चाहता है। महान् उद्देश्य को लेकर की गयी 'मृण्मयी' की ये रचनाएँ परिणामतः बहुत गद्यात्मक हो गयी हैं। छन्दों के प्रयोग में गुप्तजी विशेष पटु हैं। कविताओं में कथा-भाग सुन्दर है और भाषा बहुत निखरी हुई है।

बापू (सं० १९९४)—गुप्त-बन्धुओं पर पूज्य बापू के जीवन का बहुत प्रभाव पड़ा था। उनके वैष्णव-हृदय पर गांधीवाद के सत्य-अहिंसा के सिद्धान्तों की अमिट छाप लग गयी। युग-पुरुष गांधी के प्रति अपनी श्रद्धांजलियों के पुष्प सियारामजी ने 'बापू' में चयन कर रखे हैं। सं० १९९४ के आसपास लिखी गयी ये रचनाएँ ही कवि को अमरता प्रदान कर सकती थीं। कवि के हृदय का विषय-वस्तु से स्वाभाविक अनुराग है, वह आधुनिक काल के मानव की विडम्बना को पूरी तरह चीन्हता है; आज के जर्जरित हिंसात्मक समाज की आधार-शिला हिल चुकी है और मानव-मन का आत्म-विश्वास खोता चला जा रहा है। ऐसी विषम परिस्थिति में गांधी-अवतार विश्व और मानवता के लिए दैवी वरदान है। गुप्तजी की लेखनी इस विषय की ओर उसी सहज रूप से अग्रसर हुई जिस प्रकार सूर अथवा तुलसी अपने इष्टदेव की यश-गाथा गाने को प्रस्तुत थे। 'बापू' एक सुन्दर ग्रन्थ है जिसमें कवि ने अपनी गहन दृष्टि का काव्यमय परिचय दिया है। महात्मा गांधी के धर्म-प्राण व्यक्तित्व को भूमण्डल तथा मानव-इतिहास की पृष्ठभूमि पर रखकर देखना कोई सरल कार्य नहीं। गुप्तजी की दृष्टि सार्वभौम है और उन्होंने पूरी तरह उसको निभाया है। गांधी को महात्मा मानकर उनका प्रशस्ति-गान करना आसान है; किन्तु मानव-विकास के क्रम में इस व्यक्ति का मूल्यांकन करने का जो प्रयास कवि ने किया है वह प्रशंसनीय है।

पुस्तक के प्रारम्भ में महादेव देसाई की भूमिका है, जिसमें उन्होंने गांधीजी को धर्म-तीर्थ रूप में स्वीकार किया है। महादेव भाई का विचार है कि मानवता को सबसे बड़ी गांधीजी की देन है—'अभय-दान'। त्रस्त मानव को अभय-दान देकर गांधीजी ने शोषितों का सबसे बड़ा उपकार किया है। निम्न पंक्तियाँ इसे व्यक्त करती हैं :

जिसने किया है महातंक छिन्न
विश्व के प्रपीड़ितों के अन्तर से;
बोध का प्रदीप दीप्त करके
जिसने दिखाया—दीन दुर्बल नहीं है हीन,
वह है निरस्त्र भी महत्त्वासीन
अपने अजेय आत्मबल से ;
अन्य के अपार शक्ति-छल से
मुक्त सर्वथैव वह एक मात्र स्वेच्छाधीन !

इस संग्रह की प्रथम कविता में श्रद्धालु जनता की गांधी-दर्शन के लिए धैर्य-

पूर्ण प्रतीक्षा का बहुत सुन्दर चित्रांकन है। मन और आत्मा तक कवि की पहुँच है और अन्तर्मन की भावनाओं को सरल भाषा में व्यक्त करने की उसकी क्षमता बड़ी प्रखर है। गांधी-दर्शन की कितनी सूक्ष्म अभिव्यंजना इस पद में है :

आई अहा! मूर्ति वह हँसती;—
जैसे एक पुण्य-रश्मि स्वर्ग से उतर के
अन्ध तमःपुंज छिन्न करके
दीख पड़ी अन्तस् के अन्तस् में धँसती!
आत्ममणि का-सा पारदर्शी पात्र
दृष्टि हेतु गात्र उपलक्ष मात्र,
भीतर की ज्योति से छलकता!

कवि ने गांधी को सर्वत्र इसी रूप में देखा है। मानव की सात्विक वृत्तियों को जागृत करने में उनका सबसे बड़ा योग रहा है। वे श्रद्धा की मूर्ति थे; उन्होंने युग को कर्म का मंत्र दिया; भौतिक जगत् के अन्धकार में वे आध्यात्मिक प्रकाश-पुंज थे; 'सत्य-अहिंसा' को उन्होंने साधन ही नहीं साध्य-रूप में ग्रहण करके मानव को भावी-निर्माण की नयी दिशा प्रदान की। ज्ञान की नित्य शुद्ध-बुद्ध शक्ति के वे प्रतीक थे :

हे मनस्वि, श्रद्धा में अखण्डित हो।
दूरगत आशा-मध्य सुप्रतिष्ठ,
कौन वृद्ध तुम हे तपस्वि! नित्य एकनिष्ठ?

उनके सत्याग्रही निर्भय रूप की झाँकी भी गुप्तजी ने दी है। 'कारागार' के सम्बन्ध में उनकी उक्तियाँ बड़ी मार्मिक हैं। 'कारागार' के हिंस्र रूप का निषेध करते हुए कवि प्रश्न करता है :

घृण्य वह कारागार?
वह तो अबन्धन का मुक्ति द्वार!
× × ×
मृत्यु के निकेत पर जीवन का पुण्य केतु!

अन्तिम कविताओं में मानवता के ह्रास पर कवि का क्षोभ भी व्यक्त हुआ है। जीवन की विडम्बना, रक्तपात तथा हिंसा से ग्रसित यह पृथ्वी क्या आज विनाश के पथ पर जा रही है? क्या 'मानव है नाश के कगार पर?' कवि को पीड़ितों से भी पूरी सहानुभूति है :

पीड़ितों के क्रन्दन का पारावार
क्षुब्ध है धरा की मर्म-वेला में

किन्तु सब-कुछ होते हुए भी कवि निराश नहीं है। उसे प्रकृति और मानव दोनों में विश्वास है। वह मानव के भविष्य के प्रति आश्वस्त है और इस सृजन-शील आस्था का प्रतीक है गांधी का अहिंसा-दर्शन। निम्न पंक्तियाँ किसी भी प्रगतिशील काव्य की शोभा-वृद्धि कर सकती हैं :

श्रीगणेश यह है नवीन के सृजन का
आद्यक्षर नव्य भव्य जीवन का—

अथवा :

जीवन विमुक्त है, तुम्हारे मर्त्य स्वर में
काल के अनन्त समादर में,
साधित कहाँ से यह स्वर्ग का अमर राग ?
आरोहावरोह में समानोदार
सत्य का विशुद्धोच्चार।

इस काव्य का अन्त इसी आशा-ध्वनि के साथ होता है। कवि ने युग को यही संदेश दिया है और उसकी आशा का यही मूलाधार है। इस पुस्तक में शैली प्रखर है; शब्द-चयन सिद्ध करता है कि श्री सियारामशरण हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में एक सिद्धहस्त शब्द-शिल्पी हैं। नवीन छन्दों के सुन्दर प्रयोग किये गये हैं, जो विचारात्मक तथा मननशील काव्य के लिए विशेष रूप से उपयुक्त हैं।

उन्मुक्त (सं० १९९७)—सियारामशरणजी के प्रसिद्ध और लोकप्रिय ग्रंथों में 'उन्मुक्त' की भी गणना की जाती है। यह एक सजीव गीत-नाट्य है, जिसकी प्रेरणा कवि को गांधीजी के अहिंसावाद से मिली। विश्व-युद्ध में जब वायुयान-वर्षा से चहुँ ओर निरीह निशस्त्र जनता पर पाशविकता का नग्न नृत्य हो रहा था, तब रुग्ण कवि की दृष्टि सहसा हिंसा-ग्रस्त मानव के विश्लेषण की ओर गयी और गांधीवाद के अहिंसात्मक युद्ध के रूप को स्पष्ट करने के लिए इस काव्य की रचना हुई। मैथिलीशरण ने अपनी भूमिका में कहा है कि रोग के कारण कवि का शरीर शिथिल होता जा रहा था किन्तु मन सक्रिय। जागरूक चेतना के सभी लक्षण इस गीत-नाट्य में विद्यमान हैं। युद्ध की भूमिका में मानव के मूलभूत सिद्धान्त और नव-समाज-व्यवस्था के निर्माण की ओर सुन्दर संकेत किया गया है।

इसमें द्वीपों की सुन्दर कल्पना की गयी है। यथा—लौहद्वीप, रौप्यद्वीप, स्वर्णद्वीप और कुसुमद्वीप। कोमल और कठोर दोनों पक्षों के सुन्दर चित्रण यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। कवि की वर्णन-शक्ति और कथोपकथन की शैली का भी सुन्दर परिचय मिलता है। किन्तु विषय-वस्तु के प्रसार में शिल्पाभाव पाठक

को खटकता है। कवि जिस उद्देश्य को स्थापित करने चला था, उसमें वह पूर्ण सफल नहीं हुआ है। समस्त ग्रन्थ पढ़कर पाठक को लगता है कि हिंसा का ही पक्ष प्रबल अथवा कर्मण्य है। अहिंसा में शक्ति तो अवश्य है, और कदाचित् हिंसा की शक्ति से अधिक है; किन्तु यथार्थ जीवन-क्षेत्र में मानो उस अहिंसा का कोई परिणाम पाठक के समक्ष नहीं उपस्थित होता! पाठक एक प्रकार से अतृप्त-सा रहता है और यवनिका-पात हो जाता है।

यंत्र-युग के अभिशापों का सजीव वर्णन जगह-जगह मिलता है। संसार में पशु-बल का ताण्डव हो रहा है; मानव अपना देवत्व तो खो ही चुका है, वह मनुष्यत्व भूलकर 'पिशाच' भी बनता जा रहा है। उसकी सारी शक्ति सैन्य-बल अर्जन में समाप्त होती जा रही है। विनाश और संहार के स्वर धरित्री को कँपा रहे हैं। ऐसे वातावरण में कवि ने 'लौहद्वीप' रूपी हिंस्र विश्व को 'कुसुमद्वीप' में परिणत करने का मोहक स्वप्न देखा है। किन्तु पुस्तक में वर्णित कथा-भाग इसे व्यावहारिक रूप नहीं देता। अहिंसक द्वीप हिंसा द्वारा पराजित है। हाँ, कुसुमद्वीप के मानव ने अपनी आत्मा को इस कष्ट के बीच पा लिया है। 'आत्मानं विद्धि' सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य जब अपने को पा ले तभी वह 'उन्मुक्त' है। अन्त में, पुष्पदन्त अपनी भूल इन शब्दों में स्वीकार करता है:

इस अविजय में बात आज यह हमने जानी—
प्रतिहिंसा में छिपा हुआ निज का अभिमानी
कोई हिंसक क्रूर स्वयं हममें बैठा था;
जो वैरी में, वही हमारे में पैठा था।

अपनी पराजय में उसने यह पाया:

आज की इस अविजय में
अनुभव मैंने किया अटल अभिनव प्रत्यय में—
पौरुष है अविजेय!

कवि के निष्कर्ष को इन शब्दों में देखिये:

हिंसानल से शान्त नहीं होता हिंसानल,
जो सबका है, वही हमारा भी मंगल है।
मिला हमें चिरसत्य आज यह नूतन होकर—
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर!

इन पंक्तियों में कवि ने गांधीवाद की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। गुणधर, पुष्पदन्त और मृदुला के चरित्र-चित्रण में कवि ने अपने को आत्मसात् किया है। जीवन के कोमल क्षणों का सुन्दर दिग्दर्शन है। अनेक स्थल मर्मस्पर्शी हैं

और युद्धोत्तर विध्वंस के चित्र सजीव और यथार्थ हैं। अपने पुत्र की मृत्यु पर मृदुला माँ का ममतामय चित्र पाठक के हृदय में गहरी करुणा का संचार कर देता है। सुश्रूषालय में गुणधर के सामने युद्धभूमि का नृशंस चित्र नाच उठता है। 'एकान्त' सर्ग में गुणधर का हिंसा पर स्वगत-कथन मर्मस्पर्शी है। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि यह एक सुन्दर गीत-नाट्य है, परन्तु कवि अपने उद्देश्य में पूरा सफल नहीं हो सका है।

दैनिकी (सं० १९९९)—सन् १९४२ के आसपास विश्व-व्यापी युद्ध का पूरा प्रभाव इस देश के जीवन पर पड़ चुका था। दैनिक जीवन की अनेक कठिनाइयों के बीच मनुष्य अपना निर्वाह कर रहा था। ऐसे समय नगण्य वस्तु भी महत्त्वपूर्ण हो उठी थी। कदाचित् ऐसे ही वातावरण में कवि का ध्यान जीवन की नित्य-प्रति होने वाली नगण्य घटनाओं की गम्भीरता की ओर गया और ऐसी अनोखी कविताओं का जन्म हुआ जो इस पुस्तक में गुप्तजी ने संग्रहीत की हैं। दैनिक जीवन के कष्टों की गाथा गाकर अनेक कवियों ने नीरस कविताओं के सहारे अपने को 'प्रगतिशील' कोटि में रखकर आत्म-सन्तोष-लाभ किया है। उस दृष्टि से गुप्तजी 'दैनिकी' में प्रगतिशील काव्य-क्षेत्र में गिने जा सकते हैं। साठ-सत्तर कविताओं का यह संग्रह गुप्तजी के अन्य काव्य-ग्रन्थों की अपेक्षा अनोखापन लिये हुए है। प्रायः सभी कविताएँ बहुत छोटी हैं और वे एक ख़ास घटना को लेकर विचार-विशेष पाठक के मन में जाग्रत करती हैं। इसमें कवि की बीमारी के दिनों का भी आभास मिलता है। 'रुद्ध-कक्ष' शीर्षक कविता में रुग्ण-शय्या पर पड़े हुए प्राणी की वाणी मुखर हुई है। 'सजग द्वन्द्व' एक बहुत सुन्दर रचना है, जिसमें रात्रि के व्याकुल क्षणों का सुन्दर चित्र खींचा गया है; रोगी की आशा-निराशा का द्वन्द्व इसमें अच्छी प्रकार वर्णित है। 'मजूर', 'आज का पन्ना' तथा 'अण्डमान' जैसे विषयों पर कविताएँ रोचक बन पड़ी हैं। 'अण्डमान' से देश-निष्कासन के स्थान पर मानवीय संकीर्णता का ज़िक्र किया गया है। यथा :

> **राष्ट्र-राष्ट्र का निष्कासन है, निज के छोटेपन में,**
> **अण्डमान हो रहे प्रतिष्ठित, देश-देश, जन-जन में।**

युद्ध-त्रस्त विश्व तथा रोग-ग्रसित अपने जीवन की पृष्ठभूमि पर भी कवि की आत्मा में किसी प्रकार की कुण्ठा नहीं है। वह जीवन के असंख्य क्षेत्रों तक अपनी सहानुभूति का जल पहुँचाता है। आकाश, पृथ्वी, पशु-जगत् और मानव सभी उसकी करुणा का भाग प्राप्त करते हैं, और जीवन-मृत्यु के संघर्ष के बीच भी 'आशान्वित' होकर कवि कह उठता है :

इस वसुधा को मैं प्यार करूँगा, तब भी,
इस पर जो यह उन्मुक्त असीम गगन है !

और :

छोड़ूँगा अंचल नहीं धरा का तब भी
इसकी माटी निर्ज्वलन सिन्धु—सुस्नाता !

उषा, संध्या, रात्रि, अन्धकार, प्रकाश, पृथ्वी, आकाश इत्यादि के सुन्दर चित्र इसमें मिलते हैं। 'उद्गम' शीर्षक कविता में करुण-रस का पूर्ण परिपाक हुआ है, और इसकी कई पंक्तियाँ हृदय पर गहरी चोट करती हैं। संक्षेप में, यह संग्रह युद्ध-जनित दैनिक घटनाओं की प्रतिक्रियाओं की एक प्रकार की डायरी है।

नकुल (सं० २००३)—यह एक खण्ड-काव्य है और इसका आधार महाभारत का वन-पर्व है। महाभारत गुप्त-बन्धुओं का प्रिय ग्रन्थ है। उसी में से अमृतह्रद का कथा-भाग लेकर इस काव्य की रचना की गयी है। मूल वस्तु का उपयोग करने में कवि ने स्वतन्त्र दृष्टि से काम लिया है। समस्त काव्य में एक प्रकार का उन्मुक्त वातावरण है; वन, उपत्यका, गंगा-तट, अमृत, पर्वत तथा अमृतह्रद इसकी क्रीड़ा-भूमि हैं। विशाल प्रकृति की भूमिका में मानव के ईर्ष्या-द्वेष तथा पारस्परिक स्पर्द्धा का उत्पीड़न आत्मा को झकझोर देता है।

इस काव्य का काल उस समय से सम्बन्धित है, जिस समय पाँचों पाण्डव द्रौपदी के साथ बारह बरस का वनवास पूरा कर रहे थे। उसी अवधि के अन्तिम दिन से इसकी कथा प्रारम्भ होती है, जब इस वन को छोड़ उन्हें पूरे एक बरस के लिए अज्ञातवास के लिए कहीं चले जाना था। उसी समय एक साधारण-सी घटना घटी जो आज लोक में प्रचलित है : यज्ञ की अरणि और मथनिका कोई मृग अकस्मात् ले गया। उन्हें तपस्वी के हेतु पास लाने के लिए युधिष्ठिर धनुष-बाण लेकर मृग के अनुसन्धान में चल पड़े। शेष पाण्डव द्रौपदी-सहित इसके पूर्व ही भ्रमणार्थ अमृतह्रद की ओर निकल चुके थे। दुर्जय और वज्रबाहु—जो दुर्योधन-दल के दो व्यक्ति थे—अमृतह्रद को विषाक्त बना ही चुके थे, जिससे पाँचों पाण्डवों की जीवन-लीला समाप्त हो। इस काव्य में पात्र थोड़े-से ही हैं और कथा-प्रवाह अबाध रूप से चलता है। पात्र लगभग सभी महाभारत के अनुरूप ही चलते हैं। मणिभद्र के माध्यम से ही युधिष्ठिर तथा नकुल के चरित्र-विकास में सहायता मिलती है। यह अलकापुरी से निर्वासित एक यक्ष है, जो अमृताचल पर कुछ समय से रह रहा है। इसके पास संजीवनी बूटी का एक ही कण है, जिसके प्रयोग से वह केवल एक मृतक प्राणी को जिला सकता है। मणिभद्र युधिष्ठिर से पूछता है कि किसको जिलाया जाय ?

"था जब मैं कैलासपुरी में गरल-विदारण
मुझे मिला था वहाँ एक लघु संजीवन कण;
कहें किसे दूँ उसे यहाँ इस कठिन समय में,
मुझे रंच आपत्ति न होगी उस निर्णय में।"

तो युधिष्ठिर उत्तर देते हैं :

"नकुल !"—उसी क्षण अनायास कह गये युधिष्ठिर
उत्तर उनका वहाँ प्रथम ही हो ज्यों सुस्थिर।"

इस उत्तर में ही मानो गुप्तजी ने अपने काव्य की समस्त विषय-वस्तु केन्द्रित कर दी है। प्राचीन कथा में इस विशेषता को रखकर गुप्तजी ने अपनी काव्य-प्रतिभा का ही परिचय नहीं दिया है, अपितु उन्होंने अनजाने में अपने पारिवारिक जीवन की किसी अवचेतन ग्रन्थि की ओर भी सहसा संकेत कर दिया है। लघु-ज्येष्ठ की इस मनोवैज्ञानिक समस्या अथवा भाव-ग्रन्थि का ऊहापोह करना हमारा लक्ष्य नहीं है; किन्तु आधुनिक मनोविश्लेपण-शास्त्र के ज्ञाता पाठक कदाचित् उस काव्य में गुप्तजी के वैयक्तिक जीवन की इसी झलक की ओर अप्रिय संकेत कर सकते हैं। कवि का तात्पर्यार्थ उसी के शब्दों में सुनिए :

"छोटे के भी लिए बड़े-से-बड़ा समर्पण
किया जाय जब, तभी धर्म-धन का संरक्षण।
× × ×
करना होगा बड़ा त्याग निज सुख जीवी को
होना होगा स्वयं समर्पित गांडीवी को।"

आगे धर्मराज मणिभद्र को स्पष्ट करते हुए सान्त्वना देते हैं :

लेना होगा निखिल-क्षेम-व्रत निर्भय हमको,
देना होगा बड़ा भाग लघु से लघुतम को।
लघु से लघुतम कौन,—नहीं यदि हों हम खोटे,
वही हमारे लिए बड़े हमसे जो छोटे।
जितना आगे उदित हुआ है जो जन हममें,
उतना आगे चला गया वह जीवन-क्रम में।

द्रौपदी के चरित्र-चित्रण में भी कवि ने विशेष श्रम किया है और गंगा-तट के बीच पांचाली की मनमोहक झाँकी पाठक को रुचिकर प्रतीत होती है। उसके ममतामय और रौद्र दोनों प्रकार के रूप इसमें मिलते हैं। सात्विक वृत्ति वाले पात्रों के चित्रण में कवि पूर्णरूपेण सफल हुआ है, किन्तु तामसी

प्रकृति के अंकन में कवि अपने हृदय से नहीं, मात्र काव्य-कौशल से काम लेता प्रतीत होता है। कथा-भाग में संवादों की अधिकता है और यह उचित ही है कि कथोपकथन के माध्यम से ही चरित्र विकसित होते हैं। एकाध स्थल पर शब्द-चित्र और वर्णन भी सुन्दर बन पड़े हैं। प्रभात का यह वर्णन देखिए :

चित्रण-निरत प्रभात मात्र रेखाएँ देकर,
आँक रहा है विपिन कुंज निशि से मसि लेकर !
प्राची के सीमान्त देश में झकमक-झकमक,
झलक रहा है एक शिरोमणि-शोभन तारक
उसका रश्मि-निकाय गगन में कल कम्पित है,
यहाँ कुटी में हृदय द्रौपदी का स्पन्दित है।

तुकान्त छन्दों में लिखा गया यह काव्य अपने कथा-प्रवाह तथा परिष्कृत भाषा के कारण पठन-पाठन की रुचिकर वस्तु रहेगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

नोआखाली में (सं० २००३)—राजनीति के घात-प्रतिघातों की सात्विक प्रतिक्रिया का अंकन करने वाली ये कुछ कविताएँ सिद्ध करती हैं कि सियाराम-शरण का हृदय देश के स्पन्दन को ध्वनित करने की क्षमता रखता है। रुग्ण-शय्या से इतनी सजीव और स्वस्थ रचनाओं का निर्माण कवि की उर-ज्योति का परिचायक है। 'नोआखाली' में जो अनैतिक बवण्डर उठा था उसकी पीड़ा समस्त देश को हुई थी। गांधीजी के लिए तो वह अहिंसा के सिद्धान्त का प्रयोग-स्थल ही बन चुका था। देश-विभाजन के रक्तिम इतिहास में नोआखाली मानवता का प्रकाश-तीर्थ बन चुका था। उसी अध्याय का अंकन इस लघु पुस्तक में किया गया है। कुछ रचनाएँ 'सर्वोदय' में प्रकाशित हुई थीं। कई रचनाओं में देश की जातीय तथा सांस्कृतिक एकता पर ज़ोर दिया गया है और कवि की लोकप्रिय कविता 'एक हमारा देश' इसके अन्त में सम्मिलित है। 'अखण्डित' और 'मातृभूमि के प्रति' शीर्षक कविताएँ इसी प्रकार की हैं। 'रमजानी' और 'पाक-कलाम' कविताएँ तत्कालीन वातावरण को सुन्दर रूप से व्यक्त करती हैं। इस संग्रह की कविताओं का मूल्य सामयिक ही है। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य में कवि की जो दृढ़ आस्था है उसका इसमें परिचय मिलता है।

जयहिन्द (सं० २००५)—यह १५ अगस्त, सन् १९४७ के स्वतन्त्रता-दिवस के पुण्य अवसर पर लिखी गयी भारत-वन्दना है। लगभग ढाई सौ पंक्तियों की इस ओजपूर्ण कविता में कवि ने स्वाधीन भारत को सम्बोधित करते हुए पाठक के हृदय में उसके अतीत गौरव, वर्तमान हर्षोल्लास तथा

भावी आशा को व्यक्त किया है। छन्द प्रवाहमयी विषय-वस्तु के अनुरूप ही है। कवि नवयुग के नये प्रभात का इन शब्दों में आह्वान करता है :

आज के स्वतंत्र अरुणोदय में
उद्धृत धरित्री से अभय में
कोटि-कोटि सन्तति का कोटि-कोटि नमस्कार !
आज आत्म-गौरव की हानि नहीं
अन्तस् में दासता की ग्लानि नहीं···

राष्ट्रीय-ध्वजा, महात्मा गांधी तथा जनता-जनार्दन का अभिनन्दन करते हुए कवि कितने सुन्दर शब्दों में कवि के दायित्व का वर्णन करता है :

कवि के स्वतंत्र देश
तेरे लिए कौन नया गीत आज गाऊँ मैं ?
× × ×
मेरे घट में हो आज गंगा-यमुना का नीर,
भावित हो संगम का तीर्थ-तीर;
छन्द में समुद्वेलित हो उठें प्रमोद भरी
रेवा, शोण, वेत्रवती, पंचनद, गोदावरी
उल्लसित प्रेम-प्रेरी
शिप्रा, सिन्धु, सरयू, पवित्र कृष्णा, कावेरी
सबके पुनीत अभिमज्जन से
नव-अभिषेक करूँ आज के सुदिन का;
लाऊँ मातृभूमि के चिरन्तन से
एक रस आ रही अखण्ड निर्मलिनता।

गीता-संवाद (सं० २००५)—हिन्दी के कम ही पाठक यह जानते हैं कि कविवर सियारामशरणजी ने गीता का समश्लोकी अनुवाद भी किया है। गुप्त-बन्धुओं में गीता सदा से ही प्रिय रही है। उनकी वैष्णव-भावना और गांधीवादी अहिंसा की तुष्टि गीता-पाठ से ही होती रही है। गांधीजी की सदा यह इच्छा रही थी कि श्रीमद्भगवद्गीता का पद्यानुवाद अनेक लोक-भाषाओं में हो, जिससे अनासक्ति-योग सर्व-सुलभ हो और लोक-कल्याण का उद्देश्य सफल हो। बापूजी ने एक बार विनोबाजी को इसी प्रकार का एक पत्र लिखा था। इस अनुवाद की प्रेरणा उसी पत्र से कवि को प्राप्त हुई है। कवि को अपनी ज्ञान-सीमा का ज्ञान है। वह समझता है कि संस्कृत के इस गेय ग्रन्थ का समश्लोकी अनुवाद ठीक रूप में प्रस्तुत करने के लिए जो ज्ञान

और प्रतिभा आवश्यक है, वह शायद उसमें नहीं है। फिर भी हृदय की श्रद्धा और आस्था का सम्बल लेकर उन्होंने यह अनुवाद प्रस्तुत किया है।

कवीन्द्र रवीन्द्र ने एक स्थल पर यथार्थ ही कहा है कि भारतवर्ष का हृदय अनुष्टुप छन्द में स्पन्दित हुआ है। गीता भी इसी छन्द में है और हिन्दी में किन्हीं कारणों से इस छन्द का प्रयोग नहीं हुआ। अनुवादक की कठिनाई इस बात से और भी बढ़ गयी है, यद्यपि उसने कुछ आवश्यक परिवर्तन कर इस असुविधा से मुक्ति प्राप्त करने की कोशिश की है। उन्हीं के शब्दों में यदि कहें तो :

"अनुष्टुप आदि में पादान्त के लघु को दीर्घ करने की क्रिया हमारे लिए अस्वाभाविक हो सकती है।"

संस्कृत-साहित्य का रसास्वादन करने वाले पाठकों को अनुवाद में उक्त परिवर्तन नहीं रुचेगा। उनकी सम्मति में यह समश्लोकी अनुवाद दुरूह है, और प्रासादिकता तो नाम को नहीं। हिन्दी के पाठकों को इसकी अव्यवस्थित तथा अप्रचलित भाषा-मुहावरे खटकेंगे। समश्लोकी होने के कारण भाषा में विचित्रता आ गयी है और अनेक अव्यवहार्य प्रयोग इस अनुवाद में मिलते हैं। यथा :

१—मेरों ने **पाण्डवों ने भी कहो संजय क्या किया ?**
२—**प्रसाद सब दुःखों को अविलम्ब** निवारता।
३—**धर्म की** ग्लानि वा हानि होती है **जब भारत**
होती अधर्म की वृद्धि **लेता हूँ तब जन्म मैं।**
४—**जहाँ योगेश श्रीकृष्ण जहाँ पार्थ धनुर्धर**
मेरी मति **वहीं नित्य जय-श्री निधि नीति है।**

इस प्रकार छन्द-निर्वाह के कारण अनेक अप्रचलित प्रयोग इस अनुवाद में आये हैं। कहीं-कहीं शब्दों का प्रयोग इस प्रकार हुआ है कि उनके अर्थ और भाव-ग्रहण में बाधा पड़ती है।

फिर भी गीता के समश्लोकी अनुवाद के श्रद्धापूर्ण प्रयास के रूप में हिन्दी-जगत् 'गीता-संवाद' को याद रखेगा।

बुद्ध-वचन (धम्मपद)—पालि भाषा के सुविख्यात धर्मग्रन्थ 'धम्मपद' का यह समश्लोकी हिन्दी अनुवाद है जिसे कवि ने तथागत की २५वीं परि-निर्वाण शताब्दि के पवित्र अवसर पर प्रस्तुत किया था। इसकी प्रकाशन-तिथि है सं० २०१३ वि०। कवि ने श्रद्धा-भावना से इसे आधुनिक युग के त्रिरत्न—सर्वश्री डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, आचार्य विनोबा एवं श्री जवाहरलाल नेहरू—को

भावी आशा को व्यक्त किया है। छन्द प्रवाहमयी विषय-वस्तु के अनुरूप ही है। कवि नवयुग के नये प्रभात का इन शब्दों में आह्वान करता है :

आज के स्वतंत्र अरुणोदय में
उद्धृत धरित्री से अभय में
कोटि-कोटि सन्तति का कोटि-कोटि नमस्कार !
आज आत्म-गौरव की हानि नहीं
अन्तस् में दासता की ग्लानि नहीं···

राष्ट्रीय-ध्वजा, महात्मा गांधी तथा जनता-जनार्दन का अभिनन्दन करते हुए कवि कितने सुन्दर शब्दों में कवि के दायित्व का वर्णन करता है :

कवि के स्वतंत्र देश
तेरे लिए कौन नया गीत आज गाऊँ मैं ?
× × ×
मेरे घट में हो आज गंगा-यमुना का नीर,
भावित हो संगम का तीर्थ-तीर;
छन्द में समुद्वेलित हो उठें प्रमोद भरी
रेवा, शोण, वेत्रवती, पंचनद, गोदावरी
उल्लसित प्रेम-प्रेरी
शिप्रा, सिन्धु, सरयू, पवित्र कृष्णा, कावेरी
सबके पुनीत अभिमज्जन से
नव-अभिषेक करूँ आज के सुदिन का;
लाऊँ मातृभूमि के चिरन्तन से
एक रस आ रही अखण्ड निर्मलिनता।

गीता-संवाद (सं० २००५)—हिन्दी के कम ही पाठक यह जानते हैं कि कविवर सियारामशरणजी ने गीता का समश्लोकी अनुवाद भी किया है। गुप्त-बन्धुओं में गीता सदा से ही प्रिय रही है। उनकी वैष्णव-भावना और गांधीवादी अहिंसा की तुष्टि गीता-पाठ से ही होती रही है। गांधीजी की सदा यह इच्छा रही थी कि श्रीमद्भगवद्गीता का पद्यानुवाद अनेक लोक-भाषाओं में हो, जिससे अनासक्ति-योग सर्व-सुलभ हो और लोक-कल्याण का उद्देश्य सफल हो। बापूजी ने एक बार विनोबाजी को इसी प्रकार का एक पत्र लिखा था। इस अनुवाद की प्रेरणा उसी पत्र से कवि को प्राप्त हुई है। कवि को अपनी ज्ञान-सीमा का ज्ञान है। वह समझता है कि संस्कृत के इस गेय ग्रन्थ का समश्लोकी अनुवाद ठीक रूप में प्रस्तुत करने के लिए जो ज्ञान

और प्रतिभा आवश्यक है, वह शायद उसमें नहीं है । फिर भी हृदय की श्रद्धा और आस्था का सम्बल लेकर उन्होंने यह अनुवाद प्रस्तुत किया है।

कवीन्द्र रवीन्द्र ने एक स्थल पर यथार्थ ही कहा है कि भारतवर्ष का हृदय अनुष्टुप छन्द में स्पन्दित हुआ है। गीता भी इसी छन्द में है और हिन्दी में किन्हीं कारणों से इस छन्द का प्रयोग नहीं हुआ। अनुवादक की कठिनाई इस बात से और भी बढ़ गयी है, यद्यपि उसने कुछ आवश्यक परिवर्तन कर इस असुविधा से मुक्ति प्राप्त करने की कोशिश की है। उन्हीं के शब्दों में यदि कहें तो :

"अनुष्टुप आदि में पादान्त के लघु को दीर्घ करने की क्रिया हमारे लिए अस्वाभाविक हो सकती है।"

संस्कृत-साहित्य का रसास्वादन करने वाले पाठकों को अनुवाद में उक्त परिवर्तन नहीं रुचेगा। उनकी सम्मति में यह समश्लोकी अनुवाद दुरूह है, और प्रासादिकता तो नाम को नहीं। हिन्दी के पाठकों को इसकी अव्यवस्थित तथा अप्रचलित भाषा-मुहावरे खटकेंगे। समश्लोकी होने के कारण भाषा में विचित्रता आ गयी है और अनेक अव्यवहार्य प्रयोग इस अनुवाद में मिलते हैं। यथा :

१—मेरों ने पाण्डवों ने भी कहो संजय क्या किया ?
२—प्रसाद सब दुःखों को अविलम्ब निवारता।
३—धर्म की ग्लानि वा हानि होती है जब भारत
होती अधर्म की वृद्धि लेता हूँ तब जन्म मैं।
४—जहाँ योगेश श्रीकृष्ण जहाँ पार्थ धनुर्धर
मेरी मति वहीं नित्य जय-श्री निधि नीति है।

इस प्रकार छन्द-निर्वाह के कारण अनेक अप्रचलित प्रयोग इस अनुवाद में आये हैं। कहीं-कहीं शब्दों का प्रयोग इस प्रकार हुआ है कि उनके अर्थ और भाव-ग्रहण में बाधा पड़ती है।

फिर भी गीता के समश्लोकी अनुवाद के श्रद्धापूर्ण प्रयास के रूप में हिन्दी-जगत् 'गीता-संवाद' को याद रखेगा।

बुद्ध-वचन (धम्मपद)—पालि भाषा के सुविख्यात धर्मग्रन्थ 'धम्मपद' का यह समश्लोकी हिन्दी अनुवाद है जिसे कवि ने तथागत की २५वीं परि-निर्वाण शताब्दि के पवित्र अवसर पर प्रस्तुत किया था। इसकी प्रकाशन-तिथि है सं० २०१३ वि०। कवि ने श्रद्धा-भावना से इसे आधुनिक युग के त्रिरत्न—सर्वश्री डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, आचार्य विनोबा एवं श्री जवाहरलाल नेहरू—को

समर्पित किया है। यों तो 'धम्मपद' के कतिपय हिन्दी अनुवाद इससे पूर्व भी धर्मनिष्ठ पाठक को उपलब्ध थे, पर श्री सियारामशरणजी के इस अनुवाद का अपना एक विशिष्ट महत्त्व है। इस अनुवाद में धर्म एवं काव्य का अपूर्व सम्मिलन है।

'धम्मपद' के प्रथम व्याख्याकार बुद्धघोष का मत था कि इसमें भगवान् बुद्ध की स्वयं-कथित वाणी है। इसमें २६ वग्ग (वर्ग) और ४२३ श्लोक हैं। ये श्लोक सुत्त-पिटक के निकायों में तथा अन्य थेरगाथा-ग्रन्थों में पाये जाते हैं। कुछ श्लोकों में मनुस्मृति एवं महाभारत का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। तथागत ने अपने उपदेश लोकभाषा मागधी में दिये थे। उसी मागधी का परिष्कृत एवं सुसंस्कृत रूप पालि भाषा थी।

मूलरूप में धम्मपद में अनुष्टुप छन्द का प्रयोग हुआ है। समश्लोकी अनुवाद में इसी छन्द की छटा मूल-भाव के साथ सुरक्षित हुई है। इस विषय पर कवि ने अपना वक्तव्य इस प्रकार दिया है :

> **"छन्द भी मूल के ही लिये गये हैं। आज जब हिन्दी में छन्द सम्बन्धी औदार्य की कमी नहीं है, तब प्राचीन होने के कारण ही अनुष्टुप आदि के प्रति संकोच उचित नहीं जान पड़ता। हमारे बड़े से बड़े कवियों के द्वारा व्यवहृत इन छन्दों में भारतवर्ष के हृदय का स्पन्दन ध्वनित है। इस प्रकार अनुवाद में 'धम्मपद' के अन्तर्बाह्य दोनों को सुरक्षित रखने की चेष्टा की गयी है। ऐसे ग्रन्थों के अनुवाद में मूल के निकट रहना ही श्रेयस्कर होता है।"**

इस अनुवाद में मूल पालि श्लोक नहीं दिये गये हैं। यह अभाव खटकता है। मूल श्लोक देकर यदि उनका समश्लोकी अनुवाद दिया जाता तो पुस्तक का महत्त्व बढ़ जाता। 'धम्मपद' अपनी उपमाओं के लिए विख्यात है। सियारामजी ने मूल श्लोक की शब्दावलि के निकट रहकर भी अनूदित छन्द को स्वतन्त्र रूप से रसदायी बनाया है। 'जरा वर्ग' से निम्न उदाहरण देखिए :

(मूल) परिजीर्ण मिदं रूपं रोगनीडं प्रभंगुरम्।
भिद्यते पूति-सन्दोहो, मरणान्तं हि जीवितम्॥

इसका समश्लोकी अनुवाद इस प्रकार किया गया है :

जीर्ण रूप रुजा काया जर्जरा क्षणभंगुरा
गलेगी यह दुर्गन्धा, जीवनान्तक मृत्यु है।

एक अन्य श्लोक में मानव-देह की नाशवान् गति का चित्रण मूल में इस प्रकार है :

पश्य चित्रांकित बिम्बमुरुकायं समुतश्रितम्
आतुरं बहुसंकल्पं, यस्य नास्ति ध्रुवा स्थितिः ।

अनुवाद में कवि ने इसकी चित्रात्मक सुन्दरता इस प्रकार बढ़ा दी है :

चित्रिता सव्रणा काया खड़ी जो अस्थि-चर्म से
देखो बहुल संकल्पा आतुरा और अस्थिरा !

कवि को समश्लोकी अनुवाद में कहीं-कहीं अप्रचलित दुरूह शब्दों को स्वीकार करना ही पड़ा है । इससे 'धम्मपद' की व्यंजना-शक्ति में वृद्धि हुई है किन्तु साधारण पाठक को यत्र-तत्र प्रसाद-गुण का अभाव खटकेगा और किन्हीं स्थलों पर अर्थ ग्रहण करने में कठिनाई होगी ।

अमृत-पुत्र (प्रभु ईसा)—इस काव्य-पुस्तक का प्रकाशन सं० २०१६ में हुआ यद्यपि इसकी रचना सं० २०१० के लगभग हुई थी । इसमें ईसू का संक्षिप्त चरित् उनके समय के दो व्यक्तियों के द्वारा उपस्थित हुआ है । हिन्दी में उग्र जी का 'महात्मा ईसा' नाटक विख्यात है; किन्तु ईसू पर सम्भवतः यह प्रथम काव्य-कृति है । किशोरीलाल मश्रूवाला की 'ईसू-ख्रिस्त' से इस काव्य-सृजन में सहायता ली गयी है । विनोबा भावे की चिरगाँव पद-यात्रा के अवसर पर कवि का शिशु-सुलभ हृदय श्रद्धा-भार से झुक गया था । उसी घटना से प्रभावित होकर उन्होंने इस काव्य का सृजन किया था । वास्तव में 'अमृत-पुत्र' कवि की दीर्घ कविता 'अचला' का एक स्वतन्त्र अंश ही है । हृदय की श्रद्धा से इसकी रचना हुई है—कदाचित् इसीलिए इसमें काव्य-रस क्षीण है ।

'अमृत-पुत्र' काव्य में दो आख्यान हैं—(१) सामरी, (२) क्रूसधर । 'सामरी' कविता समारा प्रान्त से सम्बन्धित है । यहूदी लोग इस प्रान्त को अपवित्र समझते थे । प्रभू ईसा ने अपनी यात्रा इसी भू-भाग में होकर की । उनका यह चित्र देखिए :

स्फटिक गौर सतेज मुख-मण्डल रुचिर
दीखता है दमकता रवि-ताप में,
आतपालेपन विभूषण है उसे ।

प्रभु ईसा सामरी से प्यास बुझाने के हेतु पानी माँगते हैं :

—'जल दो मुझे ।'

चकित सामरी सोचती है :

जल अरे इस कलश में मेरे कहाँ ?
आग में फुँकते हुए भी उच्च जन
उबरना तक चाहते हमसे नहीं ।
तृषित हैं, कैसे हरूँ इनकी तृषा ।"

इस पर ईसू बोले :

"दान ईश्वर का नहीं तू जानती,
जानती होती कहीं यह कौन है
सामने जो माँग जल तुझसे रहा
माँगती तत्काल तो मुझसे यहाँ
तू स्वयं वह दिव्य जल—पीकर जिसे
सब तृषाएँ सर्वदा को शान्त हैं ॥"

यह काव्य-कथा वास्तव में भारतीय मन के बहुत अनुकूल बैठती है और अनेक पंक्तियों में तात्कालिक परिस्थितियों की चेतना अभिव्यक्त हुई है ।

'क्रूसधर' ईसा के जीवन की उस घटना से सम्बन्धित है जिसने लक्ष-लक्ष मानवों और कलाकारों को सदा से प्रभावित किया है। कवि ने इसमें सायमन नाम के व्यक्ति की स्वात्म-कथा के माध्यम से ईसा के महान् बलिदान की गौरव-गाथा अंकित की है। अन्याय के प्रतिकार एवं निर्भय आत्म-दान की उदात्त भावनाओं से ओत-प्रोत वर्णन पाठक के मर्म को स्पर्श कर लेते हैं । 'सर्मन ऑन दि माउण्ट' का सात्विक उपदेश इन शब्दों में साकार हुआ है :

"धन्य वे जो दीन-दुःखी नम्र-नत
भूख-प्यास जिन्हें हृदय में धर्म की
धन्य वे जो सदय हैं संशुद्ध हैं
शान्ति की संस्थापना जो कर रहे
कर रहे धर्मार्थ जो सब कुछ सहन
धन्य उनको, धन्य जीवन धन्य वे
राज्य उनके ही लिए है स्वर्ग का
पायेंगे संसार का साम्राज्य वे
पायेंगे चिर शान्ति निश्चय वे पुरुष
पुत्र बनने योग्य हैं प्रभु के वही।
जब असत्य अनीति के प्रतिरोध में
क्रूर कटु आघात अत्याचार की
यातनाएँ घोरतर सहनी पड़ें
सज्जनो, तब तुम मनाओ हर्ष ही
सुख तुम्हारा है वही सबसे बड़ा
सज्जनो, तुम इस जगत् की ज्योति हो।"

क्रूस के भार से सम्बन्धित अनेक उक्तियाँ इस काव्य में मिलेंगी। पवित्र क्रूस मानो सिसकती मानवता का प्रतीक है :

लुब्ध हिंस्र मदान्ध मानव मात्र का
पाप पुंजीभूत है इस क्रूस में
वहन का अधिकार केवल ईसु को।

अन्यायी के प्रति भी मानवीय करुणा रखने वाले ईसा की यह अमर उक्ति कितनी प्रेरणादायी है :

"कर क्षमा उनको पिता, तू कर क्षमा
कर रहे क्या, वे नहीं यह जानते"

क्रूसधर की कथा ईसा के Resurrection तक आती है। उस अखण्ड समाधि में भला वे सुख-शान्ति कैसे झेलते ? इसीलिए : जग गये हो प्रभु पुनः तुम जग गये।

ईसु ईश्वर-पुत्र पावन ख्रीस्ट वे
विचरते हैं भूमि पर फिर पूर्ववत्।

मानव-उद्धार की आस्था के स्वरों से इस काव्य का अन्त होता है।

अतुकान्त छन्दों में कथा-प्रवाह अविरल रूप से गतिमान रहता है। सात्विक पाठकों की अभिरुचि जागृत करने में समर्थ यह काव्य पुस्तिका 'अमृत-पुत्र' हिन्दी में अनूठी ही है।

नाटक

पुण्य-पर्व (सं० १९८९)—सियारामशरणजी ने अब तक केवल एक ही नाटक लिखा है। विचार-प्रधान नाटक शायद ही कभी पूर्णतया सफल होते हैं। नाटक के लिए चरित्र-चित्रण और द्वन्द्व की मुख्य आवश्यकता रहती है। 'पुण्य-पर्व' नाटक में लेखक इस दृष्टि से तो सफल है कि इसमें दो विरोधी पात्र खड़े किये गये हैं, और 'अहिंसा' सिद्धान्त इसका मूलभूत विचार-बिन्दु है; किन्तु नाटकीय कथावस्तु में जो प्रवाह, गति और बल होता है, उसका इसमें अभाव है। कदाचित् इसीलिए बाद में गुप्तजी ने नाट्य-रचना करना त्याग दिया होगा।

नाटक में भगवान् गौतम बुद्ध के जन्म के पूर्व का वातावरण है, जब 'असत्' की विजय में मनुष्य का विश्वास था और यज्ञ, बलि, कर्मकाण्ड आदि की प्रधानता थी। पूर्व बौद्ध-कालीन समय की भूमिका पर आज के समाज की अवस्था का चित्रण कितना स्वाभाविक है ! हिंसा-अहिंसा का संघर्ष, जिसे गांधीजी के व्यक्तित्व ने पूरे ज़ोर के साथ इस युग के सामने रखा, इस

नाटक में प्रदर्शित है। नर-बलि के विरुद्ध आवाज़ उठाना ही लेखक का लक्ष्य है। इतना ही नहीं, वह समाज के मूल तत्त्वों की विवेचना कर अहिंसा-सिद्धान्त का प्रतिपादन करना चाहता है। अपने प्रायः सभी ग्रन्थों में गुप्तजी ने इसी विचार-धारा से प्रेरणा ग्रहण की है और इस नाटक की रचना भी इसी भाव-भूमि पर हुई है।

इसके लिए लेखक ने दो विरोधी पात्रों की सृष्टि की है : सुतसोम जो सत् और 'चेतना' का और ब्रह्मदत्त जो 'असत्' और 'हिंसा' का प्रतीक है; दोनों का संघर्ष राजनीति के क्षेत्र में आकर मूर्त हो उठता है। ब्रह्मदत्त और सुतसोम यों तो दोनों तक्षशिला में आचार्य सुबन्धु के यहाँ सहपाठी रहे हैं, किन्तु प्रारम्भ से ही दोनों की विचार-धाराओं में मौलिक अन्तर रहा है। इस समय ब्रह्मदत्त वाराणसी से सिंहासन-च्युत है और प्रतिहिंसा की अग्नि में जल रहा है। उसने अपने और सुतसोम के जनपदीय क्षेत्रों में आतंक फैला रखा है और सोमवती के पुण्य अवसर पर सौ पुरुषों की बलि देना निश्चय किया है। वह सुतसोम को भी बन्दी कर लेता है और नर-यज्ञ में हवि देने को तत्पर है। उसी समय सुतसोम अपने वचन-पालन, कर्तव्य-निष्ठा और अहिंसायुक्त सत्य आचरण से ब्रह्मदत्त का हृदय-परिवर्तन कर देता है, और यवनिका-पात के समय वह कह उठता है :

मेरे जीवन की अमावस्या में आज सचमुच ही सोमवती के पुण्यपर्व का उदय हुआ है।

बलि का तात्पर्य समझाते हुए सुतसोम कहते हैं :

बलि का यह अभिप्राय नहीं कि हम अपनी या किसी दूसरे की हत्या कर डालें। हमारे भीतर जो अहंभाव है, भगवान् के चरणों में उसी की बलि देना ही सबसे बड़ी बलि है।

'पुण्य-पर्व' नाटक का सांस्कृतिक धरातल बहुत ऊँचा है। उद्देश्य की दृष्टि से यह सांस्कृतिक चेतना का नाटक है, और इसमें मानव की उदात्त वृत्तियों की स्थापना की गयी है। आत्मबल द्वारा पशुबल पर विजय पायी गयी है। लेखक का दृढ़ विश्वास है कि हृदय-परिवर्तन द्वारा ही विश्व सुसंस्कृत हो सकता है। इस नाटक का वातावरण शुद्ध और सात्विक है, जो हमारे मन को छूता है।

पात्रों का चित्रण विभिन्न रेखाओं और रंगों द्वारा किया गया है, किन्तु वे सजीव कम हैं। पात्र नहीं, उनमें लेखक अधिक बोलता है। दार्शनिकता के बोझ ने उनकी 'मानवीयता' को दबा दिया है। वे विचारों के मूर्त-रूप प्रतीत

होते हैं; सजीव सशरीर मानव नहीं। भाषा भी इसी कारण दुरूह हो गयी है। वातावरण की दृष्टि से नाटक सफल है। द्वन्द्व भावना तीक्ष्ण है, और कलाकार का उद्देश्य सुस्पष्ट है। कुछ निम्न स्तर के पात्रों में किंचित् हास्य-व्यंग्य का भी समावेश है। स्त्री-पात्र इसमें तीन हैं जिनमें प्रधान है सुतसोम की पत्नी विशाखा, जो आर्य-सभ्यता की सुन्दर प्रतीक है। उसकी दो दासियाँ पूर्णा और उत्पला हैं, जिनका कार्य नगण्य ही है। समस्त नाटक की कथा-वस्तु सुतसोम की राजधानी हस्तिनापुर और 'मृगचिरा' नामक ग्राम और उसके पार्श्ववर्ती ग्राम में केन्द्रित है। रंगमंच की दृष्टि से नाटक असफल है; किन्तु पाठक की चेतना और विवेक को जागृत करने वाली सोद्देश्य रचना के विचार से नाटक नगण्य नहीं।

उपन्यास

सफल कवि के अतिरिक्त सियारामशरणजी हिन्दी के एक प्रमुख उपन्यास-कार भी हैं, यह उनकी बहुमुखी प्रतिभा का परिचायक है। उनकी चेतना नवीन है और अपनी उर्वर कल्पना-शक्ति के कारण वे एक के बाद दूसरी सुन्दर कलाकृति भेंट देते जाते हैं। गुप्तजी के तीन उपन्यास हैं—(१) 'गोद', (२) 'अन्तिम आकांक्षा', और (३) 'नारी'। इनमें से अन्तिम उपन्यास बहुत लोकप्रिय हुआ है। उसकी-सी मार्मिकता कथा-साहित्य में कम ही मिलती है। उपन्यासों में यह कवि सफल हुआ है, यद्यपि यह आश्चर्य का ही विषय है कि भाव-क्षेत्र में विचरण करने वाला कवि घटनाओं के जाल में कैसे प्रवेश कर पाता है! सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो उपन्यास और काव्य के सृजन में समान निर्माणकारी शक्तियों की आवश्यकता पड़ती है। कवि केवल भावनाओं का चित्रण करता है। उपन्यासकार को भावना एवं घटना दोनों का ही सुन्दर मिश्रण करना पड़ता है। सियाराम में यह क्षमता है, और यही कारण है कि कवि होते हुए वे सफल उपन्यासकार भी हो सके। इसी सम्बन्ध में एक बात और है कि यह कवि अपनी काव्य-कृतियों में भी विचार-प्रधान रहा है, और अनेक प्रकार के सजीव पात्र खड़े करता रहा है। पात्र-निर्माण और घटनाओं के उचित संयोजन से ही किसी उपन्यास की कथा-वस्तु प्रस्तुत होती है, और इस प्रकार की प्रतिभा इस कवि में प्रारम्भ से ही विद्यमान थी। इतिवृत्तात्मक काव्य के रचयिता उपन्यास में असफल होते कम ही देखे गये हैं।

सियारामशरण के प्राय: तीनों उपन्यासों में ग्राम-जीवन प्रदर्शित हुआ है। उनकी वृत्ति ग्राम-संसार में ही रमती है और ह्रासोन्मुख ग्रामीण-संस्कृति के अनेक सजीव चित्र उनके इन तीनों उपन्यासों में मिलते हैं। उनके पात्र सीधे

और सच्चे हैं; उनमें किसी प्रकार की मनोवैज्ञानिक उलझनें नहीं हैं। मानवता का सात्विक सन्देश वे हमें देते हैं और अपने सरल, सतोगुणी वातावरण से पाठक पर अमिट प्रभाव छोड़ते हैं।

गोद—इस उपन्यास में एक ग्रामीण गृहस्थ की सरल कथा है। दयाराम के भाई शोभाराम का विवाह एक विधवा कौशल्या की पुत्री किशोरी से निश्चित हो जाता है। प्रयाग-संगम-मेले के अवसर पर किशोरी अपनी माँ से बिछुड़ जाती है। रात भर की खोज के पश्चात् सेवा-समिति के लोग उसे कौशल्या के पास पहुँचा देते हैं। इसी घटना के कारण अबोध किशोरी समाज के सन्देह का शिकार बनती है। समाज अथवा लोकमत में शंकित पाप का बड़ा महत्त्व है। हिन्दू समाज में भी यह अक्षम्य अपराध है, अतएव शोभाराम के भाई दयाराम की आज्ञानुसार यह सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। धन-लिप्सा और लोकापवाद की शरण लेकर दयाराम पृथ्वीपुर के जमींदार के यहाँ सम्बन्ध पक्का कर लेते हैं। विधवा कौशल्या इस अन्याय को सहन न कर सकी। फलस्वरूप वह बीमार हो जाती है। उसकी इस संकटापन्न अवस्था को देखकर शोभाराम का हृदय पिघल जाता है; किन्तु दयाराम अब भी अपनी स्वीकृति नहीं देते। सामाजिक अत्याचारों का उद्घाटन यहाँ लेखक ने बड़े ज़ोर से किया है। शोभाराम के साहस का सुन्दर उदाहरण भी मिलता है। उसने गुप्त रूप से किशोरी को अपना लिया। जब किशोरी अपनी निर्दोषिता सिद्ध कर देती है तभी दयाराम का हृदय परिवर्तन होता है। शोभाराम भी अपना विद्रोह समाप्त कर भाई की गोद में पुनः शरण लेता है। अश्रु-धाराओं के संगम में हृदयों की संकीर्णता और कठोरता द्रवित हो उठती है, और सुखद पारिवारिक सामंजस्य के बाद उपन्यास समाप्त होता है। लेखक के शब्दों में अन्त इस प्रकार है:

आँसुओं की दोनों धाराओं ने एक में मिलकर एक दूसरे संगम-तीर्थ के जल से दयाराम की 'गोद' भर दी।

इस उपन्यास का कथानक सीधा-सरल तो है, किन्तु वैचित्र्यपूर्ण कौतूहल भी इसमें मिलता है। इससे कथा-प्रवाह में तीव्रता आ गयी है। अन्तर्द्वन्द्व के भी कई स्थल इसमें हैं जो उपन्यास को आधुनिकता का वातावरण प्रदान करते हैं। शोभाराम को साहसी दिखाना भी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। हिन्दू-समाज में किंचित् सन्देह के कारण भी नारी को दोषी समझ लिया जाता है; इसी अन्याय के विरुद्ध इस उपन्यास में स्वर उठाया गया है। गुप्तजी ने हमारी इस दोषपूर्ण धर्म-नीति का विरोध किया है; किन्तु इस विरोध में विद्रोह-भावना अथवा प्राचीन संस्कारों के उन्मूलन का स्वर नहीं है।

अन्तिम आकांक्षा—यह गुप्तजी का दूसरा उपन्यास है जो कभी-कभी पाठक को रवीन्द्र की अमर कहानी 'काबुलीवाला' का स्मरण करा देता है। काबुलीवाला जैसे मिनी के प्रति वात्सल्यपूर्ण था उसी प्रकार इस उपन्यास का नायक 'रामलाल' अपने स्वामी की पुत्री के प्रति श्रद्धालु है। यह नौकर रामलाल स्वामिभक्त है और मान-अपमान के प्रति बड़े तीव्र रूप से सजग है। उपन्यास एक प्रकार से आत्म-कथात्मक शैली में लिखा गया है। एक उपेक्षित नौकर को उपन्यास का नायक बनाकर गुप्तजी ने दलित वर्ग के प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित की है। इस उपन्यास में भी हमें मानवता का सन्देश मिलता है और इसको पढ़ने के बाद पाठक के हृदय में स्नेह, करुणा और सहानुभूति की भावनाएँ जागृत होती हैं।

इस उपन्यास का कथानक असंगठित है। अपने गति-प्रवाह के कारण एक प्रकार की अनिश्चितता इसमें मिलती है, जो जीवन की ही परिचायक है। समस्त घटनाएँ नायक के व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखती हैं और उसी में उनका पर्यवसान है। नायक रामलाल सत्य-परायण और निर्भीक है। उसका साहस और कार्य-कौशल प्रशंसनीय है। उसमें अन्याय के विरुद्ध मोर्चा लेने की बड़ी भावना है। बदला लेना वह खूब जानता है, किन्तु अपने प्रति वह उदासीन है और ईश्वर में अपनी आस्था का ही आश्रय लेता है। स्वामी के लिए वह अपने बाहुवल से भी कार्य लेता है। वह अन्याय का विरोध करने के कारण ही जेल जाता है, और वहीं मर जाता है। मरते समय वह निम्न शब्दों में अपनी अन्तिम आकांक्षा व्यक्त करता है :

अपने ही गाँव में झट से जन्म लूँ। दूसरे जन्म में मैं फिर तुम्हारी चाकरी में पहुँचूँ।

उपन्यास का भाव-धरातल ऊँचा है। एक-दो स्थल मार्मिक हैं। शृंगार रस का पूर्णतया अभाव है; फिर भी उपन्यास का वातावरण शीतल और आर्द्र है, जो पाठक के मन को भाता है। हिन्दू-समाज की कई कुरीतियों का इसमें दिग्दर्शन कराया गया है। रामलाल के अतिरिक्त और पात्र नगण्य हैं। इस उपन्यास से पाठक को गुप्तजी के परिवार के वातावरण की झाँकी मिल जाती है।

नारी—गुप्तजी के तीनों उपन्यासों में 'नारी' ने सबसे अधिक ख्याति प्राप्त की और वही सबसे अधिक लोकप्रिय हो सका। इसके अनेक कारण हैं। यह उपन्यास कला और भाव उभयपक्षों की दृष्टि से लेखक की सर्वोत्कृष्ट रचना है। 'नारी' में भारतीय नारी के जीवन की करुणा का सजीव चित्रण है जो

अन्यत्र नहीं मिलता। मैथिलीशरण गुप्त ने यशोधरा में अबला जीवन पर जो उक्ति कही है, वही इस उपन्यास में चित्रित हुई है। हिन्दू-नारी का अदम्य स्नेह, आत्म-त्याग और करुणा सभी कुछ इसमें कलात्मक रूप से व्यंजित हुए हैं। इसकी नायिका जमुना हिन्दी-उपन्यास की अमर पात्र है।

'नारी' का भी घटना-स्थल भारतीय ग्राम ही है, इसमें केवल एक बार कथाक्रम कलकत्ते तक जाता है, और फिर लौटकर ग्राम में ही आ जाता है। समस्त पुस्तक भारतीय ग्राम-जीवन के वातावरण से ओत-प्रोत है। कथा भी सीधी-सादी है। जमुना का पति वृन्दावन है, जो अपने दारिद्रय का भार दूर करने कलकत्ता चला जाता है। उसका पुत्र हल्ली है जिसके प्रति वात्सल्य के सहारे जमुना इतने दिन जीवित रही है। वृन्दावन का कोई समाचार नहीं मिलता है। यह नारी अपने पुत्र का लालन-पालन करती रहती है। अपने पति-आगमन की प्रतीक्षा का सहारा लेकर अपने आँचल के दूध को वात्सल्य-रस में प्रवाहित करती रहती है। हल्ली का चित्रण गुप्तजी ने बड़े स्वाभाविक रूप में किया है। वह अपनी पाठशाला में आदर्श विद्यार्थी है। बिना आधुनिक उपन्यासों की शैली की मनोवैज्ञानिक जटिलता का समावेश किये ही कलाकार ने हल्ली के चित्रण में गहरी स्वाभाविकता ला दी है। अपने पिता की भावना का ही वह अन्यतम उपासक है। जमुना के जीवन की समस्त आकांक्षाएँ हल्ली में केन्द्रित हो चुकी हैं, फिर भी उसे अपने पति के वापस आने का विश्वास है।

ऐसे समय ही अजीत इस नन्हें परिवार में प्रविष्ट होता है। वह एक निःस्वार्थ प्राणी है, जो अपनी पूरी सहृदयता के साथ जमुना के नीरस ऐकान्तिक जीवन में आकर उसकी सहायता का व्रत लेता है। वृन्दावन की खोज में उसने दिन-रात एक कर दिया, और प्रत्येक प्रकार से जमुना के जीवन में नवीन ध्येय की प्राण-प्रतिष्ठा करने का यत्न किया। जब सहसा वृन्दावन के जीवित होने का समाचार मिलता है तो जमुना को प्रतीत हुआ कि उसके जीवन की तपस्या फलीभूत होगी, किन्तु मोतीलाल और उसके पुत्र हीरालाल की दुष्टता के फलस्वरूप वह गाँव में आकर भी जमुना से बिना भेंट किये लौट जाता है, और मौन जमुना पाषाणवत् हो इसे सहन करने को तत्पर हो जाती है। शठता की विजय के कारण पाठक की सहानुभूति जमुना के प्रति और भी बढ़ जाती है।

जमुना और अजीत के पारस्परिक सम्बन्ध पर हिन्दी-आलोचकों में काफ़ी वाद-विवाद चलता रहा है। मनोवैज्ञानिक युग में ऐसा होना स्वाभाविक ही है। अधिक विश्लेषण करने की प्रवृत्ति से यही हानि होती है। कुछ लेखकों ने

जमुना के अजीत के प्रति आकर्षण को ऐन्द्रिक माना है। इसमें वे जमुना का नितान्त पतन देखते हैं, किन्तु ऐसा निर्णय देना असहानुभूतिपूर्ण तो है ही, अनुचित भी है। अजीत को स्वीकार करने में जमुना का पतन नहीं नारी मात्र का उत्थान है—ऐसा हमारा मत है। उस स्वीकृति में यौवन-आकर्षण नहीं, कृतज्ञता की मानवीय व्यंजना है, और उसमें भी पति और पुत्र के प्रति प्रेम निहित है। अजीत के चित्र को इसी सूक्ष्म दृष्टि से समझने का यत्न करना चाहिए। वह स्वार्थी कहा जा सकता है; किन्तु दुष्ट और नीच नहीं है। वह नारी की भावनाओं को खूब समझता है; उसके लिए वह बड़े से बड़ा भी त्याग कर देता है, समाज की उपेक्षा तक करता है और जमुना का आदर करता है। वह नारी को केवल भोग्य वस्तु नहीं समझता। उसमें अनेक कमज़ोरियाँ हैं, किन्तु वे स्वाभाविक हैं। सत्यनिष्ठ होकर वह जमुना को उसके पति वृन्दावन से मिलाना चाहता है, और यही उसकी विशेषता है, जो उसकी दुर्बलताओं पर स्वर्णमय आवरण डाल देती है।

गुप्तजी के उपन्यासों में एक ऐसे प्रकार की मानवीयता है, जो पाठक को अभिभूत कर डालती है। मर्मस्पर्शिता उनका प्रधान गुण है। भाषा सरल और प्रवाहमयी है, उसमें बनावट अथवा अस्वाभाविकता नहीं। कथा-प्रवाह अबाध गति से बहता है और चरित्र-चित्रण सजीव और स्वाभाविक होता है। आधुनिक उपन्यासकार होते हुए भी उनमें किसी प्रकार की अस्पष्टता तथा जटिलता नहीं है।

निबन्ध

झूठ-सच (सं० १९९६)—श्री सियारामशरणजी से निबन्ध भी अछूता नहीं रहा है। इस संग्रह में उनके समय-समय पर लिखे गये लगभग अट्ठाईस निबन्ध संकलित हैं। निबन्धों के रचना-काल में कई वर्षों का अन्तर है। ये निबन्ध लेखक की रुग्णावस्था में लिखे गये प्रतीत होते हैं। अस्वस्थ शरीर और स्वस्थ मस्तिष्क के ये परिचायक हैं और कई दृष्टियों से हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उल्लेखनीय हैं। अधिकांश निबन्ध आत्म-कथात्मक हैं; इनमें लेखक के सजग तथा चैतन्य संवेदनशील व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। दैनिक जीवन की नगण्य घटनाओं के प्रतिक्रिया-स्वरूप इन सुन्दर निबन्धों की रचना हुई है। इनमें कहानी भी है, घटनाओं का चित्रण है, प्राकृतिक वर्णन है, व्यक्तिगत संस्मरण हैं; जीवन की मार्मिक घटनाओं की अभिव्यंजना करने वाले गद्य-काव्य के अंश भी हैं। यही नहीं, साहित्य और राजनीति-सम्बन्धी समस्याओं की तार्किक विवेचना भी है, पर सभी रचनाओं में सरल आत्मीयता प्रकट होती है,

जो अपनी सहानुभूति, करुणा और संवेदनशीलता के कारण पाठक के मर्म को स्पर्श करती है। पाठक इन भावनाओं में अभिभूत होकर आनन्दित हो उठता है।

इस पुस्तक का नामकरण इसके अन्तिम निबन्ध से हुआ है, जिसमें रधिया और काशीराम के चित्रण द्वारा लेखन-व्यवसाय के झूठे-सच्चे प्रयासों पर मृदु व्यंग्य करते हुए निम्न-वर्ग की नारी की करुणापूर्ण कथा कही गयी है। इसे निबन्ध न कहकर कहानी ही कहना शायद उचित हो। साहित्य-कर्म में लीन व्यक्ति मानवता को नहीं चीन्ह पाता और जगत् निर्मम होकर अपना निर्णय दे देता है। इस निबन्ध में लेखक का कवि-हृदय स्पष्ट परिलक्षित होता है।

'हिमालय की झलक' में लेखक ने अपनी नैनीताल-यात्रा का सरस वर्णन किया है। पर्वत-प्रदेश में जो एक प्रकार की विराट् भावना उद्भूत होती है, उसकी सुन्दर अभिव्यक्ति हमें इसमें मिलती है। 'कवि की वेश-भूषा' शीर्षक निबन्ध में लेखक की हास-परिहास की वृत्ति प्रदर्शित है। इन रचनाओं में लेखक अनेक स्थानों पर अपने पर, और अपने विरुद्ध भी हँसता रहा है। हास्य-व्यंग्य का यह मृदु-समावेश पाठक को स्मित हास्य देता है, स्थान-स्थान पर उसे कौतूहल और गुदगुदी भी होती है। यह बात और भी महत्त्वपूर्ण हो उठती है, यदि हम यह स्मरण रखें कि सभी निबन्ध उस समय लिखे गये जिस समय लेखक रुग्ण था। उदाहरणस्वरूप निम्न अंश दिया जा सकता है, जिसमें लेखक की विनोद-प्रियता और कौतूहलपूर्ण शैली के दर्शन होते हैं :

तब दूसरा सुझाव मेरा यह है कि कवि के लिए स्त्री-जैसा कच-कलाप अनिवार्य हो। इस पर अपने पूर्णाधिकार से वंचित होकर स्त्रियाँ इससे रूठेंगी नहीं। 'बढ़त देख निज गोत' की नीति से उनकी अँखियाँ सुखी ही होंगी।

[कवि की वेश-भूषा]

कई निबन्ध विचारात्मक हैं। उनमें हमें इस लेखक की सूक्ष्म गद्य-रचना की शक्ति का पता चलता है। उलझे हुए दार्शनिक विचारों को हल्की-सुलझी हुई भाषा में व्यक्त करना इस लेखक के लिए सहज-सुलभ कार्य है। एक उदाहरण देखिए :

यह ठीक है कि पूर्व और पश्चिम का भेद सुस्पष्ट करने के लिए किसी ने दिन में ही सूर्य की यह मशाल जला रखी है। पर इसी के साथ उतना ही ठीक क्या यह नहीं है कि उसी ने इस मशाल की पीठ पर अन्धकार भी प्रतिष्ठित कर रखा है? दिन हो तो उसके साथ रात है और रात हो तो उसके साथ

दिन। उत्तर है तो दक्षिण भी होगा। इस तरह दो का यह उत्तर-प्रत्युत्तर, यह तर्क-वितर्क, अनादि काल से चला आता है। [बहस की बात]

राष्ट्र-प्रेम व्यक्त करने वाले दो-एक निबन्ध हमें स्मरण कराते हैं कि इस लेखक में रुग्ण-शय्या पर पड़े रहने के समय भी जीवन-शक्ति विद्यमान थी। भाषा, साहित्य, वेश-भूषा, संस्कृति इत्यादि पर ऐसे अनेक वाक्य कहे गये हैं, जो यदि चुनकर प्रसंग से अलग भी कर दिये जायँ तो उनका महत्त्व और भी बढ़ जायगा। सूक्तिमय वाक्यों का यह लेखक धनी है। साहित्यिक संस्मरण की दृष्टि से 'मुन्शीजी' शीर्षक निबन्ध बहुत उपयोगी है, और स्वर्गीय मुन्शी अजमेरीजी के जीवन के अज्ञात अंशों को प्रकाश में लाया गया है। शब्द-चित्र प्रस्तुत करने में भी यह लेखक सिद्धहस्त है।

इन निबन्धों की गद्य-शैली सरल किन्तु परिष्कृत है; भाषा सीधी-सादी है किन्तु प्रभाव और प्रासादिकता का अभाव नहीं है। शब्द-चयन विषयानुकूल है और गम्भीर विचारात्मक निबन्धों में भी विनोदपूर्ण तार्किक शैली का आश्रय लिया गया है, जो पाठक को प्रिय है। गुप्तजी की एकमात्र निबन्ध-रचना होने के नाते, ही नहीं अपने प्रकार की अकेली साहित्यिक कृति होने के कारण भी इस पुस्तक का अनेक वर्षों तक आदर होता रहेगा।

कहानी

मानुषी (कहानी-संग्रह)—श्री सियारामशरणजी ने कुछ कहानियाँ भी लिखी हैं, उनका संग्रह इस संकलन में हुआ है। इसमें कुल आठ कहानियाँ हैं। पहली कहानी 'मानुषी' के नाम पर इस पुस्तक का नामकरण हुआ है। काव्य और उपन्यासों के अध्ययन में हम गुप्तजी की कथा-निर्माण-कला पर दृष्टिपात कर चुके हैं। पात्र खड़े करना और उसके चारों ओर वातावरण का सहज निर्माण करना गुप्तजी की कला है। मानवीय सहानुभूति और संवेदनशीलता की जो सम्पत्ति इस कलाकार में है, उसके कारण इसकी किसी भी रचना में रस का संचार हो सकता है। रस-क्षीण भी हो तो भी उसमें एक इस प्रकार का सात्विक गुण आ जाता है, जो पाठक को आत्म-तुष्टि प्रदान करता है। वह सोचता है, हिन्दी का यह लेखक चित्त में उदात्त वृत्तियों का संचालन करता है—ऐसा अन्य लेखकों में नहीं।

इस दृष्टि से इस संग्रह की कहानियाँ उत्तम हैं। कथा का टेकनीक इतना सहज और सरल है कि वह नहीं के बराबर है। सरल रूप में इतिवृत्तात्मक रूप में यह कथानक को आगे बढ़ाते है, और अन्त में पाठक को मानवीय हृदय के वृहद रूप के दर्शन होते हैं। प्रस्तुत सभी कहानियों में एक आवश्यक तत्त्व

अनिवार्य रूप से मिलता है, और वह है मानवीयता, शोषित, त्रस्त मानव के प्रति सहज सहानुभूति। प्रगतिवाद के युग में यह कहना यहाँ आवश्यक है कि गुप्तजी का यह मानवतावाद उस प्रेम, सहानुभूति और करुणा से भिन्न है जो आजकल के वर्गवादी लेखकों में प्राप्त होता है। गुप्तजी की सहानुभूति में आर्थिक दृष्टिकोण बिलकुल भी नहीं है। मनुष्य को मात्र प्राणी, मानव मानकर वे चलते हैं, और इसी मानववाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर इन कथाओं का निर्माण हुआ है।

इस संग्रह की प्रथम कहानी 'मानुषी' सियारामजी की एक ऐसी कहानी है, जो उनके कहानीकार रूप को प्रतिनिधि रूप में स्पष्ट करती है। इसमें कहानी—पार्वती-शंकर के संवाद से प्रारम्भ होती है। इस शैली ने कहानी को पौराणिक रूप दिया है। इससे प्रासादिकता अधिक आ गयी है। ग्रामीण वातावरण में मनोहरलाल और उसकी धर्मपत्नी श्यामा का चित्रण है जो अपनी गहन करुणा के कारण पाठक पर गम्भीर प्रभाव डालता है। इस चरित्र-चित्रण में गुप्तजी ने मानव के त्याग का ऐसा विचित्र रूप उपस्थित किया है कि आधुनिक पाठक सहसा विश्वास न कर सकेगा। श्यामा का पति मनोहरलाल जमींदार के अत्याचारों का शिकार होकर भी हिंसा-भाव का आश्रय नहीं लेता और विधवा होने पर श्यामा भी आदर्श हिन्दू-पत्नी का उदाहरण प्रस्तुत करती है। वह अपने उन रत्नों को अब भी रत्न नहीं समझना चाहती, जिन्हें उसने अपने पति की बीमारी के समय काँच समझकर त्याग दिया था। अन्त में वरदान प्राप्त करने के समय भी वह पति-मिलन स्वीकार नहीं करती; क्योंकि वह समझती है :

अब इस लोक की मिट्टी में घसीटकर मैं उनका आनन्द क्यों भंग करूँ।

सियारामशरणजी ने इस कहानी में श्यामा के चित्रण से सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक मनुष्य में देवत्व समाया होता है जो उसे देवत्व से ऊँचा पद दे सकता है। तभी तो उन्होंने श्यामा को 'मानुषी' कहा और उसे देवी पार्वती से भी अधिक महत्त्व प्रदान किया। देव-लोक से भी अधिक उच्चता मानव-लोक की है। अन्य कहानियों में भी हमें यही ग्रामीण वातावरण मिलता है। भारतीय ग्रामों की दरिद्रता और उस जीवन की गहन करुणा लेखक को द्रवित करती है, और मनुष्य में उसकी आस्था गहरी होती जाती है। कई कहानियों में उन्होंने बालक की सहज बुद्धि को बड़ा बल दिया है, मानो वयस्कों को वे विवेक प्रदान करते हैं। 'काकी', 'त्याग' आदि कहानियों में बालक बड़ों को सुबुद्धि देते हैं। भारतीय राष्ट्रीय-संग्राम की पृष्ठभूमि पर भी कई कहानियों का वातावरण निर्मित हुआ है।

गुप्तजी की कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी सादगी और बाल-सुलभ सरलता। ग्रामीण हृदय की सात्विकता उनमें स्पष्ट परिलक्षित होती है। वर्तमान आर्थिक संकट तो हमें इनमें मिलता है, किन्तु उसके प्रति एक प्रकार का मानववादी अहिंसा भाव है। कहीं भी विद्रोह-भावना अथवा तिक्तता नहीं मिलती। इस दृष्टि से अध्ययन करने वाले पाठक को ये कहानियाँ प्रतिक्रियावादी प्रतीत होंगी। इनकी कला को हृदयंगम करने के लिए हमें उसी गांधीवादी दृष्टिकोण को अपनाना होगा, जो लेखक की प्रेरणा का केन्द्र है और प्रत्येक रचना में गंगा की पवित्र धारा के समान प्रवाहित है।

कवि सियारामशरण गुप्त

[डॉ० नगेन्द्र]

सियारामशरण गुप्त की कविता का मैं लगभग पन्द्रह वर्षों से निरन्तर अध्ययन करता आया हूँ। वे मेरे प्रिय कवि नहीं हैं, मेरी और उनकी वृत्ति तथा जीवन-दृष्टि में इतना अधिक अन्तर है कि मैं उनके काव्य में आत्मानुभूति का सुख प्राप्त नहीं कर पाता। फिर भी मेरे मन में उनके काव्य के प्रति विशेष श्रद्धा रही है, जैसी की एक साधारण रागी व्यक्ति के मन में किसी सन्त के व्यक्तित्व और उसकी वाणी के प्रति होती है। और चूँकि आज की दुनिया में मुझ-से व्यक्तियों का ही बहुमत है, सियारामजी जैसे अत्यन्त अल्प संख्या में हैं, इसीलिए उनका काव्य अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाया। और, यह उनके साथ अन्याय नहीं है, यह उनके काव्य की स्वाभाविक परिसीमा है।

सुस्थिर और व्यवस्थित अध्ययन के उपरान्त मेरे मन में सियारामशरण की कविता के विषय में ये धारणाएँ बनी हैं :

१. उनकी कविता का मूल भाव करुणा है।

२. उनकी काव्य-चेतना का धरातल शुद्ध मानवीय है, दूसरे शब्दों में उसका मूलभूत जीवन-दर्शन विशुद्ध मानववाद है, जिस पर गांधीजी के सिद्धान्तों की गहरी और प्रत्यक्ष छाप है।

६. इस कविता का प्रभाव एकान्त सात्विक और शान्तिमय होता है।

४. परन्तु सियारामशरण ने भुक्ति को बचाकर मुक्ति की साधना की है, इसलिए इस कविता में जीवन का स्वाद कम है।

'मौर्य-विजय' से लेकर 'नकुल' तक सियारामशरण के अनेक काव्य-ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें 'मौर्य-विजय' और 'नकुल' खण्ड-काव्य हैं, 'उन्मुक्त' काव्य-रूपक है, 'बापू' व्यक्ति-काव्य है, 'आत्मोत्सर्ग' चरित्र-काव्य है, 'आर्द्रा' में काव्य-बद्ध कहानियाँ हैं और 'पाथेय', 'मृण्मयी', 'नोआखाली में' तथा 'दैनिकी' में स्फुट विचार-प्रधान कविताएँ हैं। 'मौर्य-विजय' को छोड़ जो मैथिलीशरणजी के प्रभाव में किया गया कवि का आरम्भिक काव्य-प्रयोग है, इन सभी का प्रधान स्वर करुणा है। यह करुणा 'विषाद' तथा 'आत्मोत्सर्ग' में व्यक्तिगत होने के

कारण तथा 'आर्द्रा' की कहानियों में निरावरण होने से अत्यन्त तीव्र हो गयी है। उधर 'उन्मुक्त', 'दैनिकी' और 'नोआखाली में' में भी वह युद्ध तथा रक्तपात के वातावरण के कारण सर्वथा व्यक्त है, परन्तु अन्य रचनाओं में भी उसकी अन्तर्धारा उतनी ही असंदिग्ध है। करुणा की इस सर्वव्याप्ति के व्यक्तिगत और समष्टिगत दोनों ही कारण हैं। व्यक्तिगत कारणों में कवि का चिर रुग्ण जीवन पत्नी तथा अन्य प्रियजनों की मृत्यु, और बहुत कुछ साहित्यिक उपेक्षा भी है। इन तीनों कारणों ने मिलकर उसकी दृष्टि को स्थायी रूप से करुणार्द्र बना दिया है। सबसे पहले तो श्वास-रोग ही अपने आप में एक स्थायी व्यथा है, परन्तु रोग की व्यथा को प्रेम—विशेषकर अन्तरंग सहचरी का प्रेम—बहुत कुछ हल्का कर देता है। इसी प्रकार मृत्यु, वियोग आदि के शोक को व्यक्ति स्वास्थ्य-सुख के द्वारा भुलाने में सफल हो जाता है। और प्रेम तथा स्वास्थ्य दोनों के अभाव को साहित्यिक आत्माभिव्यक्ति और उसकी स्वीकृति का सुख बहुत कुछ दूर कर सकता है। माना कि स्वीकृति का सुख अपने आप में कोई विशेष स्पृहणीय सुख नहीं है, परन्तु वास्तविकता का निषेध करना व्यर्थ है, लेखक का यह बड़ा सम्बल है, और प्रत्येक देशकाल में लेखक को इसकी आवश्यकता रही है।

इस प्रकार व्यक्तिगत धरातल पर इस कवि ने स्वास्थ्य, दाम्पत्य-प्रेम और लोक-स्वीकृति इन तीनों के अभाव का अनुभव किया। उधर समष्टिगत जीवन में भी वह युग पराजय का युग था। राजनीतिक जीवन में कांग्रेस बार-बार विफल हो रही थी और उधर सामाजिक जीवन पर रूढ़ियों का सर्प इतनी गहरी कुण्डली मारे बैठा था कि जागरण-सुधार के सभी आन्दोलन उसको अपने स्थान से हिलाने-डुलाने में असमर्थ हो रहे थे। विषाद के इस सार्वभौम साम्राज्य में सियारामशरण की कविता का विकास हुआ और स्वभावतः उसमें करुण स्वर का प्राधान्य हुआ।

यह करुणा क्रमशः व्यष्टि से समष्टि तक व्यापक होती गयी है। 'विषाद' की करुणा का धरातल, जैसा कि मैंने अभी संकेत किया, शुद्ध व्यक्तिगत है। उसमें स्वर्गगता पत्नी के वियोग में कवि ने अत्यन्त मार्मिक किन्तु संयत कविताएँ लिखी हैं। मृत्यु के समक्ष मानव कितना असहाय है, उसका प्रेम, उसकी कल्पना, उसका बुद्धि-वैभव सभी कुछ अपने प्रियजन को मृत्यु के पाश से मुक्त कराने में असमर्थ रहते हैं। वह बेचारा स्मृति, स्वप्न, कल्पना आदि की सहायता से भी तो अपने प्रिय को प्राप्त नहीं कर सकता। विकल कवि दिवा-स्वप्न देखता है :

हो सकती भव बीच नहीं क्या कोई नूतन बात ?
आजा आज यहाँ फिर से तू सस्मित पुलकित गात।
मन्द-मन्द गति से आकर तू आँखें सी दे खोल !
फिर से तेरे मंजु मिलन में उठे हर्ष कल्लोल।
अरे यहाँ कैसे बैठे तुम, करते हो क्या खूब।
कुछ न सुनूँ जा लिपटूँ तुझसे हर्षोदधि में डूब।

परन्तु यह सब क्रूर कल्पना है :

हाय, कुहुकमयि क्रूर कल्पना ! यह छलना है व्यर्थ।
अश्रु गिराना मात्र रहा है अब तो तेरे अर्थ।
उनमें से भी तुझ तक कोई पहुँच न सकते आह।
जाने कितने गिरि-वन-सागर रोक रहे हैं राह।

[विषाद]

मानव की बेबसी का कितना करुण चित्र है !

जीवन का यह एकाकीपन कठिन रोग की पीड़ा से मिलकर कवि की वैयक्तिक करुणा को और भी गहरा बनाता हुआ, उसके मन में कभी-कभी अत्यन्त निराशामय चित्र अंकित कर देता है :

गत निशि में सोचा शैया पर मैंने लेटे लेटे।
इसी निशा में मरण आज यदि आकर मुझको भेंटे।
नहीं रुकेगी तब भी क्षणभर गति संचरित पवन की।
क्या गणना है रत्नाकर में एक बूँद जल कण की।

× × ×

फिर भी विकल हो उठेंगे सब मेरे स्वजन स्वहृज्जन,
बहु अज्ञात गुणों की माला मुझे करेंगे अर्पण।

[दैनिकी]

यह करुणा व्यक्तिगत धरातल से उठकर समष्टिगत धरातल पर पहुँचकर क्रमशः सामाजिक और विश्वजनीन—मानवीय हो जाती है। 'आर्द्रा' की कहानियों में 'एक फूल की चाह', 'खादी की चादर' आदि में उसका सामाजिक रूप निरावरण होकर सामने आता है। हमारे समाज का अन्तर्मन आर्थिक तथा वर्ण-जाति-गत विषमताओं से पीड़ित है। 'एक फूल की चाह' में अछूत-बालिका सुखिया शीतला की महामारी का शिकार होती है। रुग्णा बालिका के मन में देवी के प्रसाद के एक फूल की चाह उत्पन्न होती है, और उसका पिता बेटी की इस आकांक्षा को पूरी करने के लिए सामाजिक बाधा-व्यवधान

की उपेक्षा करता हुआ अपने सदुद्देश्य में विश्वास करके चुपके-चुपके देवी के मन्दिर में जाता है। परन्तु पण्डे लोग उसे पकड़ लेते हैं, उसको खूब मारा-पीटा जाता है और अन्त में न्यायालय उसे एक सप्ताह का दण्ड देता है। इस बीच में सुखिया बेचारी तड़प-तड़पकर प्राण त्याग देती है, और उसका पिता जब कारावास भोगकर आता है तो ज्ञात होता है कि सुखिया को तो कई दिन पूर्व उसके परिचित बन्धु फूंक चुके थे।

बुझी पड़ी थी चिता वहाँ पर, छाती धधक उठी मेरी,
हाय फूल-सी कोमल बच्ची हुई राख की थी ढेरी!
अन्तिम बार गोद में बेटी, तुझको ले न सका मैं हा!
एक फूल माँ का प्रसाद भी तुझको दे न सका मैं हा!
वह प्रसाद देकर ही तुझको जेल न जा सकता था क्या?
तनिक ठहर ही सब जन्मों के दण्ड न पा सकता था क्या?
बेटी की छोटी इच्छा वह कहीं पूर्ण मैं कर देता,
तो क्या अरे दैव, त्रिभुवन का सभी विभव मैं हर लेता?
यहीं चिता पर धर दूँगा मैं कोई अरे, सुनो, वर दो।
मुझको देवी के प्रसाद का एक फूल ही लाकर दो। [आर्द्रा]

कवि सियाराम का हृदय समाज की इस नृशंसता पर चीत्कार कर उठता है और उससे हिन्दू समाज के प्रति एक अत्यन्त तीखा करुण-व्यंग निकल जाता है:

कैदी कहते "अरे मूर्ख, क्यों ममता थी मन्दिर पर ही?
पास वहीं मसजिद भी तो थी, दूर न था गिरजाघर भी।"

समाज के धरातल से फिर यह करुणा विश्वजनीन हो जाती है, और कवि के हृदय में केवल अपने परिचित समाज के प्रति ही नहीं वरन् समस्त जगती के प्रति करुणा का उद्भव हो जाता है:

× × **हाय री मेरौ जगती।**
इतनी सुन्दर तदपि घृणित-सी तू क्यों लगती?
× × ×
तेरे में कुछ नहीं तेज बल? अयि कल्याणी,
तू क्यों ऐसी दीन हुई क्यों कुण्ठित वाणी? [उन्मुक्त]

निष्कर्ष यह है कि इस करुणा का धरातल मूलतः व्यक्तिगत अथवा सामाजिक न होकर मानवीय है। कवि सियाराम के काव्य की करुणा आज की चिर-परिचित भौतिक कुण्ठाओं की करुणा न रहकर भारतीय अध्यात्म की

मानव-करुणा, भगवान् बुद्ध की मैत्री-करुणा बन जाती है। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि इसका जन्म भौतिक कुण्ठाओं से ही होता है, परन्तु कवि ने अपनी साधना और तपस्या से उसे परिष्कृत कर शुद्ध मानव-करुणा का रूप दे दिया है। यह तपस्या है आधुनिक मनोविश्लेषण की शब्दावली में आत्म-पीड़न—अर्थात् मन को इस प्रकार वश कर में कर लेना कि वह दुःख में ही रस लेने लगे। वास्तव में मनोविश्लेषण-शास्त्र के अनुसार आत्म-पीड़न कोई स्पृहणीय वृत्ति नहीं है, परन्तु उसका उचित उपयोग करने से उन्नयन के लिए मार्ग प्रस्तुत हो जाता है। भारतीय साधना-पद्धति में इसका महत्त्व रहा है; पुराचीन सन्तों से लेकर गांधी तक ने इस साधना को अपनाया है।

इस प्रकार सियारामजी की करुणा स्थूल से सूक्ष्म अर्थात् भौतिक से आध्यात्मिक हो जाती है। स्वभावतः ही इस करुणा में निराशा का अन्धकार अथवा किसी प्रकार की रुग्णता नहीं है, क्योंकि इसका मूल गहरी आस्तिकता में है। जीवन की करुणा से भीगा होने पर भी यह काव्य आशा और विश्वास के अमर सन्देश से मुखर है। व्यक्तिगत, सामाजिक अथवा सार्वजनिक किसी भी धरातल पर कवि की करुणा श्रद्धा और विश्वास-हीन नहीं होती :

× × × आश्वसित, समाश्वसित हूँ,
तुझे देखकर हरित भाव से आशान्वित हूँ !
देख रहा हूँ, जहाँ क्रोध कुत्सित पाशव का।
रूप विकट बीभत्स, जहाँ मूछित मानव का।
शतशः खण्डीकरण दलन विदलन कर-कर के;
उसी ठौर पर उसी ठिकाने के थल पर से
फूट पड़े हैं नये-नये अंकुर वे शोभन।

जीवन में जो घृणा और पाशवता दिखाई देती है, वह जीवन का सत्य नहीं है, वह तो केवल माया है। जीवन का सत्य है—स्नेह; और सत्य की शक्ति माया की शक्ति से कहीं प्रबल है, माया भंगुर है, सत्य चिरन्तन। घृणा और द्वेष की विभीषिका कुछ समय तक ही रहती है। अन्त में विजय स्नेह की ही होती है। सियारामशरणजी ने अत्यन्त मार्मिक शब्दों में इस अमर सत्य की व्यंजना की है :

उस सैनिक का रुधिर वहाँ वह हृदय-विमोहन।
नवजीवन के अरुण राग में परिवर्तित है।
जिसे घृणा की गयी उसी के लिए नमित है
धरणी की वह सुमन मंजरी मृदुलान्दोलित।
स्नेह-सुरभि की लोल लहर ही है उत्तोलित
इधर-उधर सब ओर। [उन्मुक्त]

घृणा के ऊपर स्नेह की यह विजय स्पष्ट शब्दों में गांधीवाद की घोषणा है; और सियारामशरणजी ने गांधी-दर्शन को प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण किया है। गांधीवाद वास्तव में आध्यात्मिक मानववाद ही है! इसके दो मूल आधार हैं: सत्य और अहिंसा। यह सम्पूर्ण जगत्—चर-अचर—एक सत्य से अनुप्राणित है। यह सत्य अखण्ड और एकरस है। भावना के क्षेत्र में यही भगवान् या राम है। एक सत्य से अनुप्राणित होने के कारण प्राणिमात्र का समान अस्तित्व है। आस्तिक के लिए यही समबुद्धि अनिवार्य है। इस समबुद्धि का व्यक्त रूप है अहिंसा। अहिंसा अभावात्मक वृत्ति नहीं है, वह अत्यन्त भावात्मक है, अर्थात् उसका मूल तत्त्व घृणा और द्वेष का निषेध मात्र नहीं है, उसका मूल तत्त्व है प्रेम। घृणा का उत्तर घृणा नहीं है, प्रेम है। हिंसा के विरुद्ध हम हिंसा न करें यह भी पर्याप्त नहीं है, हमें उसका उत्तर प्रेम से देना चाहिए; तभी यह वृत्त पूरा होता है। क्योंकि घृणा या हिंसा का अभाव तो केवल अभावात्मक स्थिति है जो शून्य है; और चिर-तरंगायित मानव-मन शून्य अभावात्मक स्थिति में रह नहीं सकता। अतएव उसको प्रेम से भरना होगा। इस प्रकार अहिंसा का अर्थ है प्राणिमात्र के प्रति प्रेम। इस स्थिति को प्राप्त कर लेने पर मानव-मानव का भेद—समस्त जाति, वर्ण, गण, राष्ट्र के भेद तो मिट ही जाते हैं, इतर प्राणियों के प्रति भी समभाव उत्पन्न हो जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि इस अहिंसा भाव की प्राप्ति कैसे हो? इसका उपाय है आत्मशुद्धि, और आत्मशुद्धि के लिए तप अर्थात् आत्म-पीड़न और भगवद्भक्ति आवश्यक है। पाप का विनाश तप से हो सकता है। केवल अपने पाप—अपनी घृणा और हिंसा का नाश करना पर्याप्त नहीं है, यह अधूरी साधना है। अहिंसक को तो हिंसा के अस्तित्व मात्र से युद्ध करना है, और इसका भी उसके पास केवल एक ही उपाय है—तप। अपने को तपाकर हम अपनी शुद्धि ही नहीं करते हैं, दूसरे की भी शुद्धि करते हैं; यही गांधीजी का हृदय-परिवर्तन सिद्धान्त है। और, तत्त्व-रूप में यही गांधी-दर्शन है। व्यवहार-रूप में इसके अनेक अंग हैं: देश-प्रेम, परसेवा, साम्प्रदायिक एकता, आत्म-निर्भरता [जिसके अन्तर्गत मशीन-उद्योग के विरुद्ध ग्राम-उद्योग की प्रतिष्ठा आदि आ जाती है], सदाचारमय जीवन, आदि। व्यापक रूप में इसके अन्तर्गत विश्वमैत्री की भावना भी अनिवार्यतः गर्भित है, परन्तु गांधीजी ने इसको तूल नहीं दिया।

जैसा मैंने अन्यत्र संकेत किया है, सियारामशरण ने गांधीवाद के तात्त्विक पक्ष को ही अपनाया है, उसके व्यवहार-पक्ष के प्रति उनको अधिक रुचि नहीं रही, वह उनके अग्रज का क्षेत्र है। इसका कारण दोनों के व्यक्तित्वों का अन्तर

है। मैथिलीशरणजी का जीवन विशिष्ट रागद्वेषमय व्यावहारिक जीवन है, सियारामशरणजी का जीवन चिन्तनमय है, और स्पष्ट शब्दों में—मैथिली बाबू में जीवन का प्रबल उपभोग है, सियारामजी में उसका चिन्तन। अतएव यह स्वाभाविक ही है कि मैथिली बाबू ने जहाँ गांधीवाद का कर्म-रूप ग्रहण किया है, वहाँ सियारामजी ने उसका तत्त्व रूप। इससे अतिरिक्त दोनों में एक और अन्तर है, मैथिली बाबू में भक्ति के संस्कार गहरे और अचल हैं, सियारामशरण में सन्तों का आत्मपीड़नमय तप है। अतएव सियारामजी गांधीवाद के तात्त्विक रूप को, जो मूलतः सन्त-दर्शन का ही विकास है, सहज ग्रहण कर सके। परन्तु मैथिली बाबू के भक्ति-संस्कार इतने प्रबल और गहन थे कि उनके ऊपर गांधीजी के केवल उन्हीं सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ सका, जिनके साथ कि उनकी संगति बैठती थी। व्यावहारिक दृष्टि से अत्यधिक जागरूक होने के कारण उन्होंने गांधीवाद के ऐसे सभी तत्त्वों को अपनी रामभक्ति में समाविष्ट कर लिया है, जिनका उससे मौलिक विरोध नहीं है—गांधीजी के स्वदेश-प्रेम, स्वातन्त्र्य-संघर्ष, जागरण-सुधार, साम्प्रदायिक एकता, धार्मिक औदार्य, परसेवा आदि सिद्धान्तों को मैथिली बाबू ने बड़े उत्साह के साथ ग्रहण किया है, परन्तु सत्य और अहिंसा को उन्होंने रामभक्ति के अनुरूप ढालकर ही स्वीकार किया है। जहाँ गांधी-नीति और रामभक्ति में मौलिक भेद है, वहाँ मैथिली बाबू ने गांधी-नीति को स्वीकार नहीं किया जैसे कि अवतारवाद आदि के सम्बन्ध में। गांधी निर्गुण भक्तों की परम्परा में आते हैं और मैथिली बाबू ने सगुण और साकार उपासना को विधिवत् और पूर्णनिष्ठा के साथ ग्रहण किया है।

सियारामजी में आस्तिक संस्कार तो अपने अग्रज की भाँति ही वर्तमान हैं परन्तु उनकी आस्तिकता का विकास शास्त्र-धर्म के अनुसार न होकर युग-धर्म के अनुसार हुआ है। उन्होंने गांधी-दर्शन को समग्रतः ग्रहण कर लिया है। एक-से संस्कार और वातावरण में पोषित इन गुप्त बन्धुओं के जीवन-दर्शन का यह अन्तर मनोविज्ञान की दृष्टि से सहज ही समझा जा सकता है। सियारामजी की रुग्णता और उनके जीवन की दुःखद घटनाओं ने आत्म-पीड़न के सिद्धान्त को उनके लिए सहज ग्राह्य बना दिया। इसके विपरीत मैथिली बाबू के सहज स्फूर्तिमय व्यावहारिक व्यक्तित्व को वंश-परम्परागत रामभक्ति में पूर्ण अभिव्यक्ति मिल सकी। वास्तव में, भारतीय चिन्ता परम्परा में वैष्णव-दर्शन पीड़ा का दर्शन है, और शैव-दर्शन आनन्द का। पर वैष्णव-दर्शन में भी निर्गुण और सगुण धाराओं में पीड़ा के अनुपात का अन्तर है। सगुणोपासना में आनन्द का यथेष्ट समावेश है, परन्तु निर्गुण भाव का एकान्त दुःख की

फ़िलासफ़ी है। गांधीवाद भी इसी परम्परा के अन्तर्गत आता है, वह भी पीड़ा का दर्शन है, एक परतन्त्र देश की चिर-पराजय से जिसका जन्म हुआ है। अतएव स्वभावतः ही यह मैथिली बाबू की अपेक्षा सियारामजी के व्यक्तित्व के अधिक अनुकूल पड़ा और इसके द्वारा उन्हें अपनी व्यक्तिगत पीड़ा के उन्नयन का अवसर मिल सका।

गांधी-दर्शन वास्तव में सियारामशरण की रचनाओं में ओत-प्रोत है। उनमें स्थान-स्थान पर गांधीजी की वाणी का काव्यानुवाद मिलता है :

नहीं कहीं कुछ भेद, एक ही इन्द्र-धनुष में
भासित वे बहु वर्ण, वर्ण ये पुरुष-पुरुष में
बाहर के आभास, एकता ही अन्तर्गत।

यह एकता सबमें अनुस्यूत अखण्ड सत्य की एकता है। इसी एक सत्य से अनुप्रेरित होने के कारण मानव स्वभावतः अकलुष है, सारा कलुष परिस्थिति-जन्य आवरण मात्र है, जिसके हट जाने से मनुष्य का शुद्ध-बुद्ध मानव फिर अपने मूल रूप में आ जाता है :

वह सैनिक भी न था और कुछ, वह था मानव;
ऐसा मानव, लाभ उठा जिसकी शिशुता का
किसी इतर ने चढ़ा दिया था उस पशुता का
ऊपर का वह खोल।

अतएव पाप वास्तव में एक प्रकार की भ्रान्ति ही है; इसलिए पापी क्रोध का पात्र न होकर दया का पात्र है :

× × ×

आत्म-विस्मृति ने छाकर।
उसका बोध विलोप कर दिया था मैं उस पर
रोष करूँ या दया ?

क्योंकि रोष तो स्वयं हिंसा है, और हिंसा से हिंसा की शुद्धि कैसे हो सकती है। हिंसा की शुद्धि के लिए तो अहिंसा अपेक्षित है, यही जीवन का चिर सत्य है :

हिंसानल से शान्त नहीं होता हिंसानल,
जो सबका है वही हमारा भी है मंगल।
मिला हमें चिर सत्य आज यह नूतन होकर
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर।

[उन्मुक्त]

यह गांधीजी के सूत्रों का अविकल अनुवाद है। इतना ही नहीं, उनके सभी कथा-काव्यों का ध्वन्यार्थ भी यही है। 'आत्मोत्सर्ग', 'उन्मुक्त' और 'नोआखाली में' तो प्रत्यक्ष रूप से गांधीवाद के सिद्धान्तों की स्थापना करते ही हैं, उनके अतिरिक्त 'आर्द्रा' और 'मृण्मयी' की काव्यबद्ध कहानियों और 'नकुल' में भी गांधी-दर्शन की ही अभिव्यक्ति है। और यही बात 'दैनिकी' आदि की विचारात्मक स्फुट कविताओं में भी है। वास्तव में हिन्दी में गांधी-दर्शन की इतनी सहज स्वीकृति किसी भी लेखक में नहीं है। यों तो गांधी-दर्शन का प्रभाव इस युग में एक सर्वव्यापी प्रभाव है, हिन्दी का कदाचित् ही कोई कवि या लेखक इससे अछूता रहा हो—यह वास्तव में हमारा युग-दर्शन है। अनेक में गांधीवाद का प्रचारघोष भी आवश्यकता से अधिक मिलता है, परन्तु हिन्दी में मूलतः दो लेखक ऐसे हैं जिन्होंने गांधी-दर्शन को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण किया है—जैनेन्द्र और सियारामशरण। इनमें से जैनेन्द्र की स्वीकृति एकान्त बौद्धिक है, उनकी आत्मा गांधी-दर्शन के शम् सात्विक प्रभाव को ग्रहण नहीं कर सकी है। पन्तजी को गांधी-दर्शन की शान्ति परिष्कृति पूर्णतः स्वीकार्य है, किन्तु वे कदाचित् उसमें अभीष्ट कला का अभाव पाते हैं, इसलिए अरविन्द के प्रति उन्हें अधिक आकर्षण है। परन्तु सियारामशरण ने हृदय और बुद्धि दोनों का गांधी-दर्शन के साथ पूर्ण सामंजस्य कर लिया है, वह उनकी आत्मा में रम गया है।

इस प्रकार के तपःपूत और साधनामय जीवन की अभिव्यक्ति निसर्गतः ही अत्यन्त सात्विक एवं शान्तिमय होनी चाहिए। और, इस दृष्टि से सियाराम-शरणजी की कविताओं का सबसे पृथक् एक विशिष्ट स्थान है। हिन्दी के एक लेखक ने सियारामशरण के निबन्धों के प्रभाव के विषय में लिखा है कि इनका प्रभाव मन पर ऐसा पड़ता है जैसा निभृत मन्दिर में मन्द-मन्द जलते हुए घृत-दीप का। यह उक्ति वास्तव में सियारामशरण के समस्त साहित्य पर ही, विशेषकर उनके काव्य पर, पूर्णतः घटित होती है। उनके काव्य को पढकर मन आत्मद्रव से भीगकर एक स्निग्ध शान्ति का अनुभव करता है। इस काव्य में उत्तेजना का एकान्त अभाव है। वह न भावों को उत्तेजित करता है और न विचारों को। भयंकर संघर्ष और उथल-पुथल के इस युग में जबकि सर्वत्र ही मूल्यों का कुहराम मचा हुआ है, उत्तेजना का यह शमन अद्भुत सफलता है। वास्तव में, आज के जीवन में उत्तेजना सत्य है और शान्ति कल्पना। आज का कवि हृदय को ही नहीं विचारों को भी झकझोरकर पाठक के मन को प्रभावित करता है, उसका संवेद्य ही यह उत्तेजना है। मूल्यों को अस्त-व्यस्त

करता हुआ, मान्यताओं को चुनौती देता हुआ, विचारों को झकझोरे देकर [और उनके द्वारा हृदय में भी उथल-पुथल मचती ही है] वह पाठक के साथ बौद्धिक तादात्म्य स्थापित करता है। सियारामशरण इस बौद्धिक उत्तेजना से अपरिचित नहीं हैं, उनके खण्ड-काव्यों और स्फुट मुक्तकों में इसकी स्थिति सर्वत्र है, परन्तु स्वीकृति कहीं भी नहीं है। युग के तूफ़ान और आँधी के बीच उनका वह मन्दिर-दीप जिसमें विश्वास अर्थात् सत्य की अग्नि-शिखा है और स्नेह अर्थात् अहिंसा का घृत है, नीरव निष्कम्प जलता रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सियारामशरण की कविता बौद्धिक उत्तेजना से मुक्त आस्तिक विश्वास से प्रेरणा प्राप्त करती है और उनका यह विश्वास एकान्त मानवीय मूल्यों पर, सत्य और अहिंसा पर आधृत होने के कारण शान्त और नीरव है, दूसरे पर छा जाने वाला नहीं है। इसलिए इस कविता में एक अपूर्व शान्ति और सात्विकता मिलती है।

इस शान्ति और सात्विकता का दूसरा रहस्य यह है कि इस कवि की चेतना वासना और ऐन्द्रियता से बहुत कुछ मुक्त है। निखरते साधना-संयम से उसने वासना को अत्यन्त परिष्कृत कर लिया है। फलतः उसमें एक ओर क्रोध, घृणा आदि द्वेष-जन्य मनोवेगों का परिमार्जन हो गया है, दूसरी ओर राग का उन्नयन। सियारामजी जैसे व्यक्ति के लिए साधारणतः मनोग्रन्थियों और काम-कुण्ठाओं का शिकार हो जाना स्वाभाविक था, परन्तु उनके आस्तिक संस्कार और निष्ठा ने उनकी रक्षा की है और इतना बल प्रदान किया है कि वे अपनी कुण्ठाओं पर विजय प्राप्त कर सकें। वास्तव में मनोविश्लेषकों ने कुण्ठा के पोषण के लिए जिन परिस्थितियों का उल्लेख किया है वे सभी सियारामशरणजी के जीवन में उपस्थित रही हैं, उदाहरण के लिए, काम की अभिव्यक्ति के साधन का अभाव, कठोर नैतिक वातावरण एवं धार्मिक रूढ़िग्रस्त जीवन, तथा अस्वस्थ शरीर। परन्तु इस व्यक्ति ने अपनी साधना से जीवन के विष को अमृत कर लिया है। और मैं समझता हूँ इसका श्रेय बहुत कुछ अंशों में आस्तिक संस्कार और पारिवारिक स्नेह को भी देना पड़ेगा।

तीसरा कारण इस सात्विक शान्ति का यह है कि सियारामशरणजी ने अपने अहंकार को पूर्णतः पीड़ा में घुला दिया है। भयंकर अहम्वाद के इस युग में अहंकार का यह उत्सर्ग एक आध्यात्मिक सफलता है, और जैनेन्द्रजी के अनुसार साहित्य का चरम श्रेय यही है। साहित्य का चरम श्रेय यह हो अथवा न हो परन्तु जीवन और साहित्य की यह एक पुण्य साधना अवश्य

है, जिससे चेतना शान्तिमय और निर्मल होती है और इस प्रकार जिस साहित्य की सृष्टि होती है वह निस्सन्देह सात्विक और पुण्य-पूत होता है। पीड़ा के दर्शन को हृदय से स्वीकार करने वाले के लिए वास्तव में अहंकार का विलयन करना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि पीड़ा व्यक्तित्व को द्रवीभूत करती है, अहंकार उसे पुंजीभूत करता है। दैहिक और दैविक कष्टों के कारण और परिवार में छोटे होने के कारण सियारामशरण आत्मनिषेध के अभ्यस्त होते गये और उधर अपने आस्तिक संस्कारों द्वारा उसकी मनोवैज्ञानिक विकृतियों को बचाते हुए उसे उदात्त रूप देते गये। परिणामस्वरूप विनय (अहंकार का अभाव) उनकी चेतना का अंग बन गया और व्यक्तिगत पीड़ा का मानव-पीड़ा के साथ तादात्म्य होता गया; जिसमें रजस् और तमस् बहुत कुछ घुलकर नष्ट हो गया और सत् का प्राधान्य हो गया। सात्विकता की दृष्टि से वास्तव में सियारामशरण का काव्य आधुनिक हिन्दी-काव्य में अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखता। ऐसी सात्विकता और शान्ति प्राप्त करने के लिए हमें महादेवी की कतिपय कविताओं को पार करते हुए बहुत दूर मध्ययुग के भक्तों के आत्म-निवेदन तक जाना होगा। परन्तु उस काव्य की और सियारामशरण के काव्य की आत्मा में भेद है। सियारामशरण भक्त नहीं हैं, भक्त की एकनिष्ठता उनमें नहीं है, उन्होंने अपनी रति को केन्द्रित करने की जगह वितरित किया है। उनमें श्रद्धा है, ममता है, किन्तु एकनिष्ठ रति नहीं है।

यह अभाव सियारामशरण की कविता के सबसे बड़े अभाव के लिए उत्तरदायी है, और वह यह है कि उन्होंने भुक्ति को बचाकर मुक्ति की साधना की है। इसलिए उनके काव्य में जीवन का स्वाद कम है। नाना-रसमयी सृष्टि में उनका घनिष्ठ परिचय करुण और शान्त से ही है, करुण माध्यम है और शान्त परिणति। शृंगार, वीर आदि भावात्मक रसों का उन्होंने बड़े सन्देह के साथ डरते-डरते स्पर्श किया है। नारी की ओर दृष्टि डालने से पूर्व यह सत्पुरुष अपनी आँखों को मानो गंगाजल से आँज लेता है। यों तो इनके काव्यों में नारी के विविध रूपों का वर्णन है : नारी के माता, बहन, पुत्री, पत्नी और प्रेयसी सभी रूप मिलते हैं, परन्तु कहीं भी वे रति की आलम्बन प्रकृत नारी के रूप तथा मन का उद्घाटन नहीं कर सके हैं। नारी के लिए उनके मन में श्रद्धा और संकोच-मिश्रित स्निग्धता भर है। जहाँ कहीं शृंगार का प्रसंग आता है सियारामशरणजी के ये दोनों भाव उस पर आरूढ़ हो जाते हैं। उदाहरण के लिए :

करती थी वह वहाँ अकेली स्नान-विमज्जन।
अंजलि से जल वक्ष बाहु कच भिगो-भिगोकर,
जलधारा में पसर गयी वह लम्बी होकर।
सैकत में फिर युग मृणाल-भुज स्थापित कर निज,
ऊपर समुद उछाल दिया उसने मुख सरसिज।

[नकुल]

रूप-वर्णन कितना फीका है। इसको पढ़कर स्पष्ट ही यह धारणा होती है कि या तो कवि के पास रमणी के इस रूप का पान करने वाली दृष्टि नहीं है, या फिर उसने साहस के अभाव के कारण अपनी आँखें दूसरी ओर मोड़ ली हैं। वास्तव में यही हुआ है। कवि सचमुच सहमकर आकाश की ओर देखने लगा है :

इसी समय सामने क्षितिज में अरुण सेज पर,
उठा बाल-रवि गगन धरा का अनुरंजन कर।

रमणी की ओर दृष्टि उसने अपने श्रद्धा-भाव को आहूत करने के उपरान्त ही डाली है :

अर्द्धोत्थित से हुआ न जब तक पूर्णोत्थित वह,
बनी रही साष्टांग नमन-मुद्रा में स्थित वह।

इस प्रसंग में, अन्तर को स्पष्ट करने के लिए आपको प्राचीनों में विद्यापति का और नवीनों में प्रसाद का स्मरण मात्र करा देना पर्याप्त होगा। इसमें सन्देह नहीं कि विवेक-बल के द्वारा सियारामशरणजी ने भी एकाध स्थान पर संकोच का परित्याग कर प्रकृत चित्र अंकित करने का प्रयत्न किया है परन्तु अब उसके लिए बहुत विलम्ब हो गया है, और इन अभिव्यक्तियों में ऊष्मा की कमी है :

एक हाथ से हाथ, दूसरे से धर ठोड़ी,
ग्रीवा अपनी ओर पार्थ ने उसकी मोड़ी,
और स्वमुख से अमिट प्रेम की छाप लगायी,
अमृत पिलाकर विरह-काल की भीति भगायी,

[नकुल]

यह चित्र बिलकुल ठण्डा है। सारी क्रिया यन्त्रवत् है। तुलना कीजिये :

और एक फिर व्याकुल चुम्बन रक्त खौलता जिससे,
पागल प्राण धधक उठता है तृषा-तृप्ति के मिस से।

और, श्रद्धेय सियारामशरणजी क्षमा करें, यह प्रक्रिया भी ग़लत है।

इसमें सन्देह नहीं कि नारी के माता, बहन, मित्र आदि अनेक रूप हैं, और उसे सदा बुभुक्षित नेत्रों से देखना अत्यन्त अस्वस्थ मनोवृत्ति का परिचायक है, परन्तु उसका एक प्रकृत नारी-रूप भी है जिसके शरीर और मन में उपभोग की भूख है, जो स्वयं उपभोग्य बनकर भी तृप्ति पाती है। स्वयं सियारामशरण के ही काव्य में एक स्थान पर प्रकृत नारी यही पुकार उठी है :

आकर सहसा किसी भ्रांति की संचारी में,
देवी का आरोप करेंगे यदि नारी में,
तो कैसे वह सहन कर सकेगी उस क्षण को,
जब कल-छलना-रहित समय कर देगा मन को,

[नकुल]

नैतिक आदर्श आदि के आतंक से इस रूप की उपेक्षा करना उसके मूल रूप की उपेक्षा करना है और जीवन के कवि के लिए वह स्पृहणीय नहीं है। उसका अभाव जीवन की अपूर्णता का द्योतक है।

श्रृंगार के अतिरिक्त उनमें जीवन और काव्य को समृद्ध करने वाली व्यक्तित्व की अन्य प्रकृत अभिव्यक्तियों की भी परिक्षीणता है। उन्होंने आत्मपीड़न के द्वारा अपने अहं को घुलाकर इतना निर्मल करने का प्रयत्न किया है कि उसके रंग धुल गये हैं, और उनकी जीवन-दृष्टि आवश्यकता से अधिक निर्वैयक्तिक एवं एकांगी-सी हो गयी है। अहं का संस्कार करते-करते वे उसकी प्राकृतिक-शक्ति को खो बैठे हैं—अतिशय परिष्कार से वस्तु की प्रकृत शक्ति नष्ट हो जाती है, यह प्रकृति का नियम है। अहं के सत्-असत् दोनों रूपों की जीवन में सार्थकता है! स्नेह, करुणा, श्रद्धा, शान्ति, विनय, संयम, अहिंसा आदि तो जीवन के आभूषण हैं ही, परन्तु घृणा, कठोरता, दर्प, अहंकार, वासना आदि की भी सार्थकता में सन्देह नहीं किया जा सकता। घृणा में असमर्थ व्यक्ति का स्नेह फीका होता है। जो व्यक्ति कठोर नहीं हो सकता उसकी करुणा असहाय होती है। दर्पहीन की श्रद्धा दुर्बल होती है और विनय क्लीब। इसी प्रकार अहिंसा को भी हिंसावृत्ति के अनुपात से ही तेज प्राप्त होता है। जीवन का यह समग्र-ग्रहण सियारामशरणजी में नहीं है, यह उनके अग्रज में है। सियारामशरण की कविता में अमृत है, पर मनुष्य को रस चाहिए—वह तो रस पर जीता है। सियारामशरणजी की चेतना का मूल गुण है उसकी संवेदनशीलता। पीड़ा को जीवन-दर्शन मानने वाला व्यक्ति निश्चय ही अतिशय संवेदनशील होगा। संवेदनशीलता के कारण उनकी काव्य-चेतना अत्यन्त सूक्ष्म है, उसमें गहराई भी कम नहीं है। परन्तु जीवन के

उपभोग के अभाव में उसमें समृद्धि का अभाव है, और उधर जीवन का समग्र-ग्रहण न होने के कारण उसमें व्यापकता तथा विराटता का भी अभाव है।

कला-शिल्प—उपर्युक्त विश्लेषण की भूमिका में अब मैं यदि यह कहूँ कि सियारामशरणजी अपने कला-शिल्प के प्रति अत्यन्त जागरूक हैं तो वह असंगति-सी प्रतीत होगी। जिस व्यक्ति के काव्य में इतनी सात्विकता और शान्ति है, जिसने आत्म-शुद्धि पर इतना बल दिया है, वह कला-शिल्प के प्रति जागरूक क्यों होगा? परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है; उपर्युक्त गुणों का कला-शिल्प से कोई विरोध नहीं है; कला-शिल्प से विरोध बहिर्मुखी प्रवृत्ति अथवा अतिशय प्रबल आत्माभिव्यक्ति का तो माना जा सकता है। जिस व्यक्ति को अनुभूति की प्रबल प्रेरणा के कारण चिन्तन का अवकाश ही न हो वह तो कला के प्रति उदासीन होगा। इसी प्रकार जो व्यक्ति बाहर की ओर ही अधिक देखता है, वह भी कलादृष्टि खो बैठता है। कला के लिए अन्तर्मुखी वृत्ति आवश्यक है, जिसके दो प्रमुख रूप हैं—चिन्तन और कल्पना। और सियारामशरण में इन दोनों का, विशेषकर चिन्तन का प्राचुर्य है। चिन्तन एक प्रकार से उनके काव्य का सामान्य गुण है। निदान उनकी काव्य-चेतना से कला-शिल्प का कोई विरोध नहीं है। हाँ, यह असंदिग्ध है कि इस कला का स्वरूप उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ही है।

इस दृष्टि से सियारामशरण की कला की एक प्रत्यक्ष विशिष्टता यह है कि वह गीतिमय न होकर चिन्तनमय है। उनकी कविता में प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति नहीं मिलती। वे प्रायः एक विचार को लेकर उसके परिवहन के लिए एक छोटी-सी लघु-कथा (फ़ेबिल) का निर्माण करते हैं और उसी के माध्यम से अपने अभिप्रेत को व्यक्त करते हैं। यह उनकी प्रिय शैली है और एक प्रकार से अब उनके लिए स्वाभाविक-सी हो गयी है। वे कहते नहीं हैं, संकेत करते हैं। व्यंग्य उनका सबसे प्रबल शस्त्र है और कहीं-कहीं वह बड़ा मार्मिक और तीखा हो जाता है।

दूसरे, यह कला समृद्ध न होकर स्वच्छ है। इसमें रूप-रंग का विलास, औज्ज्वल्य अथवा मीनाकारी नहीं है। इसमें एक निरन्तर स्वच्छता है जिसका मूल आधार है समन्विति। कवि की कल्पना और भाव-कोष पर चिन्तन का स्थिर नियमन है, अतएव प्राचुर्य-जन्य शैथिल्य और सूत्राभाव उसमें कहीं भी नहीं मिलता। उसकी अभिव्यक्ति सदैव सार्थक एवं अन्वित होती है। उसके चित्र कहीं भी असम्बद्ध एवं स्वतन्त्र नहीं हो पाते। मूल विचार की एकसूत्रता उनमें सदैव रहती है। राग, कल्पना तथा विचार का पूर्ण सामंजस्य

उनमें सर्वत्र मिलता है। इसलिए एक भाषा-मर्मज्ञ ने सियारामशरण की प्रशंसा में लिखा है कि उनकी काव्य-भाषा, वाक्य-रचना आदि की दृष्टि से गद्य-भाषा के अधिक-से-अधिक निकट आ जाती है। अन्वय किये बिना ही प्रायः उसका गद्यान्तर किया जा सकता है। यह वाग्धारा की स्वच्छता और स्फीति का ही द्योतक है। अन्यथा उनकी भाषा गद्यवत् नहीं है। उसका काव्योचित अर्थ-गाम्भीर्य्य और प्रौढ़ता अद्भुत है। और सन्तोष की बात यह है कि यह प्रौढ़ता निरन्तर बढ़ती जाती है। 'नकुल' से कुछ उदाहरण देता हूँ :

१. थमा दिव्य संगीत मुखरता खोई दिव की,
चढ़-सी गयी समाधि समय के सुन्दर शिव की।
२. किस पामर ने किया नखांकित दारुण दुखकर,
संशय का यह घाव आर्य-वाणी के मुख पर।
३. धरा वहाँ उठ गयी स्कन्ध तक मानों दिव के,
तपोरता पार्वती अंकगत हो ज्यों शिव के।

ये केवल उदाहरण मात्र हैं। वैसे अब सियारामशरण की अभिव्यक्ति का साधारण स्तर ही यह हो गया है। उनके नवीन काव्यों में प्रत्यक्ष इतिवृत्त वर्णन का एक प्रकार से अभाव होता जा रहा है। उनकी अभिव्यक्ति अब ऋजु-सरल न रहकर उत्तरोत्तर वक्र होती जा रही है।

इस प्रकार कवि सियारामशरण के काव्य में संस्कार और साधना का साधु समन्वय है। वे उन कवियों में से हैं, जिन्होंने सच्चे अर्थ में काव्य की साधना की है। वे लोकप्रिय नहीं रहे और हो भी नहीं सकते; क्योंकि वे प्रेय को छोड़कर श्रेय की साधना में रत हैं।

सियारामशरण गुप्त का काव्य-शिल्प

[डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त]

कविवर सियारामशरण गुप्त ने सन् १९१४ से लेकर सन् १९६३ तक लगभग अर्द्ध शताब्दी तक काव्य-साधना की थी। उन्होंने राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता के अन्तर्गत मुख्यतः गांधीवादी विचार-धारा को वाणी दी है। 'उन्मुक्त', 'मृण्मयी', 'पाथेय', 'नकुल', 'आर्द्रा', 'दूर्वादल', 'बापू' और 'अमृतपुत्र' उनके उल्लेखनीय काव्य-ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त 'दैनिकी', 'आत्मोत्सर्ग', 'विषाद', 'मौर्य-विजय,' 'अनाथ', 'नोआखाली में' और 'जयहिन्द' उनकी संक्षिप्त काव्य-कृतियाँ हैं। 'गीता-संवाद' और 'बुद्ध-वचन' में उन्होंने क्रमशः श्रीमद्भगवद्गीता' और 'धम्मपद' का समश्लोकी अनुवाद किया है। उन्होंने नाटक (पुण्य-पर्व), निबन्ध (झूठ-सच), कहानी (मानुषी) और उपन्यास-साहित्य (गोद, अन्तिम आकांक्षा, नारी) की भी रचना की है। सम्भवतः यही कारण है कि उनके काव्य में केवल भावना के सूक्ष्म-कोमल चित्र नहीं हैं, अपितु 'उन्मुक्त' नाट्यगुण-संवलित आख्यान-काव्य है, अधिकांश स्फुट कविताओं में निबन्ध जैसी गम्भीर वैचारिकता को स्थान मिला है और 'आर्द्रा', 'अनाथ', 'नकुल', 'आत्मोत्सर्ग' आदि में कथा-साहित्य जैसी आख्यानक प्रवृत्ति है। उनके काव्य-शिल्प (काव्य-रूप, भाषा-शैली, अलंकार, छन्द) का सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक विवेचन करते समय हम उपर्युक्त काव्य-सम्पद् का यथास्थान उल्लेख करेंगे।

काव्य-शिल्प सम्बन्धी सिद्धान्त

सियारामशरणजी के काव्य में काव्य-कला के संयोजक उपकरणों का अत्यन्त विविधता और समृद्धि से प्रयोग हुआ है, किन्तु भाषा, अलंकारादि के स्वरूप पर उनके विचार अत्यन्त विरल हैं। इसके मूल में उनका यह संकोच है—"काव्य-सिद्धान्त पर कुछ लिखना अपने लिए मैंने कभी उचित नहीं समझा।"[1] उन्होंने केवल भाषा के सम्बन्ध में संक्षिप्त विचार-कथन किया है; काव्य-रूपों, अलंकार-योजना तथा छन्द-विधान के विषय में वे मौन रहे हैं। उनका भाषादर्श निश्चय ही उल्लेखनीय है। उन्होंने द्विवेदीयुगीन कवियों की

[1] रसवन्ती, जुलाई १९६३, 'तीन साहित्यकार : तीन पत्र' शीर्षक लेख, पृष्ठ ५६।

अभिधामूलक भाषा के अन्धानुसरण का विरोध किया है और छायावादी काव्य की लक्षणा-व्यंजना-समृद्ध अभिव्यंजना-शैली को, जिसे क्लिष्ट मान लेने की परम्परा चल पड़ी थी, काव्यासन पर प्रतिष्ठित करने का अनुरोध किया है। यथा—"साहित्य में प्रसाद गुण की सराहना के मूल में क्लिष्टता का विरोध पाया जाता है।······जहाँ वह उचित स्थान पर है, वहाँ भी वह आज सहन नहीं की जा सकती।······हम उसका आनन्द तो लेना चाहते हैं, पर लेना ही लेना चाहते हैं, कुछ देने के लिए तैयार नहीं हैं। लेने के लिए देना पहली शर्त है। इसे पूरा किये बिना जो कुछ मिलता है, वह 'प्राप्ति' नहीं, उसे भिक्षा कहते हैं।"[१] इस उक्ति में प्रसाद गुण के प्रति अनास्था प्रकट नहीं की गयी है, किन्तु उसी को अलम् मान लेना उन्हें स्वीकार्य नहीं है। इसका कारण यह है कि वे काव्य में कला-संस्कारों को उतना ही प्रयोजनीय मानते हैं जितना कि भाव-प्रवाह को। अर्थ (भावना) और गिरा (अभिव्यंजना) के समंजन को वे कवि का मूल धर्म मानते हैं, अन्यथा अभिव्यंजना की शिथिलता भावना को भी समृद्ध (समलंकृत) नहीं होने देती। उदाहरणार्थ उनकी यह उक्ति देखिए :

"गिरा अर्थ से, अर्थ गिरा से
सादर समलंकृत है आज।"[२]

काव्य-रूप

भाषा-शैली के स्वरूप-निर्धारण में काव्य-रूप (प्रबन्ध काव्य, मुक्तक काव्य, गीति नाट्य आदि) का भी योग रहता है—आख्यानक लघु कविताओं, गीति काव्य, छन्दोबद्ध स्फुट कविताओं और काव्य-रूपक की भाषा का अन्तर इसका प्रमाण है। सियारामशरणजी ने महाकाव्य के अतिरिक्त सभी काव्य-रूपों का प्रयोग किया है, अतः उनकी शैली में विविधता सहज-स्वाभाविक है। खण्ड-काव्य (नकुल, मौर्य-विजय), काव्य-रूपक (उन्मुक्त), व्यक्ति-काव्य अथवा चरित-काव्य (बापू, आत्मोत्सर्ग), आख्यानबद्ध कविताओं (आर्द्रा, मृण्मयी, अनाथ) तथा स्फुट विचार-प्रधान कविताओं (पाथेय, दैनिकी, दूर्वादल, जयहिन्द आदि) की रचना में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'सुनन्दा' नामक रूपक-काव्य की भी रचना की थी, किन्तु पाण्डुलिपि खो जाने के कारण उसका प्रकाशन न हो सका।[३] उनकी अधिकांश रचनाएँ—चाहे वे

---

१ झूठ-सच, पृष्ठ ११७-११८।
२ बापू, नवम संस्करण, पृष्ठ ६।
३ देखिए 'रसवन्ती', जुलाई १९६३, पृष्ठ ५७।

खण्डकाव्य हों और चाहे स्फुट कविताएँ—विचार-प्रधान कथा-काव्य के रूप में लिखी गयी हैं, किन्तु 'दैनिकी', 'जयहिन्द', 'पाथेय' आदि की स्फुट कविताओं में विचार-तत्त्व की ही प्रमुखता रही है। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में इतिवृत्त की प्रधानता है, किन्तु उत्तरवर्ती कृत्तियों में भाव-संवेदन की सहजता अथवा विचारों की प्रमुखता पर बल दिया गया है।

भाषा-शैली

काव्य की संवृद्धि में भाव-सम्पदा का तो विशिष्ट योग रहता ही है, अभिव्यंजना-धर्म का निर्वाह भी उतना ही आवश्यक है। सियारामशरणजी के काव्य में माधुर्यादि गुणों से विभूषित शब्द-सम्पदा और शैली-सम्बन्धी विविधता पूर्णोत्कर्ष के साथ विद्यमान है। आगे हम उनकी भाषा-शैली के सौन्दर्योत्पादक गुणों की क्रमशः परीक्षा करेंगे।

(अ) **शब्द-समृद्धि**—सियारामशरणजी ने अपनी कविताओं में शब्द-चयन के व्यापक आधार पर विशेष बल दिया है। उन्होंने संस्कृत-पदावली का पद-पद पर प्रयोग किया है, किन्तु अधिकतर उन्हीं शब्दों को अपनाया है, जो हिन्दी में सहज-व्यवहृत हैं। शोणित, अनागत, अपत्य, आमोदित आदि शब्द[1] इसी प्रकार के हैं। वैसे, संस्कृत की प्रकृति के अनुकूल तत्सम पद-संवलित उक्तियाँ भी उनके काव्य में हैं, किन्तु प्रायः उनमें जटिलता नहीं है। यथा—"धरा गर्भगत मधुर मातृरस वह अखण्ड नित।"[2] तद्भव शब्दों का प्रयोग करने के अतिरिक्त उन्होंने यथाप्रसंग दूनर (झुककर दोहरा होना), मजूर, ठौर, खेप आदि देशज शब्दों[3] को भी प्रयुक्त किया है। किन्तु, उनकी भाषा की मूल प्रवृत्ति तद्भव तथा प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग नहीं है; उन्होंने उसे मुख्य रूप से सरल तत्सम शब्दों से अलंकृत किया है। ब्रजभाषा के शब्दों अथवा क्रिया-रूपों के प्रयोग की ओर उनकी विशेष प्रवृत्ति नहीं रही। इसी प्रकार उर्दू अथवा अंग्रेज़ी के शब्दों का प्रयोग भी उन्होंने प्रायः नहीं किया। हाँ, पूर्ण-पुनरुक्त पदावली (झुण्ड-झुण्ड), अपूर्ण-पुनरुक्त पदावली (हाट-बाट) और सहयोगी शब्दों (नर-नारी, युवा-बाल) के प्रयोग के प्रति वे प्रायः जागरूक रहे हैं, जिससे उनकी भाषा में विशिष्ट लयात्मकता आ गयी है। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित उक्ति में उक्त तीनों प्रकार के प्रयोग देखिए :

---

[1] देखिए 'बापू', पृष्ठ १६, २१, २६, ७५।

[2] उन्मुक्त, पृष्ठ ५३।

[3] देखिए 'दैनिकी', पृष्ठ १०, १७, ३१, ५३।

इसके अनन्तर ही हाट-बाट-घाटों में
स्थान हो जहाँ भी वहीं झुण्ड-झुण्ड मिलके
सब नर-नारी युवा-बाल और बूढ़े भी
द्वीप का पवित्र प्रण फिर दुहरायेंगे।[1]

(आ) सन्धि, उपसर्ग और प्रत्यय—सियारामशरण जी ने मुख्यतः विचार-प्रधान काव्य की रचना की है, फलतः संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग उनकी सहज प्रवृत्ति रही है। इसीलिए सन्धि, उपसर्ग और प्रत्यय के योग से निर्मित नवीन शब्दों अथवा इनसे युक्त सर्वप्रयुक्त पदावली को उनकी रचना में व्यापक स्थान मिला है। कृतान्ताकार (दूर्वादिल, पृष्ठ ६४), अग्न्युत्पात (उन्मुक्त, पृष्ठ २९), सलिलाशय (उन्मुक्त, पृष्ठ ७९) आदि सन्धियुक्त शब्दों का प्रयोग प्रायः सरल रूप में ही हुआ है, किन्तु ऐसे स्थलों की खोज कठिन नहीं होगी जहाँ इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप अर्थ-बोध में जटिलता आ गयी है। सन्धि की अपेक्षा उपसर्ग अथवा प्रत्यय के योग से बनाये गये शब्द अपेक्षाकृत स्पष्ट रहे हैं। अ, परि, स, सं आदि अनेकानेक उपसर्ग उनकी कृतियों में सहज प्राप्य हैं। असंशित (उन्मुक्त, पृष्ठ ९६), परिदर्शन (उन्मुक्त पृष्ठ ९६), सविशेष (जयहिन्द, पृष्ठ ७), संस्थित (जयहिन्द, पृष्ठ १४) आदि शब्द इसके उदाहरण हैं। निराभरणता (नकुल, पृष्ठ २३), सूक्ष्म हो कर तर-तर-तर (उन्मुक्त, पृष्ठ १४), निकटतर (उन्मुक्त, पृष्ठ ५३), कितना करुणाकलित दयामय ममतामय यह (उन्मुक्त, पृष्ठ ५२) आदि शब्दों अथवा वाक्यांशों में ता, तर, मय आदि प्रत्ययों के प्रति कवि का अनुराग स्पष्ट लक्षित है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सन्धि उपसर्गादि के प्रयोग से गुप्तजी की भाषा में कृत्रिमता नहीं आयी है, अपितु इनका प्रयोग प्रायः उक्ति में प्रवाह लाने के लिए ही हुआ है।

(इ) विशेषण—सियारामशरणजी के काव्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति है—विशेषणों का साभिप्राय प्रयोग। विशेषण की काव्यगत महत्ता के विषय में 'दिनकरजी' की यह उक्ति पठनीय है—"जहाँ यह जानने की आवश्यकता हो कि दो कवियों में से कौन बड़ा और कौन छोटा है, वहाँ केवल यह देख लो कि दोनों में से किसने कितने विशेषणों का प्रयोग किया है तथा किसके विशेषण प्राणवान और किसके निष्प्राण उतरे हैं।"[2] सियारामशरणजी में दोनों

---

[1] उन्मुक्त, पृष्ठ ४०।

[2] काव्य की भूमिका, पृष्ठ १४५।

विशेषताएँ हैं—उन्होंने विशेषणों के प्रयोग में विपुलता और प्राणवत्ता दोनों का ध्यान रखा है। प्रारम्भिक कृतियों की अपेक्षा उत्तरवर्ती रचनाओं—विशेषतः 'उन्मुक्त'—में यह प्रवृत्ति सर्वाधिक द्रष्टव्य है। जटिल अमावस्या (मृणमयी, पृष्ठ ११३), नवल निर्मलता (उन्मुक्त, पृष्ठ ५४), तरल तिमिर (नकुल, पृष्ठ २८) आदि में विशेषणों का प्रयोग रूढ़िबद्ध नहीं है—इनमें वर्ण्य की विशेषता के द्योतन के लिए मौलिक शैली अपनायी गयी है। हरिऔध जी की भाँति उन्होंने कहीं-कहीं लिंगानुसार विशेषण-प्रयोग की प्रवृत्ति को भी अपनाया है। 'जहाँ मृत्यु अविराम अशान्ता' (उन्मुक्त, पृष्ठ ४८) में 'अशान्त' के स्थान पर 'अशान्ता' का प्रयोग इसी प्रवृत्ति का फल है। विशेषण उनकी शैली में इतने सहज-सामान्य हैं कि कहीं-कहीं इनका श्रृंखलाबद्ध प्रयोग हुआ है। उदाहरणस्वरूप ये पंक्तियाँ देखिए :

ये तृण तरुदल ललित लताएँ मृदुल कुसुमसह,
ये कुरंग बहुरंग, कलित कलकंठ विहंगम।[1]

(ई) **गुण-दोषादि अन्य भाषागत प्रवृत्तियाँ**—सियारामशरणजी के काव्य में माधुर्य गुण की अपेक्षा ओज गुण को अधिक स्थान मिला है—'नकुल', 'मृणमयी', 'उन्मुक्त', 'जयहिन्द', 'मौर्य-विजय' आदि काव्य इसके उदाहरण हैं। वे राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता के सजग गायक हैं, अतः ओजगुणमूलक शब्दावली की व्याप्ति उनके काव्य का सहज गुण है। उन्होंने करुण, वात्सल्यादि रसों के निरूपण में प्रसंगानुसार माधुर्य गुण की भी योजना की है। उपर्युक्त काव्य-गुणों में प्रसाद गुण की धारा अन्तर्वर्ती धर्म के रूप में विद्यमान रही है अर्थात् उनके काव्य में अभिव्यक्ति सम्बन्धी जटिलता का प्रायः अभाव रहा है। भाषा-सौन्दर्य की संवृद्धि के लिए उन्होंने प्रसादादि गुणों की इतनी सफलता से आयोजना की है कि उनकी रचनाओं में काव्य-दोषों की खोज लगभग निरर्थक होगी। 'पसर रहा है' (उन्मुक्त, पृष्ठ ३२) जैसे ग्राम्यदोषयुक्त प्रयोग, 'उत्पीड़ित खल' (उन्मुक्त, पृष्ठ ५२) में 'उत्पीड़क' के स्थान पर 'उत्पीड़ित' का अनुचित प्रयोग, विकीरण (उन्मुक्त, पृष्ठ ८३) जैसे शब्द-विकार (विकिरण अथवा विकीर्ण का दोषयुक्त रूपान्तर) तथा 'किस कारण हो गया अचानक ओछा-ओछा मेरा आतुर हृदय' (उन्मुक्त, पृष्ठ ८९) में 'ओछा' का 'रिक्त' के अर्थ में अप्रचलित रूप में प्रयोग कुछ ऐसे उदाहरण हैं जो उनकी रचनाओं में अत्यन्त विरल रूप में ही मिलते हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है

---

[1] उन्मुक्त, पृष्ठ ५३।

कि लक्षणा-व्यंजनामूलक शब्द-विन्यास उनके काव्य की सहज विशेषता है, किन्तु मुहावरों द्वारा लाक्षणिक सौन्दर्य की सृष्टि के प्रति वे सजग नहीं हैं। 'आँख का तारा', 'हृदय डूबना' आदि मुहावरों[1] का प्रयोग अत्यन्त विरल स्थलों पर हुआ है।

(उ) **काव्यगत शैलियाँ**—सियारामशरणजी ने कथा-काव्य, काव्य-रूपक और मुक्तक काव्य की एक जैसी सफलता से रचना की है, अतः उनकी रचनाओं में शैली सम्बन्धी विविध प्रयोग सहज द्रष्टव्य हैं। उनकी आख्यानबद्ध कविताओं में वर्णन-विवरणमयी शैली का स्वाभाविक प्रयोग हुआ है, किन्तु अपने परिष्कृत काव्य-संस्कारों के अनुकूल उन्होंने इस शैली को कल्पना, चित्रगुण, सरस-सजग विशेषणों आदि के प्रयोग द्वारा इतिवृत्तात्मकता के दोष से मुक्त रखा है। 'मौर्य-विजय' के विषय में यह बात इतने सशक्त स्वरों में भले ही न कही जा सके, 'नकुल', 'मृण्मयी' और 'उन्मुक्त' इसके सफल उदाहरण हैं। इन आख्यानक कविताओं की एक अन्य विशेषता यह है कि इनमें सूक्ति शैली और उद्‌बोधन शैली का सराहनीय समावेश हुआ है। उदाहरणार्थ, ये सूक्तियाँ देखिए—(अ) फल मिलने तक भेद रहे अज्ञात सभी को (नकुल, पृष्ठ ७३), (आ) अप्रिय कठोरता में प्रियता निहित है (बापू, पृष्ठ ५३), (इ) कष्ट भी कृतार्थ उस एक सुकृति का है, जिसने जगा दी हो सहस्रों में स्वजनता (उन्मुक्त, पृष्ठ २९)। गुप्तजी उद्‌बोधन शैली के भी सफल प्रयोक्ता हैं। पात्रों की उक्तियों के अतिरिक्त उन्होंने अपनी ओर से वर्णित प्रसंगों में भी इस शैली को बहुशः स्थान दिया है। इसके लिए उन्होंने कहीं विस्तारयुक्त कथन की प्रणाली को अपनाया है और कहीं संक्षेप में ही मार्मिक सन्देश प्रदान किये हैं। उदाहरणस्वरूप, निम्नस्थ उक्तियाँ देखिए :

(अ) **आ सको तो आना, यहीं बैठ मत रहना,**
सब को चुकाना आज जीवन का ऋण है।[2]

(आ) **जिनका विक्रम बना हुआ है आज अगोचर,**
दमकेंगे वे कल-भविष्य के भूषण होकर।[3]

सियारामशरणजी के काव्य में वैचारिक गम्भीरता की प्रमुखता रही है, अतः उनकी रचनाओं में प्रगीत शैली को प्रायः स्थान नहीं मिला। कल्पना और राग का उनमें अभाव नहीं है, किन्तु आत्माभिव्यक्ति की अपेक्षा उनके

---

[1] दूर्वादल, पृष्ठ ४८, ७०।

[2] उन्मुक्त, पृष्ठ ३०।

[3] नकुल, पृष्ठ ९६।

काव्य में चिन्तन अधिक मुखर है—और यही गीति काव्य का बाधक गुण है। उनकी शैली की अन्य उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं—संवाद-गुण तथा चित्र-गुण। संवाद-गुण 'उन्मुक्त' और अन्य कथा-काव्यों में उपलब्ध है और चित्र-शैली को प्रारम्भिक रचनाओं की अपेक्षा उत्तरोत्तर कृतियों में अधिक स्थान मिला है। संवाद-गुण की योजना उन्होंने दो रूपों में की है—(अ) ओजगुणमूलक आत्मसंवाद अथवा अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति में सहायक आत्मालाप, (आ) परिस्थितियों अथवा पात्रों के व्यक्तित्व को स्पष्ट करने वाले संवाद। कवि के संवाद-कौशल, के उदाहरण रूप में पुष्पदन्त और मृदुला के वार्तालाप की यह माला-रूप योजना द्रष्टव्य है :

बैठ गया चुपचाप, कहा मृदुला ने "जाओ",
क्षीण कण्ठ से। "बहन, यहाँ सुनने को 'आओ'
आया हूँ मैं"—कहा किसी बिध मैंने हँसकर।
"देखो!"—वह उठ खड़ी हुई भय में-सी फँसकर,
बोली—"ज्ञानू निकल भोंयरे में से आया,
मैं आयी बस और उसी क्षण यह उठ धाया;
क्या मैं इसका करूँ!" कहा मैंने समझाकर—
"नहीं शत्रु के व्योम विमानों का है कुछ डर।"[1]

सियारामशरणजी ने अपनी रचनाओं में चित्र-शैली का भी साधिकार प्रयोग किया है, जिसके मूल में कल्पना-कौशल और वर्ण-परिज्ञान को सहज ही देखा जा सकता है। इस शैली को भाव-विशेष में ही न अपनाकर उन्होंने विविधता का परिचय दिया है—कथागत वातावरण, प्रकृति-सौन्दर्य और रस की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने अनेक रम्य चित्रों की अवतारणा की है। उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित उक्तियों में दो भिन्न परिस्थिति-चित्र देखिए, जिनमें गति, वर्ण-ज्ञान, चेष्टादि का सफल निरूपण हुआ है :

(अ) **घन-केशों में पवन प्रहर्षित थहर रहा था,**
उत्तरीय में उतर सान्ध्य नभ लहर रहा था।
दूर दूर तक गयी वेणु वादन की द्रुत लय,
जड़ तक चेतन हुआ, निखिल चेतन त्यों तन्मय।
उस गोपा को निकट निरख बिहँसा बनमाली,
उसने एकाएक अधर से वेणु हटा ली।[2]

---

[1] उन्मुक्त, पृष्ठ ४५-४६।
[2] नकुल, पृष्ठ ७।

(आ) ओट में चला गया है सैन्यदल । थोड़े-से
सैनिक वे अब भी दिखाई वहाँ पड़ते,
वह उस ओर वहाँ । वे भी दृष्टिपथ से
दूर हो रहे हैं अब । दृश्य अहा, कैसा था ।[1]

अलंकार-विधान

सियारामशरणजी ने शब्दार्थ में क्रान्ति की योजना के लिए अलंकारों का स्वच्छ-समृद्ध प्रयोग किया है। रूढ़िसिद्ध उपमानों की अपेक्षा उनकी प्रवृत्ति अधिकतर नवीन उपमानों की योजना की ओर रही है। छायावाद के काव्य-शिल्प से प्रभावित होने के फलस्वरूप उन्होंने एक ओर मूर्त की मूर्त से उपमा दी है—पंक-व्रण (उन्मुक्त, पृष्ठ ८६), दूसरी ओर अमूर्त की मूर्त से उपमा दी है—वैर-व्याल (उन्मुक्त, पृष्ठ ७८), और तीसरी ओर अमूर्त की अमूर्त से उपमा दी है—अन्तर्ज्वाला लुप्त गिरा जैसी (उन्मुक्त, पृष्ठ ८७)। उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा उनके सर्वप्रिय अलंकार हैं, किन्तु परिवृत्ति, समुच्चय, अक्रमातिशयोक्ति, अनुप्रास, यमक, वीप्सा आदि अलंकारों की भी उन्होंने बहुशः योजना की है। कहीं-कहीं 'ध्वन्यर्थ व्यंजना' नामक पाश्चात्य अलंकार का भी स्वाभाविक रूप में प्रयोग हुआ है—"सहसा नभ में व्योमयान घहरे घर्-घर्-घर्" (उन्मुक्त, पृष्ठ ४७)। इसी प्रकार वीप्सा और मानवीकरण अलंकार का यह सम्मिलित प्रयोग भी द्रष्टव्य है :

"जाना प्रिये, जाना प्रिये, सैनिकों के कंठों में
आया था कहाँ से ओज, उत्कटता जिसकी
महक उठी थी दूर दूर लौं दिगन्त में।"[2]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सियारामशरणजी के काव्य में अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक रूप में हुआ है—मन के सहज उद्‌गारों को अलंकार-भार से बोझिल बनाना उनका लक्ष्य नहीं है। इसीलिए उन्होंने प्रायः अनुप्रास की अवलि-रूप योजना न करके प्रायः युग्मक अनुप्रास प्रस्तुत किये हैं। यथा—भव्य-भावन, पावन-पुरातन, विजय-विमण्डित।[3] चमत्कार की सिद्धि उनका अभिप्रेत नहीं है, अपितु अर्थ-गौरव की संवृद्धि पर ही उनका बल रहा है।

---

[1] उन्मुक्त, पृष्ठ ३३।
[2] उन्मुक्त, पृष्ठ ३६।
[3] जयहिन्द, पृष्ठ ५, ७, ८।

छन्द-योजना

सियारामशरणजी ने अपने काव्य की रचना या तो मात्रिक छन्दों में की है अथवा मुक्त छन्द का प्रयोग किया है। उनके द्वारा प्रयुक्त छन्दों की तालिका प्रस्तुत न करके हम गति और तुक के क्षेत्र में उनकी उपलब्धियों की चर्चा करेंगे। उनकी प्रवृत्ति गीतों की रचना की ओर भले ही न हो, उन्होंने लयात्मकता का संयोजन पूर्ण सफलता के साथ किया है। अनुप्रास, शब्द-मैत्री, माधुर्यादि गुणों के अनुरूप पदावली आदि ऐसे धर्म हैं जिनका निर्वाह करके उन्होंने अपने काव्य में लय का सफल सन्निवेश किया है। मध्यतुकान्त और तुकान्त भी इस दिशा में सहायक उपकरण रहे हैं। मध्यतुकान्त अथवा आन्तरिक लय का आयोजन उनकी कविता की विशिष्ट प्रवृत्ति है। यथा—(अ) पाप-ताप-हीन वहाँ शान्ति सुनिश्चल है (मृण्मयी, पृष्ठ ३५), (आ) वहाँ सजग दल-बल है सज्जित (उन्मुक्त, पृष्ठ ४६)। अन्त्यानुप्रास की दृष्टि से उन्होंने मुख्यतः मध्यम तुक (तीन से पाँच मात्राओं तक के शब्दों में तुक-निर्वाह) की योजना की है, किन्तु कहीं-कहीं उत्तम तुक (छह अथवा अधिक मात्राएँ) का प्रयोग भी उपलब्ध है, जिससे उक्तिगत लय-गुण में भी चारुता आ गयी है। उदाहरणस्वरूप यह उक्ति देखिए :

"आगे भी यदि इसी भूमि पर जन्म कहीं पावेंगे,
तो निश्चय है हम अवश्य ही तुम्हें यहीं पावेंगे।[1]

निष्कर्षस्वरूप यह कहा जा सकता है कि सियारामशरणजी सच्चे अर्थों में कला के पारखी हैं। कला उनके यहाँ क्रमशः इतिवृत्त की परिधि छोड़कर मौलिक क्षेत्रों की ओर अग्रसर रही है। जिस प्रकार उनके काव्य की भाव-सामग्री सुचिन्तित है उसी प्रकार उनकी शिल्प-सज्जा भी सुविचारित है।

---

[1] दूर्वादल, पृष्ठ ५४।

कवि श्री सियारामशरण गुप्त

[श्री रामधारीसिंह 'दिनकर']

अष्टादश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, मुज़फ्फ़रपुर (१९२८) में हिन्दी-कविता के पुराने और नये स्कूलों के प्रतिनिधियों के बीच का संघर्ष बहुत ही मुखर हो उठा। उस साल, मंगलाप्रसाद-पारितोषिक साहित्य-विषय पर दिया जाने वाला था, किन्तु, वह पुरस्कार 'पल्लव' पर नहीं दिया जाकर, श्री वियोगीहरिजी की 'वीर-सतसई' पर दिया गया। इसके सिवा सम्मेलन के सभापति, पं० पद्मसिंह शर्माजी ने अपने अभिभाषण में छायावाद की बड़ी ही कटु आलोचना भी की थी और व्यंग्यपूर्वक 'पल्लव' को काँटा कह डाला था। नवयुवक साहित्यकार इस बात से बहुत ही क्षुब्ध थे और इस क्षोभ की अभिव्यक्ति सम्मेलन के अवसर पर होने वाली सभी साहित्यिक समितियों और बैठकों में होती रही। सम्मेलन के दूसरे दिन मुज़फ्फ़रपुर साहित्य-संघ (यह संस्था अब जीवित नहीं है) के उत्सव में सभापति के पद से बोलते हुए श्री हरिऔधजी ने आवेश के साथ कहा कि "मुझे तो श्री मैथिलीशरणजी की अपेक्षा श्री सियारामशरण की ही कविताएँ अधिक पसन्द आती हैं।" सभी युवकों ने तुमुल करतलध्वनि के साथ इस घोषणा का स्वागत किया, किन्तु, मेरे हाथ नहीं बज सके। मैं विचारता रह गया कि क्या सचमुच ही, 'मौर्य-विजय' का रचयिता, 'जयद्रथ-वध' के रचयिता से श्रेष्ठ है।

श्री सियारामशरणजी को श्री मैथिलीशरणजी से श्रेष्ठ मैं अब भी नहीं मानता। दोनों भाइयों की मनोदशा एक ही नहीं होते हुए भी, प्रायः मिलती-जुलती-सी है और समधिक दूरी तक दोनों में ही प्राचीन संस्कारों के प्रति एक प्रकार की अनुरक्ति है। किन्तु उम्र में छोटे होने के कारण अथवा अन्य प्रभावों से श्री सियारामशरणजी नवीनता की ओर अधिक उन्मुख हैं। उनकी विषय को ग्रहण करने की प्रणाली मैथिलीशरणजी की अपेक्षा अधिक नवीन है तथा, यद्यपि, छायावाद की अभिव्यंजक शक्तियों का विकास उनमें भी पूर्ण रूप से नहीं हो सका, तथापि वह अपने अग्रज की अपेक्षा छायावाद के अधिक समीप और उसके अधिक अपने कवि रहे। छायावाद की दुनिया में मैथिलीशरणजी अपनी सामर्थ्य के बल पर आये थे, किन्तु सियारामशरणजी को उस दुनिया

की किरणों ने अपनी ओर खींचा। यों भी कह सकते हैं कि छायावाद के बाज़ार से अपनी पसन्द की तूलिका और रंग ख़रीदकर मैथिलीशरणजी अपने देश को लौट गये, किन्तु, सियारामशरणजी ने उस बाज़ार में आकर डेरा ही डाल दिया। डेरा ही डाल दिया, यानी स्थायी निवास के उद्देश्य से यहाँ अपना घर नहीं बनाया, क्योंकि, तब अपने असली घर का मोह उन्हें छोड़ देना पड़ता और 'दूर्वादल', 'पाथेय', 'मृण्मयी', एवं 'आर्द्रा' की रचना बँटी हुई मनोदशाओं से ऊपर उठकर एकमात्र रोमांस की समाधि में करनी पड़ती।

सियारामशरणजी की कविताओं के पीछे हम एक ऐसी मनोदशा को विद्यमान पाते हैं, जो प्राचीन और नवीन, दोनों ही, दिशाओं की ओर बँटी हुई है। शैली से वह रोमांसप्रिय और विचारों से शास्त्रीय हैं। किन्तु, शैली उनके विचारों को प्रेरित नहीं करती। भाव उनके इतिहास से आते हैं और शैली वह नये युग से लेते हैं। यह भी ठीक नहीं है कि उनके सभी भाव उनकी अनुभूतियों में गलकर नवीन बन आते हैं, किन्तु, इस क्रम में उनका एक-तिहाई अंश प्राचीन ही रह जाता है। उनके साथ एक और कठिनाई है। प्राचीन भाव और नयी शैली जब आपस में मिलने लगती हैं, तब उनमें से प्रत्येक को अपनी मूल-शक्ति का कुछ-न-कुछ अंश बलिदान करना पड़ता है। इस प्रकार उनके शास्त्रीय भावों की अपनी परम्परागत प्रबलता घट जाती है और नवीन शैली को भी अपनी स्वाभाविक विशिष्टताओं में से कुछ का त्याग करना पड़ता है। 'आर्द्रा' और 'मृण्मयी' की कविताओं में रोमांसवाद की चमत्कारपूर्ण शैली अपने तेज के साथ पूर्ण रूप से विद्यमान है, किन्तु, स्पष्ट ही, गम्भीर शास्त्रीय भावों को सफलतापूर्वक वहन करने के लिए उसे अपनी सूक्ष्मता को छोड़ देना पड़ा है और गद्य के उतना समीप आ जाना पड़ा है जितना समीप उसे, साधारणतः, नहीं आना चाहिए था। यह कवि की असमर्थता का परिणाम नहीं है, प्रत्युत् जब कभी लिरिक-कविता की शैली, प्रबन्ध अथवा कथा-काव्य या किसी प्रकार की नीति-व्यंजना के लिए प्रयुक्त की जायेगी, तभी उसे सूक्ष्म की अपेक्षा कुछ अधिक स्थूल हो जाना पड़ेगा।

भद्र यह विधि का विधान है,
देव हो कि दानव हो,
ऋषि, मुनि और महामानव हो,
सीमित सभी का यहाँ ज्ञान है।
विधि के विधान से ही वर्षण-अवर्षण का,
एक-एक क्षण का,
निश्चित है योगायोग,
भोग्य है सभी के लिए भोगाभोग। [मंजुघोष]

यह टुकड़ा उस शैली का अत्यन्त रोचक उदाहरण है जो श्री सियाराम-शरणजी में शास्त्रीय भाव और नवीन व्यंजना-प्रणाली के योग से विकसित हुई है। पूरे पद में प्रवाह की गम्भीरता और भावों की टुकड़ियों की समाप्ति पर आने वाले लय के विराम इसे मैथिलीशरणजी की किसी भी कविता से एकदम विभाजित कर देते हैं। यह कविता आज से दस वर्ष पूर्व की रचना है जब छायावाद हिन्दी में अपना पूरा काम कर चुका था और, स्वभावतः ही, जब श्री सियारामशरणजी उससे वे सभी प्रभाव ग्रहण कर चुके थे जो उनकी रुचि के अनुकूल पड़ते थे, लेकिन, सब कुछ होते हुए भी इसके भीतर से चमकने वाला भाव प्राचीन मालूम पड़ता है। यह शास्त्रीय पद्धति के विचारक की मनोदशा है जो छायावाद के भीतर से अपनी समस्त ज्ञानगरिमा के साथ चमक रही है। यह उस कवि की वाणी है जो अपने प्राचीन संस्कारों का उज्ज्वल गीत अभिव्यंजना के नवीन सुरों में गा रही है। मैथिलीशरणजी ने छायावाद से सिर्फ़ तूलिका और रंग लिये थे; कैनवास और स्वप्न, दोनों ही उनके अपने थे। सियारामशरणजी ने स्वप्न छोड़कर और समस्त उपकरण, छायावाद से ही लिये हैं। 'मौर्य-विजय' के समय उन्होंने जिस कैनवास का उपयोग किया था वह अब उनके पास नहीं है; छायावाद के भण्डार से उन्होंने अपनी पसन्द का एक नया कैनवास उठा लिया है जो अन्य छायावादी कवियों की चित्रपट की तरह कोमल तो नहीं है, किन्तु चित्र, शायद उस पर बुरे नहीं उठते हैं।

सियारामशरणजी में कला की आराधना कम, विचारों का सेवन अधिक है। उनका उद्देश्य सौन्दर्य-सृष्टि नहीं, प्रत्युत् कविता के माध्यम से सत्य का प्रतिपादन है। प्रसन्नता उन्हें इसलिए नहीं होती कि वह सुन्दर सुरों में गाते हैं, प्रत्युत् इसलिए कि उनका गान सारसंयुत है। हिन्दी-संसार में उन्हें जो सुयश मिला है वह भी कला-निर्माण के लिए नहीं, प्रत्युत् विचारों की शुद्धता एवं भावों की पवित्रता के कारण ही। रसिक कवि की सौन्दर्य-प्रियता एवं प्रेम तथा आसक्ति के भाव उनमें कहीं भी प्रकट नहीं हुए हैं। उनकी कविताओं में से रंगीनियों की एक पूरी दुनिया ही ग़ायब है। बल्कि इस दृष्टि से श्री मैथिली-शरणजी कहीं अधिक सरस हैं जिन्होंने 'पंचवटी', 'द्वापर' और 'साकेत' में स्थान-स्थान पर शृंगार की छोटी-मोटी अनेक धाराएँ बहायी हैं जो पवित्र होने के साथ सुन्दर और सरस भी हैं। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि सियारामशरणजी एकरस अथवा संकीर्ण हैं। एक कवि जीवन भर में एक ही कविता लिखता है। हिन्दी के वर्तमान कवियों में इस सिद्धान्त के वह सबसे

बड़े अपवाद हैं। रस का अभाव उनमें भले ही हो, किन्तु विचारों का उनमें एकदम अभाव नहीं है। उनकी कविताओं के भीतर से एक ऐसे चिन्तक का व्यक्तित्व झलकता है जो सदैव नये-नये भावों का शोध कर रहा हो। उनकी प्रत्येक कविता भाव-प्रधान है और उनके भाव भी विविध एवं विशाल हैं। वे अपने समय के अत्यन्त समकवि भी हैं; उनकी कविताओं का धरातल ऊपर-नीचे नहीं होता, ऐसा नहीं है कि उनकी एक रचना बहुत छिछली और दूसरी अत्यधिक गम्भीर हो। जिस स्तर पर वह काम करते हैं उसके नीचे विचारों के सुदृढ़ खम्भे लगे हुए हैं जो ज़्यादा हिलते-डुलते नहीं।

सियारामशरणजी संयमशील कवि हैं। यह सत्य है कि संयम में शक्ति होती है और उससे मनुष्य का रूप गम्भीर हो जाता है। किन्तु, गम्भीर पुरुष से सभी लोग आत्मीयता स्थापित नहीं कर सकते। नेता बहुत-कुछ तिलक और पटेल के समान होना चाहिए, किन्तु कवि और कलाकार के लिए जवाहरलाल का मुक्त स्वभाव ही उपयुक्त है। यह सच है कि संयम से कवि की शक्ति बढ़ जाती है, किन्तु उस संयम से जी घबराता है जो रस को मुक्त होकर चलने नहीं देता। मैं बार-बार अचरज करता हूँ कि सियारामशरणजी में 'निर्झरेर स्वप्न भंग', 'रात्रे ओ प्रभाते' अथवा 'पन्तजी' के 'परिवर्तन' की मनोदशा कहीं भी क्यों नहीं मिलती है। समधिक भाग में भावों के इस व्याकुल प्रवाह, संयम के इस त्रस्त वेग का उदाहरण प्रायः सभी कवियों में मिलता है। फिर सियारामशरणजी में ही यह अनुपस्थित क्यों है?

इसका उत्तर 'दूर्वादल', 'आर्द्रा', 'मृण्मयी' और 'पाथेय' की अधिकांश कविताओं में व्याप्त है। कुछ कविताओं को छोड़कर सियारामशरणजी सर्वत्र ही सोद्देश्य हैं जो किसी कलाकार के लिए सदैव अपमान की बात नहीं कही जा सकती और सियारामशरणजी की सोद्देश्यता तो बिलकुल ही चिन्तन के आवरण में प्रच्छन्न है, इसलिए उसे हम किसी भी प्रकार प्रचार का पर्याय नहीं मान सकते। वे काव्य की भूमि में विचारक की भाँति गम्भीरता और सहज विनय के साथ उतरते हैं तथा प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व का सत्यान्वेषी पुरुषों की भाँति विश्लेषण करते हैं। इस विश्लेषण की प्रक्रिया से यह स्पष्ट हो जाता है कि आनन्द उनका उद्देश्य नहीं है। वह इससे कुछ अधिक ठीक लक्ष्य की तलाश में हैं। जीवन की छोटी बातों में भी उन्हें किसी महान् सत्य की ध्वनि सुनाई पड़ती है। उनकी घड़ी जब चलते-चलते बन्द हो जाती है तब अनायास ही उनमें महान् काल की आकस्मिक स्थिरता की कल्पना जग पड़ती है, मानो यह एक अपूर्व सुयोग आ गया हो। मानो 'अकाल काल' उन्हें छूने

के लिए 'एक क्षण' को रुक गया हो (एक क्षण) । बरात के कोलाहल, हलचल और थकावट के बाद अगर उन्हें बैलगाड़ी में कहीं नींद आ जाती है तो वह सोचने लगते हैं :

भय की नहीं है बात, आज यदि उर में अशान्ति है,
सुन तू अरे मेरे मन, तेरी शान्ति-लक्ष्मी शान्ति लायगी,
कोई विघ्न-बाधा रोक उसको न पायगी । [शान्ति-लक्ष्मी]

वे प्रधानतः नीति-व्यंजक कवि हैं, किन्तु यह नीति उनकी चिन्ता की धारा से सहज रूप से प्रस्फुटित होती है । वृन्द या गिरिधर की तरह उन्हें इसके लिए तैयारी नहीं करनी पड़ती । और जब यह नीति-व्यंजना सुविकसित वक्रोक्ति के माध्यम से होने लगती है तब उसमें काव्यानन्द भी खूब ही उमड़ता है । उनकी चिन्ता की दिशा सहज ही गम्भीर है, अतएव उनके लिए यह कभी भी सम्भव नहीं है कि केवल आनन्द की खोज में वे रंगीनियों के लोक में उड़ने का साहस करें ।

संयम, शील और रहस्यान्वेषण की वृत्ति से रहस्यवादियों का संसार बहुत अधिक दूर नहीं है । ऐसी वृत्तिवाला मनुष्य जभी प्रेम-विभोर होकर परम सत्ता की ओर उन्मुख होगा, तभी वह उस लोक में जा पहुँचेगा जहाँ की वाणी समर्थ होने पर धुँधली कविता और असमर्थ होने पर दर्शन का सूत्र बन जाती है । सियारामशरणजी उड़कर तो नहीं, हाँ रास्ता भूलकर कभी-कभी इस लोक में पहुँच जाते हैं, किन्तु प्रेम के उन्माद से अनभ्यस्त रहने के कारण वे वहाँ का पूरा आनन्द नहीं उठा सकते । वे व्यक्तिवादी होने से डरते हैं और इसीलिए रहस्य-लोक में भी आत्म-विस्मृति से बचने के लिए सदैव सतर्क रहते हैं । उनमें प्रेम तो नहीं, हाँ श्रद्धा का निवास है । किन्तु विचार के प्रहरी श्रद्धा के साथ अन्याय करते हैं, उसे उठकर घूमने-फिरने नहीं देते । इसीलिए उनका रहस्यवाद भक्त की आत्म-विस्मृति न होकर रहस्य के लोक में ज्ञानी का जागरण हो जाता है । उनकी 'आहा, यह आलोक उदार' अथवा 'धन्य, आज का यह खग्रास' या 'तेरी क्षणप्रभा में ही मैं पुलक तुझे पहचान गया' आदि पंक्तियों और कविताओं में यही मनोदशा व्यंजित हुई है । 'प्रियतम, कब आयेंगे कब···' जैसी दो-एक कविताओं में श्रद्धा ने अपना स्वर ऊँचा करना अवश्य चाहा है, किन्तु ऐसी कविताएँ बहुत थोड़ी हैं और मिला-जुलाकर यही निष्कर्ष उचित मालूम पड़ता है कि सियारामशरणजी में भक्ति की अपेक्षा ज्ञान का ही अधिक प्राधान्य है और इसी के बल पर वह काव्य से लेकर अध्यात्म की भूमि तक सचेष्ट होकर विचरण करते हैं ।

कला में सतर्कता, शून्य में पंख खोलने से डरने की वृत्ति, निरे आनन्द को त्याज्य समझने की भावना, ठोस एवं शास्त्रीय भावों को छायावाद की आनन्द-मयी शैली में बाँधने की उत्कट इच्छा, जीवन की नगण्य घटनाओं एवं उपादानों में से किसी सत्य को व्यंजित करने का लोभ, भावुक की शैली में विचारक की मणि को जड़ देने की उमंग, इन सारी प्रवृत्तियों का सुन्दर एवं चरम विकास उनकी 'दैनिकी' नामक सबसे नवीन कृति में हुआ है। 'दैनिकी' एक विचारक कवि की शैली और भाव दोनों ही के सुरम्य परिपाक का सुन्दर उदाहरण है और इसकी तुलना रवि बाबू की 'कणिका' से की जा सकती है। सियारामशरणजी नवीन और प्राचीन, दोनों के बीच से होकर मध्य-मार्ग पर चल रहे थे। इस यात्रा में उनका हृदय आगे और मस्तिष्क पीछे की ओर था। अब तक उनकी शैली में प्राचीन की नग्नता और नवीन की कुहेलिका आँखमिचौनी खेल रही थीं। 'दैनिकी' में आकर इस द्वन्द्व का अन्त हो गया है। अब वे उस बिन्दु पर दृढ़तापूर्वक खड़े हो गये हैं जहाँ नवीन और प्राचीन दोनों ही प्रेमपूर्वक मिल सकते हैं। इस दृष्टि से भी सियारामशरणजी की कृतियों में 'दैनिकी' का अप्रतिम स्थान होना चाहिए।

"दैनिकी' में कवि सिर्फ दृढ़ ही नहीं है; और यह विस्तार कोई आकस्मिक घटना नहीं है। अब तक जो सरणि चली आ रही थी उसका ऐसा ही परिपाक होना चाहिए था। सदा की भाँति वह यहाँ भी रोज़दिन की घटनाओं के भीतर से जीवन के किसी सत्य की खोज करता है, किन्तु सत्य अब उसकी पकड़ में पहले की अपेक्षा अधिक दृढ़ता तथा आसानी से आता है। पहले वह सत्य के प्रतिबिम्ब से भी सन्तुष्ट हो जाता था। अब ऐसी बात नहीं; उसे बिम्ब नहीं, शुद्ध सत्य चाहिए और शुद्ध सत्य उसे सर्वत्र ही उपलब्ध होता है, यद्यपि इस सत्य को सत्य मानने का विश्वास उसे अपनी ही दृष्टि से मिलता है। किन्तु यह कोई नयी बात नहीं है। साहित्य में सत्य वही है जो पाठकों की सम्भावना-वृत्ति को सन्तुष्ट कर सके। साहित्यकार लोगों के मस्तिष्क में सत्य का खूँटा नहीं ठोकता, उससे इतनी ही स्वीकृति लेना चाहता है कि हाँ, यह सत्य हो सकता है। इस सम्भावना-वृत्ति का 'दैनिकी' में सर्वत्र ही सम्यक् समाधान है, अतएव न्यायपूर्वक यह मान लेना चाहिए कि कवि का सत्यान्वेषण का कार्य सफल हुआ है और जीवन ने इस छोटे-से क्षेत्र में (दैनिकी कुल साठ-पैंसठ पृष्ठों की पुस्तिका है) उसे अपना रूप खुलकर दिखाया है।

सियारामशरणजी 'दैनिकी' से पहले भी मिट्टी का शोध करने के लिए

आया करते थे; किन्तु उस समय लक्ष्य तक पहुँचने के पहले ही उन्हें कोई शक्ति अपनी ओर खींच लेती थी। वह कुछ लेकर ही लौटते थे, यह ठीक है; किन्तु यह 'कुछ' वह चीज़ नहीं थी जो मिट्टी की आत्मा उन्हें पुरस्कार के रूप में दे सकती थी। 'दैनिकी' में आकर उन्हें यह पुरस्कार मिला है और वह आनन्द तथा विस्मय के साथ पहले-पहल यह अनुभव कर रहे हैं कि मिट्टी की झनझनाहट ही इस युग का सच्चा काव्य है।

इस युद्ध के समय में सियारामशरणजी ने कविता की दो पुस्तकें तैयार की हैं—एक है 'दैनिकी' और दूसरी 'उन्मुक्त'। 'उन्मुक्त' में काव्य का प्रवाह अपेक्षाकृत शिथिल है। कवि जो कुछ अख़बारों में पढ़ रहा था, उसी के बल पर उसने वर्तमान युद्ध का एक रूपक कविता में लिख दिया। शायद यह पुस्तक युद्ध और गांधीवाद की तुलना के निमित्त लिखी गयी है, क्योंकि युद्ध के अन्त में पराजित लोग अहिंसा की दुहाई दे रहे हैं। यह उलटा न्याय है; क्योंकि अहिंसा अब उन्हें शोभा दे सकती है जो आक्रमणकारी होकर भी जीत गये हैं। स्वत्व और न्याय की बाज़ी हारने वाले लोग जब अहिंसा और क्षमा की बातें बोलने लगते हैं, तब ऐसा प्रतीत होने लगता है कि खुफ़िया पुलिस के डर से वे अपने भीतर के प्रतिशोध को छिपा रहे हैं, अथवा अपने खोये हुए आत्म-विश्वास को किसी प्रकार जगाने के लिए सांस्कृतिक उद्‌गारों का अवलम्बन ले रहे हैं। 'हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर' में से गांधीवाद का सार व्यंजित होता है। किन्तु, यह किसी प्रकार भी समझ में नहीं आता कि जो लोग पराजय के बाद इस सिद्धान्त का महत्त्व समझने लगे हैं, वे इसका प्रयोग करके अपना खोया हुआ द्वीप वापस कैसे पायेंगे।

इसके विपरीत 'दैनिकी' के उद्‌गारों में जीवन का अधिक तेजस्वी और सच्चा स्वर प्रकट हुआ है। उसमें शोषितों के लिए अहिंसा और कष्ट-सहन का उपदेश नहीं है। बल्कि जो कवि सर्वहारा की दशा पर आँसू बहाकर शोषकों में करुणा उत्पन्न करना चाहते हैं, उन्हें 'दैनिकी' के कवि ने बहुत ऊँचा उठाकर ललकारा है :

करता है क्या ? अरे मूढ़, कवि यह क्या करता ?
उत्पीड़ित के अश्रु लिये ये कहाँ विचरता ?
दिखा-दिखाकर इन्हें न कर अपमानित उसको,
लौटा आ तू इन्हें उसी पाषाण-पुरुष को।

यह पाषाण-पुरुष स्वयं सर्वहारा है और उसके आँसू आँसू नहीं, प्रत्युत् अंगार हैं ।

ज्वाला-गिरि के बीज, क्रूर शोषण से जमकर,
फूट पड़े हैं ठौर-ठौर आग्नेय विकटतर ।
काँप उठी है धरा उन्हीं के विस्फोटन में,
फैल गयी प्रलयाग्नि-शिखा यह निखिल भुवन में ।

सियारामशरणजी में कल्पना का मोह आतिशय्य तक कभी नहीं गया था । 'दैनिकी' में आकर तो उसका रहा-सहा अंश भी समाप्त हो गया है अथवा यह कहना चाहिए कि उसका कोई भी छूँछा रूप अब शेष नहीं है या यों समझना चाहिए कि ऊपर-नीचे सभी ओर भटकने वाला तीर्थयात्री अब मिट्टी पर ही अपने आराध्य के मन्दिर को पहचानकर स्थिर हो गया है । मिट्टी के नाद को सुन सकना, अवनति नहीं, उन्नति है । अवनति तो वह है जिसके कारण मनुष्य सत्य को तिरस्कृत करके ख़्याली दुनिया में डूबने जाता है । 'दैनिकी' की 'स्वप्न-भंग' नाम्नी कविता में सियारामशरणजी कहते हैं कि समाधि की अवस्था में एक दिन वह नन्दन-कानन में पहुँच गये और कल्पलता से कहने लगे कि अपना एक फूल मुझे दे दो । उसे मैं चुपके-से अपनी काव्य-वधू के जूड़े में जड़ दूँगा जिससे मेरा आँगन सुरभित हो उठेगा और मेरी काव्य-वधू विस्मय भरी दृष्टि से इधर-उधर देखने लगेगी । इतने में उनका स्वप्न टूट जाता है और देखते हैं कि न तो नन्दन-कानन है और न कल्पलता। है तो एक सूनी कोठरी जिसमें कवि अकेला बैठा हुआ है और सुनायी पड़ता है तो एक पिटती हुई बालिका का स्वर :

पिटी बालिका का कटु क्रन्दन नीचे से आता था,
नहीं रुक रहा था ताड़नरत कर कुपिता माता का ।

लेकिन संसार में आज कितने ही 'ताड़नरत' हाथ हैं, जो इस कुपिता माता के हाथों से कहीं अधिक कठोर हैं और पूरे परिवार के साथ भूखों मरने वाले कितने ही ऐसे लोग हैं जिनका विलाप इस बालिका के क्रन्दन से कहीं हृदयद्रावक और कराल है । तो कवियों के नन्दन-कानन का स्वप्न अब भी क्यों नहीं टूटता ?

कवि ने इस पुस्तक की छोटी-सी भूमिका में लिखा है—"जनरुचि को आज संग्राम की विकट परिस्थिति ने सस्ती और साधारण वस्तुओं की ओर भी उन्मुख कर दिया है । 'दैनिकी' का रचना-काल यही है । इसी कारण

इसके अपना लिये जाने की आशा रचयिता को है।" तथा "कवि की विशेषता साधारण से असाधारण की उपलब्धि कर लेने में है।" पता नहीं, इसमें सियारामशरणजी की शंका बोलती है अथवा आत्म-विश्वास। किन्तु सच तो यह है कि संकट के जिस काल ने लोगों को साधारण वस्तुओं की ओर उन्मुख कर दिया है, उसी ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य के प्रसाधन के सारे उपकरण चाहे छीन लिये जायँ, किन्तु अन्न और वस्त्र तो उसे मिलना ही चाहिए।

सियारामशरण के उपन्यास

[प्रो० देवराज उपाध्याय, एम० ए०]

आज हमारे आध्यात्मिक जीवन की धारा साहित्य-क्षेत्र में अनेक रूपों में प्रवाहित हो रही है; पर उनमें सबसे जीवन्त और सजीव धारा कथा की है। कथा में यौवन की अदम्य शक्ति है, उत्साह है और वह मानो हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर छा जाना चाहती है। चाहे वह धर्मक्षेत्र हो अथवा कुरुक्षेत्र, धार्मिक हो अथवा सामाजिक, ज्ञान का हो, विज्ञान का हो अथवा मनोविज्ञान का हो, सब पर वह अधिकार करती चली जा रही है। और यह निश्चित है कि आगामी एक शताब्दी तक कथा का वेग बढ़ता ही चला जायगा, इसके अन्तर में कुछ ऐसी शक्ति है कि उसकी प्रगति पर कोई वस्तु रुकावट नहीं डाल सकती। यही कारण है कि साहित्य के विविध रूपों में आज कथा के क्षेत्र में जितने प्रयोग हो रहे हैं, यहाँ जितने वैविध्य का दर्शन हो रहा है, यहाँ जितनी छट-पट और दौड़-धूप दिखलाई पड़ रही है, उसका शतांश भी और कहीं नहीं। आज के कथा-साहित्य को देखकर एक विशालकाय अस्पताल की कल्पना हो आती है जिसमें अनेक प्रयोगशालाएँ हैं और उनमें मानवता को, जीवन को, चीर-फाड़कर देखने में, उसके विविध पहलुओं को देखने और दिखाने में डाक्टरों का समूह संलग्न है। ये डाक्टर भी एक ही सिद्धान्त में विश्वास करने वाले नहीं। इनका सिद्धान्त पृथक्, दृष्टिकोण पृथक्, रोगों के उद्‌गम और उनकी चिकित्सा के सम्बन्ध में इनकी विचार-धारा पृथक्। एक ओर तो डाक्टरी पद्धति के चिकित्सक हैं जो सशक्त दवाओं और सुइयों के बल पर रोगों को दबा देना चाहते हैं, तो दूसरी ओर प्राकृतिक चिकित्सकों का एक दल है जो दवाओं को पाप की तरह त्याज्य समझता है और प्रकृति की उपचार-शक्ति पर ही सब कुछ छोड़कर निश्चिन्त हो जाना चाहता है। इन दो सीमाओं पर खड़े चिकित्सकों के बीच अन्य-अन्य चिकित्सक भी हैं जो अपनी बुद्धि और अनुभव के अनुसार इनकी अच्छाइयों को अपनी पद्धति में ग्रहण कर रहे हैं। सब अपनी-अपनी जगह ठीक हैं। सब पद्धतियों में रोगियों की चिकित्सा से रोगी स्वस्थ होते हैं और सब में कुछ ऐसे रोगी मिलते हैं

जिनकी चिकित्सा में उन्हें सफलता नहीं मिलती। किसी में अनवरत सफलता ही हो और दूसरी पद्धति में निरन्तर असफलता हो, ऐसी बात देखने में नहीं आयी। वास्तविक बात तो यह है कि सबके द्वारा जीवन की किसी-न-किसी माँग की पूर्ति होती है, उन सबों के द्वारा हमारे जीवन की ही अभिव्यक्ति होती है, सबका प्रयोग जीवन अपने लिए करता है। सबके ऊपर जीवन ही सत्य है, यदि वह है तो वह अपने लिए उचित मार्ग ढूँढ़ ही लेगा। और जो मार्ग वह पकड़ेगा वही उसके लिए उचित मार्ग होगा।

ऊपर कथाकारों को चिकित्सकों के रूपक में देखने का प्रयत्न किया गया है। शायद इसलिए कि मैं यह कहना चाह रहा हूँ कि सियारामशरणजी को मैं प्राकृतिक चिकित्सक के रूप में रखूँ। उन्हें आज के विज्ञान के द्वारा आविष्कृत औज़ारों में विश्वास नहीं, वे अनेक तीक्ष्ण पेटेण्ट दवाओं के क़ायल नहीं, वे स्वस्थ चित्त, शान्त वातावरण, स्नेह-सिक्त हृदय और सीधे-साधे जीवन के क़ायल हैं। उनका हृदय एक वैष्णव भक्त का है, थोड़े में ही सब कुछ पा लेने का और सब में भी थोड़ा नहीं पा लेने वाले नैष्ठिक श्रद्धावान् का हृदय है। गुप्तजी के पात्रों में कहीं भी किसी प्रकार की जटिलता नहीं, उनके कथा-विस्तार में कहीं भी किसी प्रकार का ज़ोर नहीं, किसी तरह की उलझन नहीं। वहाँ जो कुछ है साफ़-सुथरा है, सीधा-सादा है जिसे देखने के लिए किसी प्रकार के चश्मे की आवश्यकता नहीं है। 'चश्मे की आवश्यकता नहीं'—मैंने कहा; इसलिए कहा कि—यूरोप की बात छोड़ दीजिए—हिन्दी में भी आज के दिन ऐसी कहानियाँ लिखी जा रही हैं जिनका रसास्वादन करने के लिए पाठकों को मनोविज्ञान, मसलन् मनोविश्लेषण अथवा आचरण-वादी मनोविज्ञान से परिचय की आवश्यकता पड़ती है। उसका पाठक साधारण नहीं, विशिष्ट होगा; उसका मस्तिष्क विशेष प्रकार के उपकरणों से सुसज्जित होगा। पर गुप्तजी का कथा-साहित्य सर्वसाधारण के लिए है, उसमें निवास करने वाले जीव साधारण हैं, उनके मस्तिष्क की क्रियाएँ भी साधारण हैं, उनमें किसी भी तरह की पेचीदगी नहीं। जिस समय देश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए संघर्ष चल रहा था उस समय कांग्रेस के अधिवेशनों में यह गीत गाया जाता था :

मेरी छोटी-सी मड़ैया में राज रहे,
माता के सिर पर ताज रहे।

स्वतन्त्रता का सिपाही कोई बहुत बड़ा साम्राज्य नहीं चाहता था, वह एक छोटी-सी कुटिया में ही अपनी भारतमाता की मूर्ति की स्थापना करेगा,

पर हाँ, उसके भाल पर मुकुट अवश्य रखेगा। ठीक उसी तरह कहा जा सकता है कि गुप्तजी ने कथा की मूर्ति की स्थापना के लिए कोई बड़े कैनवास की चाहना नहीं की, वे एक छोटी-सी कुटिया में एक पतली-सी दीप-शिखा प्रज्वलित कर देते हैं, जिसकी निष्कम्प लौ जलती रहती है और एक साहित्यिक प्रकाश की रेखा से हृदय के अन्धकार को दूर कर देती है।

जहाँ हिन्दी के अन्य कथाकारों की रचनाओं को पढ़कर विद्युन्माला की दीपमालिकाओं से जगमग करती और आँखों में चकाचौंध उत्पन्न करने वाली प्रदर्शनी की याद आ जाती है, वहाँ गुप्तजी की रचना मिट्टी के दीपक की तरह मानो हृदय में ही जग पड़ती हो; दूसरों को हमारे हृदय के दरवाज़े को तोड़कर अथवा सेंध मारकर प्रवेश करना पड़ता है, वहाँ गुप्तजी की रचना के लिए हृदय-द्वार स्वागतार्थ सदा उन्मुक्त रहता है, दूसरे हम से भी कुछ माँगते हैं, पर गुप्तजी देना ही जानते हैं लेना वहाँ है ही नहीं। अन्यों को अपनी बुद्धि का, अपनी तेजस्विता, अपने ज्ञान का गर्व है। गुप्तजी को अपने अज्ञान का बल है, दूसरों को अपनी सारी तड़क-भड़क के रहते भी कभी-कभी लक्ष्य की प्राप्ति में सफलता नहीं मिलती, वहाँ गुप्तजी कभी भी असफल नहीं रहते, बस, "थोड़ा खाना और बनारस का रहना।"

गुप्तजी ने तीन उपन्यास लिखे हैं 'गोद', 'अन्तिम आकांक्षा' और 'नारी'। उपन्यास से अधिक उन्हें बड़ी कहानियाँ कहना ही अच्छा होगा। आज के युग में इनके मूल्यांकन में सदा ही मतभेद रहेगा। एक पाठक का दल ऐसा होगा जो यह कहेगा कि गुप्त जी के उपन्यासों के रूप में हिन्दी-कथा की आत्मा अपने सच्चे स्वरूप के अनेक प्रकार की कृत्रिमता से घिरे रहने पर भी अपनी सत्ता की सादगी और स्वच्छता का विजयोच्चार कर रही है। वह मानो कह रही है कि आज तरह-तरह के प्रलोभनों में पड़कर जलती चाय के घूँट से तृप्त होने का नाटक भले ही कर लो, कड़वी शराब को जलते गले के नीचे उतार कर भले ही कलेजे की आग बुझा लो; पर मृत्तिका पात्र में रखे शीतल गंगा-जल ही से तुम्हारी प्यास बुझेगी। प्रकृति से दूर हटकर लाख तुम शहरों में एक पत्थर या लोहे के प्रासाद में बस लो, पर लोहे या पत्थर की छाती को चीरकर एक छोटा-सा अंकुर निकल आयेगा और चुपके से कहेगा कि मुझे कहाँ छोड़े जा रहे हो? मैं तुम्हारा सदा से सहचर हूँ; देखो, मैं यह रहा। तुम मुझे अवश्य अपनाओगे। यहाँ न रहने दो; गमलों में रखो, पर तुम्हारा-हमारा चोली-दामन का साथ है, हम एक-दूसरे के बिना अपूर्ण हैं, हम दोनों में एक-दूसरे के लिए माँग है। "ब्याहो लाख बरो दस कुबरी, अन्तहि कान्ह हमारे।"

आलोचकों का एक दूसरा दल भी रहेगा जो यह कहेगा कि गुप्तजी के उपन्यास भले ही कुछ हों पर वे मौसम के फल की तरह हैं, जिन्हें पाकर दिल को कुछ अच्छा-सा नहीं लगता, ऐसा मालूम पड़ता है कि जो कुछ हो रहा है कुछ ठीक-सा नहीं। रूस के प्रसिद्ध कथाकार दास्तावेस्की ने एक उपन्यास लिखा है—Dream of a Queer Fellow। एक व्यक्ति स्वप्न देखता है कि उसने आत्महत्या कर ली। तत्पश्चात् वह एक ऐसे लोक में पहुँचा जो हर तरह इस पृथ्वी का ही प्रतिरूप है, वही रहन-सहन, वही क्रिया-कलाप, वही कार्य-व्यापार। अन्तर केवल इतना ही है कि इस नूतन लोक के लोगों के जीवन में किसी तरह के दुःख की छाप नहीं, वे पूर्ण शान्ति और आनन्द का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। ये लोग इस व्यक्ति का स्वागत करते हैं और वह उनके जीवन में प्रवेश कर उन्हें दूषित करना आरम्भ करता है। अन्त में वहाँ के निवासियों में छल-कपट, ईर्ष्या-द्वेष, विलासिता और क्रूरता का ताण्डव होने लगता है, 'मेरा' और 'तेरा' को लेकर अनेक कलह की उत्पत्ति होती है। एक दिन का स्वर्ग रौरव नरक बन जाता है। यद्यपि पहले के सुख और शान्तिमय वातावरण की याद भी नहीं पर आज अपराधों और अनाचारों से घिरे रहने पर भी निवासियों के हृदय में उसकी चाह जागती है। इधर यह व्यक्ति महसूस करता है कि इस हरे-भरे उद्यान में आग लगा देने का, उसे मरुभूमि में परिणत कर देने का सारा उत्तरदायित्व उस पर ही है। इस भावना के डर से वह तिलमिला उठता है। वह लोगों से प्रार्थना करता है कि वे उसे इस अपराध के लिए दण्ड दें, उसे फाँसी पर लटका दें; पर सब व्यर्थ, कोई उसकी बात नहीं सुनता। वह कहता है, "मैं मनोव्यथा से पीड़ित हाथ मलता लोगों के बीच घूमता और उन पर आँसू बहाता। पर तो भी शायद अतीत के शान्त, सुन्दर और दुःख से अम्लान चमकते उनके मुख से आज के रूप को ही अधिक प्यार करता था। उस कलुषित लोक के लिए पूर्व के स्वर्ग से अधिक प्यार के भाव थे, केवल इसलिए कि वहाँ पीड़ा और व्यथा का आविर्भाव हुआ था। उनकी पीड़ा और व्यथा मेरी आत्मा में कुछ इस तरह प्रवेश कर गयी कि ऐसा मालूम पड़ता था कि मेरा दिल बैठता जा रहा हो और मेरा प्राणान्त हो जायगा।" इस व्यक्ति के स्वर में स्वर मिलाकर एक आलोचक-दल कहेगा कि हमारा मन भले ही एक बार जमुना के तीर के निकुंजों की सुखद छाया और शीतल मन्द समीर के लिए मचल उठे; पर आज के पार्कों की चहल-पहल तथा एयर-कण्डीशण्ड (Air conditioned) अट्टालिकाओं का वातावरण हमारा मुबारक रहे, हम इसे छोड़ नहीं सकते।

'गोद' में हमारे सामाजिक जीवन की छोटी-सी कहानी है। शोभाराम का वाग्दान किशोरी के साथ हो चुका है; पर एक दिन वह मेले में अपनी माँ के साथ जाकर वहाँ की भीड़ में खो जाती है। एक दिन के बाद स्वयंसेवक उसे अपनी माँ के पास लौटा देते हैं। बस इसी एक बात को ले उस पर लोगों के द्वारा तरह-तरह के लांछन लगाये जाते हैं। सगाई टूट जाती है। शोभाराम के विवाह की बात पृथ्वीपुर के जमींदार की कन्या से तय हो जाती है। उधर एक वृद्ध गँजेड़ी-भँगेड़ी के चरणों पर किशोरी के वलिदान की तैयारी होती है। पर शोभाराम का निष्कपट तरुण हृदय किशोरी की दयनीय दशा पर पिघल जाता है और अपने परिवार के लोगों की इच्छा के विरुद्ध उससे विवाह कर लेता है। परिवार के लोगों को इस मिथ्या धारणा (Fait accompli) के सामने झुकना पड़ता है।

'अंतिम आकांक्षा' भी आत्मकथा के रूप में लिखा एक छोटा-सा उपन्यास है। इसका नायक रामलाल नामक एक भृत्य है। वह अपने स्वामी की सेवा में अपने प्राणों को भी संकट में डालने से नहीं हिचकता। पर इसके लिए न जाने कितने अपमानों की यंत्रणा उसे सहनी पड़ती है। उसके स्वामी के घर पर जब डाकुओं का आक्रमण होता है तब वह तत्परता से अपने स्वामी की रक्षा करता है। बन्दूक से एक डाकू की हत्या हो जाती है, जिसके गले में यज्ञोपवीत के सूत्र थे। बस इसी एक 'अपराध' के बहाने हरिनाथ के यहाँ आयी हुई बारात तक तब भोजन के लिए आने को तैयार नहीं होती जब तक वह हटा नहीं दिया जाता। रामलाल यह सुनकर मालिक की प्रतिष्ठा पर आँच नहीं आने देने का विचार कर स्वयं हट जाता है। जाने के समय 'मुन्नी' के हाथ में दो रुपये रखकर जब वह विदा लेता है, वह दृश्य इतना कारुणिक हो जाता है कि भवभूति के शब्दों में यही कहना पड़ता है कि

अपि ग्रावा रोदति दलति वज्रस्य हृदयम्।

अन्त में अत्यन्त दारुण परिस्थितियों के बीच जिसके लिए समाज उत्तरदायी है, रामलाल को जेल के अन्दर निमोनिया का शिकार होकर दम तोड़ना पड़ता है। उसके चलते उपन्यास की ट्रेजडी घनीभूत हो जाती है और कथा वास्तविक अर्थ में ट्रेजडी हो उठती है।

तीसरा उपन्यास 'नारी' है। इसमें भी जमुना नामक स्त्री की कथा वर्णित है। उसका पति वृन्दावन परदेश चला जाता है। एक लम्बी अवधि तक लौट कर नहीं आता। अतः अनुमान यही होता है कि उसकी मृत्यु हो गयी, पर यह ग़लत निकलता है। वृन्दावन की अनुपस्थिति में अजीत नामक एक व्यक्ति

बड़ी सहृदयता से संकट के अवसरों पर उसको सहायता देता है और जमुना उसकी कृतज्ञताओं से अभिभूत हो उसके साथ घर बसाने को उद्यत भी हो जाती है। पर यह बात होने नहीं पाती। इधर मोतीलाल नामक एक महाजन जिसका क़र्ज़ वृन्दावन पर है जाल-फरेब रचकर जमुना को उसकी थोड़ी सम्पत्ति से बेदख़ल कर देता है। अब वह असहाय नारी अकेले ही विपत्ति-पथ पर चल निकलती है।

यही गुप्तजी के तीनों उपन्यासों की रूप-रेखा है। जो लोग उपन्यास में पेचीदगी और जटिलता की माँग करते हैं और चाहते हैं कि कथाकार किसी समस्या को गहराई में ले जाकर उसे अधिक-से-अधिक खोलकर दिखलाये तथा पात्रों के मनोविज्ञान की चीरफाड़ कर, उधेड़कर हमारे सामने रख दे उन्हें निराश होना पड़ेगा। गुप्तजी उन उपन्यासकारों में नहीं हैं जिन्हें हृदय के घावों के खुरंट उखाड़ लाली दिखाने में मज़ा आता है। वे मानो इस बात से डरते हैं कि घाव को खुला छोड़ने से डर है कि उन्हें हवा लग जाय और हवा में तैरते हुए कीटाणु उनमें प्रवेश कर कहीं उन्हें और भी विषाक्त न बना दें। घावों का मवाद हल्के से अवश्य चाहे निकाल दो पर उनके साथ हिंसात्मक सर्जरी करने से अन्त में हानि की सम्भावना है। कथा के विषय और प्रतिपादन के ढंग में गुप्तजी मुझे निरालाजी की कहानियों के समीप अधिक लगे। निरालाजी की कहानियों के पढ़ने से, मसलन् 'सुकुल की बीवी' मालूम होता है कि कनौजिये ब्राह्मणों में जो सामाजिक बुराइयाँ हैं, जो प्रथाएँ प्रचलित हैं, जो उनका रीति-रसम है, जो उनका व्यवहार है, उन सबको उन्होंने ज्यों-का-त्यों काग़ज़ पर उतार दिया है। अपनी ओर से बिना कुछ मिलाये उन कथाओं को जिन्हें उन्होंने समीप से देखा है, उन्हें ही लिपि-बद्ध कर दिया है। सच पूछिये तो यही इन दोनों कथाकारों में खटकने वाली बात भी दिखाई पड़ती है। कथा में हम प्रकृत वस्तु का दर्शन नहीं करते और न करना चाहते हैं। कथा एक कला-वस्तु है जिसका पुनर्निर्माण औपन्यासिक के मस्तिष्क में होता है। मस्तिष्क के माध्यम से छनकर आने के कारण उसके रूप में एक संशोधन सा आ जाता है ठीक उसी तरह जिस तरह लकड़ी को पानी में डालकर देखें तो वह कुछ झुकी-सी दिखाई पड़ती है। कथा में एक तरह का बाँकपन, पेचीदगी और जटिलता होनी ही चाहिए—किसी तरह की हो, शैली की, कथोपकथन की, विषय-निर्वाचन की, वर्णन की, वस्तु-सौष्ठव की। नहीं तो वह एक बहुत बड़ी अपील से वंचित रह जायगी। बाणभट्ट ने कथा की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है कि :

कथाकलालाप विलास कोमला
करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम्
रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता
कथा जनस्याभिनवा वधूरिव।

अर्थात् कथा नयी दुलहिन की तरह है, जो स्वयं रसार्द्र हो अपने पति की सेज पर आकर अपनी मीठी-मीठी बातों से उसके हृदय को प्रेम और कौतूहल से भर देती है। हाँ, यह ठीक है; पर यदि वह उसके हृदय में रस का दरिया बहा रही है, तो वह यों ही थोड़े आयेगी। आयेगी तो समा बाँधती हुई, उसकी चाल में एक मस्तानी अदा होगी, उसके पैरों में एक रुनझुन होगी जो

मानहु मदन दुन्दुभी दीन्ही। मनसा विश्व-विजय कँह कीन्ही।

गुप्तजी के कथा-सौष्ठव पर विचार कीजिए। विचार करने का यह अर्थ नहीं कि उनकी कथा की त्रुटियाँ निकाली जायँ और यह बताया जाय कि अमुक-अमुक बातें उनकी कथा में क्यों समाविष्ट नहीं की गयी हैं। उदाहरणार्थ, उसमें चेतना-प्रवाह (Stream of Consciousness) वाली टेकनीक, कथा-वस्तु के निरन्तर विकास वाली टेकनीक (Orderly Unfolding of Plot) के प्रति उदासीन रहने वाली नयी पद्धति, हमारी सामाजिक मान्यताओं पर चुटीली चोटें देकर झकझोर देने वाली और हमारे मस्तिष्क के सारे पुराने संस्कारों को झाड़ देने वाली पद्धति, पाठकों के साथ बिल्ली जिस तरह चूहे के साथ खेलती है उस तरह खेलने वाली पद्धति—या इस तरह की अनेक प्रयोगशील पद्धतियों का उपयोग क्यों नहीं किया गया है। इन बातों को ज़रा और भी स्पष्ट करने के लिए 'पहाड़ी' तथा 'अश्क' के उपन्यासों से कुछ सहायता लूँ। आधुनिकता के रंग में रँगे आजकल के अधिकांश कथाकार अपने उपन्यासों के लिए जिस एक पद्धति को अपना लेते हैं उसे धड़ल्ले से प्रयोग करते हैं। वास्तव में यह सिनेमा से लिया गया है। सलीम, नूरजहाँ के प्रणय के आरम्भिक दिनों में उसके साथ उल्लास और महोत्सव का जीवन व्यतीत करता है। पर आगे चलकर जब नशे के उतार में सलीम में थोड़ी-सी विरक्ति आ जाती है तो नूरजहाँ के मानस-पटल पर वे पुराने दिन और उनकी रंगरेलियाँ बारी-बारी से आने लगती हैं और वे ही पुराने फिल्म दिखलाये जाते हैं। इसमें अलग शूटिंग (Shooting) के परिश्रम से जान बच जाती है, दर्शकों के मनोरंजन में भी कमी नहीं होती है और व्यर्थ के खर्च से भी रक्षा होती है। इस पद्धति का कथाकारों ने अन्धाधुन्ध प्रयोग करना प्रारम्भ किया है।

'पहाड़ी' का एक उपन्यास है 'सराय'। रेखा उसकी एक पात्री है। मिस्टर सिंह के साथ पाँच-छः महीने उसके बड़े उल्लास से व्यतीत हुए हैं। मिस्टर सिंह की बदली हो गयी है। वे कल चले जायेंगे। उनके अथवा यों कहिये कि दोनों के हृदय में भीतर-भीतर नर्म आँच पर ज्वालामुखी सुलगता रहता है। वह आज धधक उठना चाहता है कि लता आ जाती है। मिस्टर सिंह चले जाते हैं। लता भी कुछ देर बाद चली जाती है। रेखा बिना कपड़े उतारे ही पलंग पर लेटकर फफक-फफककर रोने लगती है। साथ ही उसका मन बचपन से लेकर आज तक के इतिहास की पुनरावृत्ति कर जाता है। इस इतिहास-पुनरावृत्ति का वर्णन ग्यारह पन्नों में किया जाता है। 'अश्कजी' के उपन्यास 'सितारों के खेल' में लता नामक पात्री के दो प्रेमी हैं। एक को सफल कहिये, दूसरे को असफल या निराश। लता अपने सफल प्रेमी जगत के साथ किश्ती में दरिया की सैर कर रही थी। बीच में अपने निराश प्रेमी बंसीलाल के गीत की मधुर ध्वनि उसके कानों में पड़ती है :

"लहरों पर बहे जाओ।
तुम दर्द मेरा जानो,
जो दर्द कहीं पाओ।"

इस करुणापूर्ण गीत के श्रवण मात्र से, उसके प्रेम का अंजाम भी दर्द भरा न हो—इस भविष्य की कल्पना से वह काँप उठती है। साथ ही वह अपने भूत जीवन के कुछ सुनहले पन्नों को उलटने लगती है, जिससे उसका इतिहास चमकता-सा दिखाई पड़ता है। मैं कहना यह चाहता हूँ कि इस तरह की कोई जटिलता गुप्तजी के उपन्यासों में नहीं है। मालूम होता है कि कथा का स्रोत अपने उद्‌गम-स्थल में निकलकर सीधे अपने गंतव्य स्थान पर ही समाप्त होता है अथवा जहाँ पर समाप्त होता है वही उसका गंतव्य स्थान है। उनकी कथा तीर की तरह चलती है, उसे मुड़कर देखने की फ़ुरसत नहीं, उसे अपनी गति के लिए जो शक्ति मिल गयी है उसे ही लेकर निकल पड़ती है।

दूसरे तरह की कथा होती है, जिसकी गति सर्प की तरह होती है (zigzag) टेढ़ी-मेढ़ी। साँप कुछ आगे बढ़ता है फिर कुछ पीछे फिसल जाता है। इसी फिसलन में वह गति संचित कर आगे बढ़ जाता है। गुप्तजी की कथा सर्प-गति से नहीं चलती; गज की गति से चलती है। यदि कविवर पंत के कुछ शब्द उधार लें तो कहें कि 'गज-गति सर्प डगर पर'। गुप्तजी के उपन्यासों की कथा की धारा प्रचण्ड वेग से गति में भयंकर उन्माद लिये भले ही न

चलती हो, पर उसकी यात्रा में कहीं भी ठहराव नहीं, कहीं भी थकावट नहीं। ऐसा कहीं भी नहीं दीख पड़ता कि :

बैठि रहो अति सघन बन,
पैठि सदन तन माँह।
निरखि दुपहरी जेठ की,
छाहौं चाहति छाँह॥

जेठ की एक चिलचिलाती दुपहरी होती है, जिसमें छाया भी छाँह में विश्राम करती-सी जान पड़ती है। आजकल के दूसरे प्रकार के उपन्यासों के कथा-भाग में उस तरह के विश्राम कर लेने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। कारण कि उन उपन्यासों में छोटी-मोटी, दुबली-पतली नाज़ुक बदन कथाओं पर अधिक भार डाल दिया जाता है, उनसे अधिक काम लेने की प्रवृत्ति लोगों में होने लगी है, उन्हें उनकी इच्छा के विरुद्ध भी गंतव्य-अगंतव्य सब स्थानों में 'पेर' दिया जाता है, दूसरे शब्दों में उनका Exploitation किया जाता है। अतः कथा बेचारी में थककर लेखक रूपी सूर्य की प्रतिभा-किरण के द्वारा उत्पन्न भीषण गर्मी में विश्राम करने की इच्छा होती है। यदि यात्री दुर्बल हो और उसके सिर पर भारी बोझा हो तो उसे जब-तब राह में ठहरकर विश्राम करना आवश्यक होगा ही। पर यदि वह स्वस्थ हो और थोड़ा-सा ही सामान उसके साथ हो तो उसे विश्राम करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। हाँ, यदि कुछ थोड़ी-सी आवश्यकता हुई तो उसे झट पूरी कर आगे अपने लक्ष्य पर बढ़ चलेगा। गुप्तजी की कथा की तुलना ऐसे ही यात्री से हो सकती है। यात्री भी स्वस्थ है, भले ही पहलवान न हो, उस पर बोझ भी अधिक नहीं और वह आगे बढ़ता ही जा रहा है। ठहरता भी है तो ऐसा ही मालूम होता है कि क्या करे बेचारा, प्राकृतिक आवश्यकताओं की अवहेलना तो नहीं की जा सकती है न। वह ठहरना नहीं है; वह भी चलने का ही अंश है। 'गोद' में शोभाराम अपने पिता वग़ैरह की इच्छा के विरुद्ध जाकर किशोरी से विवाह कर लेता है। वहाँ थोड़ी कहानी ठहरती-सी अवश्य है; पर रामचन्द्र मुखिया के द्वारा कथा-सूत्र जुड़कर चल निकलता है। मानो घुड़सवार घोड़े की पीठ से गिरते देर नहीं कि झट पीठ की धूल झाड़कर बढ़ चला। उसी तरह 'अन्तिम आकांक्षा' में रामलाल के चले जाने के बाद होता है; पर कहानी झट आगे बढ़ जाती है।

हाँ, 'नारी' में कथा में थोड़ी पेचीदगी अवश्य है। सूत्र में एक-आध गाँठ अवश्य मालूम पड़ती है। कारण यह है कि यहाँ नारी-जीवन की समस्या को

लेखक ने स्पर्श किया है और आज के पाठक को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि नारी-जीवन तथा नारी-मनोविज्ञान में फ्रायड ने जाने कितने सम्भव और असम्भव करिश्मों का समावेश कर दिया है कि सुनकर दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। उसमें बाल-मनोविज्ञान की बातें भी आ गयी हैं। हल्ली की कुछ हरकतें तो रोम्या रोलाँ के 'ज्याँ क्रिस्ताफ़' की तरह मालूम पड़ती हैं। हल्ली है तो छोटा ही, पर उसे अजीत की उसकी माँ के साथ बढ़ती घनिष्ठता अच्छी नहीं लगती। उसमें कहीं-कहीं पाठकों को झकझोरने का भी प्रयत्न है, जिसे देखकर पाठक के मुख से बरबस यह निकल जाता है—"दुनिया वालो आकर मेरी क़िस्मत की ख़ूबी देखो। रह-रह जाती है बस मुझको मिलते-मिलते मधुशाला।" पाठक कहता है काश डाकिया ने पत्र हीरालाल को न देकर जमुनाबाई को दिया होता। काश जमुना के पति के साथ भाटे की मुलाक़ात नहीं होती। और ये घटनाएँ होते-होते नहीं होतीं। इसी को कहते हैं 'Many a slip between cup and the lip.' असल बात यह है कि 'नारी' उपन्यास के साथ गुप्तजी आधुनिक कथा-क्षेत्र की झाँकी लेना चाहते हैं। ठीक उसी तरह जिस तरह मैथिलीशरणगुप्तजी अपनी मुख्य द्विवेदी-युगीन प्रवृत्ति को छोड़कर छायावादी क्षेत्र में भी कभी-कभी विचरण कर आते हैं। परन्तु न तो हम मैथिलीशरणजी के छायावादी रूप को ही पहचानते हैं और न सियारामशरणजी को मनोविज्ञान की तहों को चीर-फाड़कर रखने वाले कथाकार के रूप में। शायद यह सम्भव भी नहीं। गुप्तजी का आस्तिक भाव-प्रवण हृदय, जीवन को समष्टि रूप में देखने वाला दृष्टिकोण, थोड़े ही में सब कुछ पा जाने वाली वैष्णवी प्रवृत्ति सदा उन्हें चक्करदार गलियों में भटकने देने से रोकेगी।

गुप्तजी के उपन्यासों का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश है उनका कलात्मक ढंग से अन्त। कथा इस ढंग से और इस उचित मौक़े पर समाप्त होती है मानो उपन्यास के सारे छिद्रों को, उनकी त्रुटियों को अपने महत्त्व से छा देती है और इस तरह छा देती है कि उनका पृथक् अस्तित्व रह ही नहीं जाता। किसी औपन्यासिक का कहना यह था कि यदि किसी पाठक को विषादान्त कथा से रुचि नहीं हो तो वह उसकी पुस्तक के अन्तिम पाँच-छः पन्ने फाड़ दे, उसे प्रासादान्त कथा का आनन्द आ जायेगा। पर गुप्तजी के साथ इस तरह की छेड़-छाड़ नहीं चल सकती। अन्तिम पन्ने गुप्तजी की कथा की जान हैं—आत्मा हैं। कलात्मकता का सारतत्त्व वहाँ आकर केन्द्रित हो गया है। वह जितना समीप है उतना ही तुनुक भी। ज़रा-सा छू भर दिया कि दीपक की

लौ फुक हो गयी। हृदय मानव-शरीर का कितना सजीव अंग है। वहीं से सारे शरीर में जीवन की गति प्रसारित होती है पर जहाँ उसकी धुकधुकी से ज़रा भी छेड़-छाड़ हुई कि शरीर में और शव में कोई अन्तर नहीं। उर्दू के शायरों में यह प्रथा है कि किसी नज़्म की अन्तिम पंक्ति में अपने 'तख़ल्लुस' का प्रयोग करते हैं। इसे मकता कहते हैं। इसी मकते में उनकी सारी कला निहित रहती है। दाग़ के मकते की ये पंक्तियाँ कितनी सजीव हैं :

कोई नामो निशाँ पूछे तो ऐ क़ासिद बता देना,
तख़ल्लुस दाग़ है हम आशिकों के दिल में रहते हैं।

सवैयों के पाठकों को मालूम होगा कि उनकी सजीवता अन्तिम पंक्ति पर किस तरह निर्भर रही है। जो कला मकते में, सवैयों के संगठन में दिखलाई पड़ती है, उसी के दर्शन गुप्तजी के तीनों उपन्यासों में होते हैं। मैं पाठकों से एक बात कहूँ। आज एक काम कीजिए। 'गोद' में से यह वाक्य निकाल लीजिये, "उनकी गोद तो बहू ने आकर भर दी, मेरी खाली थी सो तू भर दे।" 'अन्तिम आकांक्षा' से "भैया, भगवान् से मेरी प्रार्थना है कि अपने ही गाँव में मैं झट से फिर जन्म लूँ, दूसरे जन्म में झट से फिर तुम्हारे चरणों में पहुँचूँ······तो क्या इसीलिए अन्तिम समय उसने मेरे निकट अपनी वह आकांक्षा प्रकट की थी।" 'नारी' से यह वाक्य, "वह निरन्तर नारी पग-पग के अन्धकार में, उसे तुच्छ करके चिरकाल से इसी तरह आगे बढ़ी जा रही है, दुःख और विपत्ति के इस अँधियारे पथ को इसी तरह पद-दलित करके; उसे कोई भय नहीं है, कोई चिन्ता नहीं।" और तब दोनों उपन्यासों को पढ़कर देखिए। मैं ज़रा हल्के मूड में होऊँ तो यह कहूँ कि गुप्तजी के उपन्यास—ये वाक्य = ०।

गुप्तजी के उपन्यासों में नाटकीय दृश्यों (Dramatic Scenes) का सर्वथा अभाव है। नाटकीय दृश्य का मतलब यह है कि ऐसे दृश्य जहाँ पात्रों की क्रियाशीलता घनीभूत रूप में मिले, जहाँ पात्रों को अपने जीवन-व्यापार में क्रियात्मक रूप में संलग्न हम लेखक की आँखों से नहीं, बल्कि अपनी आँखों से देखें। हम ही नहीं परन्तु साथ दुनिया के और लोग भी देखें और समान भावों से प्रवाहित हों। ऐसे उपन्यासों के पढ़ने से नाटक के अभिनय देखने का भी आनन्द आ जाता है। 'गोद' की एक घटना की ओर मैं पाठकों का ध्यान आकर्षित करूँ। शोभाराम की शादी की घटना के अवसर पर इस तरह का संघर्ष-चित्रण करने की गुंजाइश थी। कल्पना कीजिए कि वेहटा के प्रौढ़ावस्था वाले वर महोदय जिनसे पार्वती के विवाह की बात

तय हो चुकी थी विवाह-मण्डप में उपस्थित हो विवाह-वेदिका पर आसीन होते, उसी समय नवयुवकों का—समाज-सुधारकों का एक दल शोभाराम को लेकर उपस्थित होता। दोनों दलों में थोड़ी चहल-पहल होती, धर्म और समाज-सुधार की दुहाइयाँ दी जातीं। इसी बीच पार्वती धीरे से उठकर शोभाराम के गले में वरमाला डालकर सारे झगड़ों का अन्त नाटकीय ढंग से कर देती तो कथा में कितनी सरगर्मी और स्फूर्ति आ जाती। माना कि घटना का प्रवाह मुड़ जाता, उसमें कुछ क्षिप्रता या वक्रता आ जाती और कथा उस तरह नहीं विकसित होती जिस तरह 'गोद' में विकसित हुई है। पर उपन्यास तो हम पढ़ते ही हैं अपने जीवन में थोड़ी हलचल लाने के लिए, शिथिल तरंगों को जगाने के लिए, तथा दैनिक जीवन से मिलती-जुलती फिर भी अपनी चारों ओर अधिक सजीवता के वातावरण को लिये चलने वाली घटना को देखकर जीवन की आढ्यता (abundance of life) की झाँकी लाने के लिए। अन्यथा नित्य-प्रति आँखों के सामने बहते रहने वाले जीवन-प्रवाह को छोड़कर हमारा मन उपन्यास या साहित्य पढ़ने के लिए लालायित क्यों रहता? कहा है :

दर्दे दिल के वास्ते पैदा किया इन्सान को
वरना तायत के लिए कुछ कम न थीं तरबोरियाँ।

पर इन बातों को लेकर हम गुप्तजी की कथा-कला को त्रुटिपूर्ण या सदोष नहीं कहेंगे। किसी साहित्यिक कृति की बाहरी आकृति उदाहरणार्थ 'उपन्यास की कथा' को मूल लेखक के हृदयस्थ जीवन-दर्शन से प्रेरणा प्राप्त होती है। वहीं से वह अपनी रूप-योजना के लिए रस प्राप्त करती है और यह प्रत्येक व्यक्ति के अनुभव की बात है। जिस मिट्टी पर अंकुर उगता है उसी के अनुसार उसके रूप और गुण में अन्तर होता है। अंकुर की सार्थकता और सफलता इसी में है कि वह बीज और मिट्टी के प्रति वफ़ादार रहे, ईमानदार रहे। जिस अनुपात में वह इन दोनों से अलग होता है—यह प्रश्न नहीं कि ऊपर या नीचे—उसी अनुपात में वह असफल है। इस सिद्धान्त से तो मतभेद हो सकता है कि लेखक के जीवन की राह से उसके साहित्य पर विचार करना समीचीन है या नहीं, उसके जीवन की घटनाओं का मिलान उसके साहित्य में बैठाना ठीक है या नहीं; पर इससे मतभेद कम है कि साहित्य की राह से हम लेखक के जीवन की झाँकी ले सकते हैं, उसके साहित्य में उसके जीवन का प्रतिबिम्ब पड़ता ही है। गुप्तजी का हृदय शुद्ध वैष्णव-तत्त्वों को लेकर बना है, वे सगुण रामभक्त वैष्णवों की परम्परा में आते हैं। वे तुलसी की तरह सबसे 'धाय'

कर मिलना चाहते हैं; क्योंकि "ना जाने केहि रूप में नारायण मिल जायँ।" वे नहीं चाहते कि लोग उनसे मिलने के लिए धावें। इसीलिए आप देखेंगे कि उनकी कथा में प्रवृत्ति है कि वह लोगों को किसी आकर्षण में बाँधकर अपने चारों ओर चक्कर काटते रहने देने का उपक्रम नहीं करती। वह स्वयं ही, हाँ अपनी शक्ति और परिधि के अनुसार, लोगों के पास दौड़कर पहुँच जाती है। तुलसी का "श्रुति सम्मत हरि भगति-पथ, संयुत विरति विवेक" था। वे समाज-सुधार अवश्य चाहते थे और उनसे बढ़कर किसने समाज की रक्षा की। पर वे परम्परा को तोड़कर अन्धकार में कूदना नहीं चाहते थे, वे वर्तमान जीवन-प्रवाह को अतीत परम्परा के मेल में बहते रहने देखना चाहते थे। वही काम गुप्तजी अपने उपन्यास के द्वारा करते हैं। उनके उपन्यासों में गुरु-गम्भीर पाण्डित्य की प्रखरता नहीं है, कूटनीतिज्ञ की चालबाज़ी भी नहीं, जो मौक़ा पा विपक्षी पर गोलाबारी आरम्भ कर देता है। शायद वे निस्सहाय भी हैं; फिर भी अपने कर्तव्य से पीछे नहीं रह सकते, केवल राम का बल है, उसी के सहारे जो कुछ प्राप्त है, प्राप्त हो जाएगा। वे विपत्तियों को विपत्ति नहीं समझते। वे विपत्तियों का उपचार सम्पत्ति में नहीं समझते। वे विपत्तियों को विपत्ति से दूर करना चाहते हैं। इसी से आप देखेंगे कि उनके उपन्यासों में पात्रों पर जब कोई विपत्ति आ पड़ती है तो उनके दर्द को रोकने के लिए कोई सुख-दायक घटना की योजना नहीं की जाती। वहाँ उससे भी एक अधिक दुःख-दायक विपत्ति की योजना की जाती है, जिसके सामने पहली विपत्ति भूल जाय। जमुना चातक की तरह जिस पति की आशा लगाये बैठी थी वह आकर चला जाता है। जब उसे पता चलता है, वह दुःख के समुद्र में डूब जाती है। इधर इस दुःख में डूबी ही थी कि हल्ली बीमार पड़ जाता है और उसके उप-चार में संलग्न होकर वह दीन-दुनिया सबको भूल जाती है। लेखक कहता है "विपत्ति के ऊपर ही विपत्ति आती है। उसमें भी कुछ अर्थ है। रेखा के सामने दूसरी रेखा खींचे बिना पहली हलकी नहीं पड़ती। जमुना की पहली दुःखरेखा छोटी हुई हो या न हुई हो, पर यह ठीक है उसका समस्त ध्यान दूसरी पर ही केन्द्रित हो गया था।" इसी तरह 'गोद' या 'अन्तिम आकांक्षा' में भी इसी तरह की घटनाएँ आती हैं और पात्रों के जीवन को थामे रहती हैं।

गुप्तजी भारतीय आर्य-सभ्यता के सच्चे प्रतिनिधि हैं। उनकी प्रत्येक पंक्ति में उनके सात्विक और भगवान की महिमा में अटूट विश्वास रखने वाले हृदय का प्रतिबिम्ब मिलता है। वे बाह्य आडम्बर में क़तई विश्वास नहीं करते। जमुना, पार्वती, सोना इत्यादि बंसी, शोभाराम, रामचन्द्र, भाटे, चाहे

कोई हो सबका हृदय पारदर्शी शीशे की तरह साफ़ है। यदि उनके हृदय में करुणा, दया और माया है तो वह साफ़ दिखलाई पड़ती है अथवा यदि क्रूरता या कायरता है तो भी साफ़ दीख पड़ती है। सच पूछिये तो आज के पाठक को यही बात खटकती भी है। वह चौंककर कहता है कि अरे जीवन इतना सुलझा हुआ है ? मनुष्य इतना सीधा-सादा है ! हम तो पाते हैं कि जीवन ऐसी जगह है जहाँ मानो सूत्रों का एक बृहत जाल आपस में मिलकर इस तरह उलझ गया हो जिसका ओर-छोर मिलना कठिन है। यही कारण है कि आप आज के कथाकार को एक बन्द कोठरी में रात्रि के अन्धकार में एक बड़े ही सशक्त हज़ारों कण्डिल पॉवर वाले बलब के नीचे बैठकर उस गाँठ को सुलझाते हुए पायेंगे। उनके उपन्यास में ब्लास्ट फ़रनेस का प्रकाश होगा, उसमें एक ही जगह पर उन्मत्तता से नाचने वाले बगूले का चक्कर होगा, उसमें चीर-फाड़ होगी, उसमें किसी वस्तु को पा लेने की तड़प होगी, आकाश और पाताल के कुलाबे को एक कर देने का भागीरथ प्रयत्न होगा। पर गुप्तजी की दुनिया ही दूसरी है। वहाँ कोई सूत्र उलझे नहीं हैं, नाभि में ही कस्तूरी है। बस धीरे, चुपके से पा लेने की आवश्यकता है, और उसके लिए तूल-तवील की कोई आवश्यकता नहीं है। पन्तजी के शब्दों में :

कँप-कँप हिलोर रह जाती
रे मिलता नहीं किनारा।
बुद्-बुद् विलीन हो चुपके,
पा जाता आशय सारा॥

गुप्तजी के उपन्यासों में ध्यान देने पर एक-आध और स्वर सुनाई पड़ जा सकते हैं; पर यही उनका सबसे प्रधान स्वर है, उनका 'व्यंग्य' है। अछूतोद्धार के प्रति उनकी सहानुभूति, अहिंसा के प्रति आस्था, समाज के उच्च वर्ग वालों का दम्भ, स्वदेश-प्रियता की भावना अवश्य हैं पर वे संचारियों की तरह उठ-उठ कर स्थायी को सहायता दे और पुष्ट कर विलीन हो जाती हैं। यदि हम इस दृष्टिकोण से विचार करें तो हम गुप्तजी के उपन्यासों के साथ न्याय कर सकेंगे। हम रात्रि के निविड़ अन्धकार पर बिजली के लट्टुओं द्वारा विजय प्राप्त करने का प्रयत्न भले ही करें; पर तारों और चन्द्रमा के स्निग्ध प्रकाश के महत्त्व को भूल नहीं सकते।

'नारी' उपन्यास में 'अवश्य' ऊपर कहा गया है, थोड़ी नयी रोशनी का रंग आता-सा दिखलाई पड़ता है। पर यहाँ पर भी गुप्तजी की वैष्णव-निष्ठा, हृदय की निर्मलता और भक्त की निरीहता उनका पीछा नहीं छोड़ती।

जमुना उस जाति की स्त्री है, जिसमें पति के जीवन-काल में भी उसके साथ निभ नहीं सकने के कारण दूसरा घर कर लेना वर्जित तथा निन्दनीय नहीं समझा जाता। फिर यहाँ तो जमुना के पति की वर्षों से कुछ ख़बर नहीं मिली थी। जो कुछ उसके सम्बन्ध में ख़बर मिलती थी उससे यही प्रमाणित होता था कि वह अब संसार में नहीं है। अजीत उसके साथ घर बसा लेने का प्रस्ताव करता है। पर वह अस्वीकार करती जाती है। पर जब वह देखती है कि अजीत उसके लिए कितना दुःख उठा रहा है, हल्ली को खोजने के लिए अपनी जान को जोखिम में डालने के लिए तैयार है तो वह आर्द्र हो जाती है और कहती है "तुमने एक बार घर बसाने को कहा था न। घर बसा लेना तुम्हें मंजूर हो तब जाओ।" पर किसी की परिस्थितियों से अनुचित लाभ उठाना, किसी को फेर में डालकर या उसके फेर में पड़ जाने की अवस्था में कोई ऐसा काम करना जिसमें स्वार्थ और अनौचित्य की गंध आती हो, गुप्तजी का अजीत नहीं कर सकता। यह घोर हिंसा है और गुप्तजी के हृदय की सत्य-अहिंसा की कुछ बूँदें तो अजीत पर पड़ी ही थीं। वह कहता है, "मैं भला आदमी नहीं हूँ पर इतना खोटा भी नहीं कि ऐसे में कोई बात पक्की करा लेना चाहूँ।" यह त्याग की पराकाष्ठा है। भले ही उसके दमामे न बजते हों। यह मानवता और मानव-जीवन की विजय है। दूसरी ओर 'अश्कजी' की 'गिरती दीवारें' के चेतन की ओर देखिये। जिन परिस्थितियों में एक निरीह और फूल-सी कन्या 'नीला' का बूढ़े विधुर तीन-तीन बच्चों के पिता के चरणों पर बलिदान किया जा रहा है उस समय चेतन को थोड़ी-सी तसल्ली ही होती है। कारण नीला के तन पर उसका अधिकार भले हो जाय पर मन 'जीजाजी' का ही रहेगा। पर जब वह मदन-शर-हस्त उसके भतीजे को देखता है तो उसका दिल बैठ जाता है कि हाय अब उसको ऐसे प्रतिस्पर्द्धी का सामना पड़ा जो उसे परास्त कर देगा। यहाँ तक कि अपनी पत्नी के गर्म गदराये शरीर से सटकर भी वह स्वच्छन्द यौन-सम्मेलन के सम्बन्ध में विचार कर रहा है। इन दोनों पात्रों के व्यक्तित्व में जो है वह दो विभिन्न सृजनशील मानसों की विभिन्नता है। एक शरद पूर्णिमा की निर्मल ज्योत्स्ना है जो भयानक-से-भयानक स्थल यहाँ तक कि श्मशान को भी छूकर स्निग्ध चमत्कार से पावन कर देती है, दूसरी प्रलय सूर्य की प्रचण्ड ज्वाला है जो सागर को भी भाप बनाकर उड़ा देती है, एक नतमस्तक विनयावनत भक्त है, दूसरा...उद्ग्रीव...क्रान्तिकारी।

ऊपर की बातों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सियारामशरणजी के कथा-साहित्य पर गांधीवाद के सत्य और अहिंसा का पूर्ण प्रभाव पड़ा है और

इस प्रभाव का दर्शन उसके आन्तरिक और बाह्य अर्थात् विषय-निर्वाचन तथा उसके बाह्य कलेवर दोनों में पाया जा सकता है। प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में भी सत्य और अहिंसा के प्रति इतनी गहरी आस्था नहीं दिखाई पड़ती। गांधीजी के नाम से भारत के राजनीतिक आन्दोलन और उसकी उग्रता कुछ इस तरह सम्बद्ध हो गयी है कि उन्हें इन हलचलों से अलग देखना कठिन हो जाता है; पर वास्तव में वे संतों की परम्परा में आते हैं। जीवन को सहज भाव से स्वीकार करने वाले—कहीं भी विरोध नहीं, कहीं भी निषेध नहीं, भारी-से-भारी विरोध को भी अपनी सहजता से हल देने वाले। यह सहज भाव उपन्यास में देखना हो और आप मुझसे कहें कि हिन्दी का कोई उपन्यास बतलाइये तो मैं सियारामशरणजी के उपन्यास की ओर संकेत करूँगा, प्रेमचन्द की ओर नहीं, जैनेन्द्र की ओर भी नहीं। यदि आप जोश-पसन्द हैं और जोश-अफ़ज़ाई के मज़े लेने के लिए, ज़िन्दगी के सुरूर का जाम पीने के लिए उपन्यास पढ़ने की ओर अग्रसर होते हैं तो आपको यहाँ निराशा होगी। और आपको यहाँ निराशा होगी तब जब आप अपने अहं को किसी पात्र के अहं पर चढ़ा कर विश्व पर छा जाना चाहते हैं। आप इसके लिए 'अज्ञेय' के पास जाइये। उनका शेखर आपको विश्व को समेट लेने में थोड़ी सहायता करेगा। यदि मानसिक गुत्थियों की ऊहापोह करने में आपको आनन्द आता हो अथवा आप मनुष्य को अर्थशास्त्र के हाथ की कठपुतली समझते हों और जीवन में रहस्यों अथवा विषमताओं को उस तरह सुलझाना चाहते हों जिस तरह ताले को निर्जीव कुंजी खोल देती है तो गुप्तजी आपके चित्त का समाधान नहीं कर सकते। इनके लिए इलाचन्द्र अथवा यशपाल अधिक कारगर हो सकते हैं। पर यदि आप राम का नाम लेकर 'एक भरोसे एक बल' के सहारे गणेश जी के मूषक की तरह सब देवताओं से भी लोक की घुड़दौड़ में बाज़ी मार लेना चाहते हैं तो मैं आपको गुप्तजी के उपन्यासों को पढ़ने के लिए आमंत्रित करता हूँ।

सियारामजी की ग्यारह कहानियाँ

[प्रभाकर माचवे]

काण्ट के अनुसार सौन्दर्य दो प्रकार का होता है : एक तो शुद्ध रूपात्मक सौन्दर्य जैसे कि सोना या सीप या मेहराब देखकर हमें प्रतीत होता है, दूसरा प्रातिनिधिक सौन्दर्य जिसमें किसी जीवित या अन्य वस्तु की प्रतिकृति हो। सियारामशरण गुप्त की कहानियाँ पढ़कर हमें प्रथम श्रेणी की सौन्दर्यानुभूति नहीं होती, परन्तु द्वितीय प्रकार की अनुभूति अवश्य होती है। चूँकि उनकी कला में एक स्पष्ट सोद्देश्यता लक्षित है—कभी-कभी वह अभिनिहित न रहकर बाहर उभर भी आती है—अतः उनकी कहानियों के उद्देश्य की चर्चा पहले करनी चाहिए।

खण्ड-काव्य—उनकी कहानियों का उद्देश्य स्पष्ट है कि केवल मनोरंजन अथवा भाव-निवेदन नहीं है जबकि कविता का माध्यम अधिक भाव-प्रधान होता है, उसमें भी 'मौर्य-विजय', 'आत्मोत्सर्ग' या 'नकुल' जैसे वस्तु-कथा वाले और 'अनाथ' जैसे काल्पनिक-सामाजिक खण्ड-काव्यों में सियारामजी ने अपनी उपदेशात्मक प्रवृत्ति को नहीं छिपाया है। गणेशशंकर विद्यार्थी के बलिदान पर लिखित और प्रथम बार 'सुधा' में मुद्रित यह लम्बी पद्य-कथा, किशोर पाठकों को (अपने अनुभव से मैं कहता हूँ) अवश्य रुला देगी। उसमें वे कहते हैं :

राम-खुदा के पाक नाम पर करके शैतानों के काम,
क्या शहीद हो सकते हैं हम उस मालिक के नमकहराम ?
ऐसे हिन्दू-मुसलमान से मैं 'मलेच्छ-क़ाफ़िर' ही ख़ूब;
मन्दिर-मसजिद से पहले है मुझ में ही मेरा महबूब !

[आत्मोत्सर्ग, ८३]

यही जाति-दल-वर्ण से परे की विशुद्ध मानवता का कल्याण उनका साध्य है, करुणा साधन ! 'अनाथ' में अछूत पर होने वाले अत्याचार, बेगार से बँधकर तपती धूप में उसका तड़पना स्पष्टतः सामाजिक विषमता की ओर संकेत करता है। परन्तु वे हिंसक समाज-क्रान्ति में विश्वास नहीं करते। वे अहिंसक हृदय-परिवर्तन में और इस प्रकार समाज की प्रत्येक बुराई के सुधार से समूचे समाज के सुधार में विश्वास करते हैं।

यही आदर्श अहिंसक पद्धति उन्होंने 'उन्मुक्त' नामक कथा-खण्ड-काव्य में तत्कालीन द्वितीय महायुद्ध से पीड़ित होकर निरूपित की है। गुजराती के कवि उमाशंकर ने भी युद्धकाल में रचित 'विश्व-शान्ति' नामक मुक्त काव्य में और मराठी के जोशी ने 'विश्वमानव' नामक कथा-काव्य में इसी प्रकार से गांधी-नीति-परक शान्ति का स्वप्न देखा है और उसे यथार्थ के संघर्ष का हल बताया है। 'उन्मुक्त' में एक विराट कल्पना है और आदर्श समाज रचना की ओर अंगुलि-निर्देश है।

महाभारत के कथानक पर आधारित 'नकुल' में भी सियारामजी ने यही समस्या रखी है। सन् ४७ में लखनऊ रेडियो से इसकी समीक्षा करते हुए मैंने स्पष्ट किया था कि इस काव्य में कैसे महाभारत के मूल कथानक से सियारामजी अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए कथा को ज़रा-सा चित्र रूप देते हैं।

चरित्र-चित्रण की सूक्ष्मता की दृष्टि से यह काव्य हिन्दी में अनूठा है।

कथा-काव्य—परन्तु खण्ड-काव्यों से भी अधिक चमत्कारपूर्ण हैं सियारामजी की 'मृण्मयी' और 'आर्द्रा' में प्रकाशित पद्य कथाएँ। जैसे 'मंजुघोष', 'खादी की चादर', 'एक फूल की चाह', 'डाकू', 'चोर', 'डॉक्टर' आदि। इन कथाओं में जहाँ कहीं-कहीं परम्परित लोक-कथाओं का अथवा वास्तविक घटनाओं का भी आधार है, वहाँ कल्पना द्वारा उन पर कलम लगाया गया है और उनकी भी तराशी खासी की गयी है। उदाहरणार्थ 'आर्द्रा' में 'चोर' नाम की कहानी हमारे आपके हरएक जीवन में घटित होती होगी परन्तु उसमें परितल की पुट कवि की अपनी है। वही संवेदना उसमें काव्यत्व भरती है। दयामयी नामक नयी विधवा नौकरानी पर सन्देह है कि वह चोर है। एक दिन घर का स्वामी (मैं) उमा को गिन्नियों की ढेरी देकर काम पर गया, शाम को आने पर पता चला कि एक गिन्नी कम है। सन्देह पुष्ट हुआ। दयामयी को निकाल दिया। बाद में धोबी के पास से जब कपड़े लौटे तब जाना गया कि एक गिन्नी ग़लती से जेब में ही रह गयी थी। मैंने पश्चात्ताप से दग्ध होकर दयामयी को लौटाने का प्रयत्न किया। परन्तु उसका पता न चल सका। उसी प्रकार 'डाक्टर' कहानी में डाक्टर की पत्नी कहीं आठ-दस कोस पड़ोस में उत्सव में गयी है। एक गँवार बेतवा की प्रखर धारा में बहता हुआ एक प्रेत देखकर उनके पास उसे देखने के लिए बुलाने दौड़ा आया, डाक्टर फीस पर ऐंठ गये। बाद में पता लगा वह मालकिन की ही लाश थी। जार्ज इलियट के 'मिल ऑव दि फ्लास' का सा भयद अन्त है। परन्तु इस प्रकार नियति-चमत्कार, मरण और ऐसी ही सम्भवनीयता का मसाला लेकर सियारामजी जीवन में मानवता की आस्था को ही गाढ़ा

बनाना चाहते हैं। जैसे 'डाकू' पद्य-कथा में वे कहते हैं उसी अदम्य जीवनाशा से जिससे रोदां ने 'बर्गर्लस ऑफ फ्रांस' बनाये होंगे :

उड़ाकर मेरे ऊपर कीच,
मुझ जो कहते फिरते नीच,
जरा देखें वे अपनी ओर,
सुधार्मिकता कह अपनी घोर,
हड़पकर औरों के घर-द्वार,
नहीं लेता जो कभी डकार,
निरस्त्रों हतभागों का खून,
पिलाता है जिसको क़ानून,
धान्य-धन तिजोरियों में डाल,
बद्ध रखता जो शान्ति-सुकाल। [आर्द्रा २४-२५]

कहानियाँ

सियारामजी की गद्य-कहानियाँ बहुत अधिक नहीं हैं। सब मिलाकर मुझे 'मानुषी' संग्रह की, और 'प्रतीक' द्वैमासिक के दूसरे, तीसरे और सातवें अंक में ३—ऐसी कुल ग्यारह कहानियाँ प्राप्त हुई हैं। 'त्याग' कहानी पर तिथि नहीं है। इस प्रकार 'कष्ट का प्रतिदान' संवत् १९८५ अर्थात् बाईस वर्ष पुरानी, और अन्य छह कहानियाँ बीस-इक्कीस बरस पुरानी हैं। 'प्रतीक' वाली तीन कहानियाँ : 'चुक्खू', 'प्रेत का पलायन' और 'रामलीला' दो-तीन वर्ष पुरानी। इस बीच में सियारामजी ने कविताएँ लिखीं, खण्ड-काव्य और 'बापू' जैसे दार्शनिक ओड भी लिखे, नारी जैसा हिन्दी का 'एकमेवाद्वितीयम्' उपन्यास लिखा; 'झूठ-सच' के बेजोड़ लघु निबन्ध भी लिखे; पर कहानी जैसे छूट गयी। क्या ही अच्छा होता यदि वे और कहानियाँ लिखते। इन ग्यारह कहानियों में विकास-क्रम देखना असम्भव है।

शैली—चिरगाँव में एक बार बातचीत के सिलसिले में सियारामजी ने मुझे बतलाया कि वे अपने कथानक पहले से योजना करके मन में या काग़ज़ पर नक़्शे की तरह खींचकर नहीं रखते। 'नारी' लिखते समय वे अगले अध्याय में क्या होगा इसका पहले से विचार नहीं करते थे। जैसे-जैसे सूझता गया लिखते गये। लेखन स्वयं अपनी दिशा बनाता चला। इस स्वाभाविक शैली के कारण उनकी कहानियों में बनाव-सँवार नहीं है। टेकनीक के प्रयोग वे नहीं करते। सीधे कहानी कह देना चाहते हैं। इससे उनके ढंग में एक रवानी है, एक हार्दिकता है। वही उसकी मनोवैज्ञानिक सफलता की कुंजी है।

मनोवैज्ञानिकता का एक नमूना पढ़िये। बैल की बिक्री करके शिव लौट रहा है और सोचता है :

बार बार उसे बैल की सूरत याद आती। उसके ध्यान में आता, मानो विदा होते समय बैल उदास हो गया था। उसकी आँखों में आँसू छलक आये थे! बैल का विचार दूर करता तो बाप का सूखा हुआ चेहरा सामने आ जाता। बैल और बाप मानो एक ही चित्र के दो रुख़ थे। लौट-फिरकर एक के बाद दूसरा उसके सामने आ जाता था। आह उसका बाप इस बैल को कितना प्यार करता था! उसे अनुभव होने लगा कि वह बैल उसका भाई ही था। एक ही पिता के वात्सल्य-रस से दोनों पुष्ट हुए थे।

[बैल की बिक्री, पृष्ठ ८४]

और इससे भिन्न प्रकार की शैली का एक नमूना है :

भवानी तुम्हारा यह आवेश भी बहुत सुन्दर जान पड़ता है। इसमें उत्ताप है, परन्तु निदाघ का नहीं, हेमन्त की अग्नि-शिखा का।

[मानुषी, पृष्ठ ४]

वे स्वयं पृष्ठ १२ पर 'मानुषी' में लिखते हैं :

हृदय को समझने के लिए हृदय की बात ही यथेष्ट होती है। वहाँ तर्क का प्रवेश निषेध है। इससे उनकी कहानियाँ कभी-कभी अतर्क्य हो उठी हैं।

भाषा—सियारामजी की भाषा में एक सहज, ऋजु, प्रसन्न प्रवाह है। वे शब्दों के लिए कहीं नहीं रुकते। इसी से प्रसाद की भाषा की तरह क्लिष्ट कृत्रिमता नहीं है और न ही 'उग्र' की तरह शोखी और चुलबुलाहट का प्रदर्शन। उनमें पर्याप्त 'विट्' है, चित्रमय शब्द-योजना है, प्रादेशिकता भी है। बुन्देली शब्द यथा 'उसारना' आदि का जहाँ प्रयोग मिलता है, वहीं कुछ मुहावरे भी हैं जैसे 'दोपहरी झरझरा रही थी', 'उठा धरी कर रही थी'।

[पृष्ठ ५]

और कुछ अनूठी उपमाएँ देखिए :

वह उस पहाड़ी भूमि जैसी थी, जो ऊपर से वज्र के समान कठोर होती है और थोड़े ही भीतर से मीठे पानी का झरना बहाती है। [पृष्ठ ५०]

काल के थोड़े-से आघात से ही, आँखों में अँधेरा भरकर यह (झोंपड़ी) किसी वृद्धा की तरह पृथ्वी पर बैठ जाने को सोच रही है। ऊपर की मिट्टी ने खिसककर स्थान-स्थान पर भित्तियाँ विषम कर दी हैं, मानो उसमें झुर्रियाँ पड़ गयी हों। [पृष्ठ ३]

जिस प्रकार धरधराहट के साथ चलती हुई रेलगाड़ी के यात्री की नींद

गाड़ी के रुकते ही उचट जाती है उसी तरह इस शान्ति में मेरे मन की शान्ति भंग हो रही थी। [पृष्ठ ९०]

चलती हुई पिचकारी के ऊपरी रंध्र को सहसा हथेली से दबा देने पर जिस तरह इधर-उधर की अनजान संधियों से जल जोर के साथ निकल पड़ता है, उसी तरह आज जरा-जरा-सी बात पर उनका आनन्द फूटा पड़ता था।

[पृष्ठ ३]

इस प्रकार उनमें का कवि उनके कहानीकार के पीछे से कभी-कभी झाँकता हुआ दिखाई देता है। परन्तु कवि कहानीकार पर कभी हावी नहीं होता। बल्कि कहानीकार ने ज़रूर उनके कवि को कई बार पछाड़ दिया है।

कथोपकथन

सियारामजी अपनी कहानियों में कहीं-कहीं कथोपकथन चिह्न ("—") नहीं लगाते फिर भी जहाँ-जहाँ संवाद का प्रयोग करते हैं, वह पर्याप्त नाट्यात्मक होता है। अन्यथा इतिवृत्त से ही काम चला लेते हैं जिनमें अप्रत्यक्ष कथन ही अधिक होता है, जैसे—

१. शंकर—प्रस्तर-प्रसूते, मैं कहता हूँ, भीतर बहुत कुछ है। तुम स्वयं देख लो न।

पार्वती—मैं प्रस्तर-प्रसूता हूँ, मेरी बुद्धि ही कितनी। [मानुषी, पृष्ठ ४]

२. उसका प्रश्न था—कवि-कर्म की सार्थकता मेरे मन में कहाँ है?

मैंने बताया—प्रेम में।

अपने प्रेम को स्पष्ट कीजिए, तभी समझ में आयेगा। क्या किसी लड़की को देखकर उसके पीछे चक्कर काटना, यह भी प्रेम है?

'मैं कोई कारण नहीं पाता कि इसे प्रेम न कहें।'

'तब मैं तुम्हारी असलियत समझ गया।' (प्रेत का पलायन, पृष्ठ ९२)

३. 'निकल जाओ यहाँ से!'

'मुझे निकालने वाले तुम कौन होते हो?'

'मैं—मैं राम हूँ!'

'ऐसे राम बहुत देखे हैं, कहो तो एक धक्के में सात गुलाँटे खिला दूँ!'

[रामलीला, पृष्ठ ४३]

४. बोली—कहाँ का रुपया, कैसा रुपया?

कल मुझे मजूरी मिली थी।

तो मुझसे क्या कहते हो? उस हरजाई से जाकर पूछो—जहाँ रात बिरमे थे।

···जाते समय कह गयी—अब कभी इस घर में पैर दूँ तो मरे मानस का मांस खाऊँ। [रुपये की समाप्ति, पृष्ठ ५१]

इन कथोपकथनों की चुस्ती पर विशेष टिप्पणी अनावश्यक है।

कथानक—अतर्क्यता की बात मैं ऊपर कह चुका हूँ। कथानक की पूर्व रचना के अभाव में कभी-कभी उनमें अनावश्यक विस्तार और बिखरन आ जाती है। और कहीं-कहीं अस्वाभाविकता भी। 'मानुषी' में 'काकी' और 'त्याग' जितने स्वाभाविक जान पड़ते हैं उतने 'कष्ट का प्रतिदान' या 'पथ में से' नहीं। वेश्या की गली में भूल से गया व्यक्ति सिर की टोपी गिर पड़ने से, यह टोपी माँ के हाथों कते सूत से बनी है इसी कल्पना मात्र से, परिताप-विदग्ध लौट आता है। यह उत्कट मातृप्रेम का नमूना चाहे हो, परन्तु स्वाभाविक घटना नहीं जान पड़ती। वैसे माता को दिये हुए वचनों ने गांधीजी को विलायत के लालघर के आकर्षणों से अछूता रखा अवश्य था। परन्तु जब हम जनसाधारण की कहानी लिखते हैं, तब उस प्रत्येक मानव को गांधी मान लेना या उस हद तक पहुँचा देना कुशल कथाकारिता नहीं। उसी प्रकार से आचार्य केशव और उन्हें 'बाबा' कह जाने वाली 'राका' की प्रणय-कथा में दांते बिएत्रिस का सा भाव-निर्माण कर 'प्रेत का पर्यटन' भी बहुत खींचा-तानी से बने कथानक पर आश्रित कथा जान पड़ती है। 'कष्ट का प्रतिदान' में जो घटना है, वह स्वाभाविक होते हुए भी, कथा में पताका प्रसंग लाने में इतनी तीव्र और महत्त्वपूर्ण नहीं। यह दो-तीन कहानियाँ छोड़कर अन्य कथाओं में शिव पार्वती या चातक पुत्र का लाना कथानक में सौन्दर्य की ही अभिवृद्धि करता है। अतः कथा में स्वाभाविकता-अस्वाभाविकता वस्तु के चुनाव में उतनी नहीं जितनी कि उसके चमत्कारपूर्ण प्रयोग में निहित है। कल्पना वैसे सभी मिथ्या है, परन्तु कथाकार उसे सत्यप्राय बनाकर प्रस्तुत करता है, इसी में उसकी विशेषता है। वैसे प्रत्येक कथाकार एक मनगढ़न्त बात ही तो कहता है, परन्तु उसमें गढ़न्त जितनी कम जान पड़े, उतनी ही कथा सबके मन की हो जाती है। सियारामजी के अधिकांश कथानक सामाजिक परिपार्श्व में वैयक्तिक-अनुताप के कथानक ही हैं।

सामाजिक व्यंग—अपनी कहानियों में, वर्णनों में, उपमानों में वे मीठी चुटकियाँ वर्तमान समाज पर अवश्य लेते जाते हैं। उनका व्यंग विदारक नहीं होता, परन्तु अचूक और कुरेदने वाला अवश्य होता है।

'म्युनिसिपैलिटी की दरिद्र लालटेनें अपने ऊपर अन्धकार का 'ग्लोब' चढ़ाकर टिमटिमा रही थीं।' [पृष्ठ ६९]

या

'कठोर से कठोर मिल-मैनेजर मजदूरों से जितना काम लेता है, अपने शरीर से वह उससे भी अधिक परिश्रम लेती ।' (पृष्ठ १६)

या

''यात्रियों में देश की समस्याओं पर गम्भीर विचार हो रहे थे । न जाने कितने प्रस्ताव-उपप्रस्ताव उपस्थित किये जा चुके थे, कितने ही नेताओं पर पुष्पवृष्टि हो चुकी थी और कितनों ही की नेतागिरी की सनद जब्त । स्वराज्य-आन्दोलन के सम्बन्ध में बाद-विवाद का रूप उग्र हो उठा । स्वराज्य का विरोध जिस तेजी से हो रहा था, उसे देखकर रामनारायण को आनन्दित ही होना चाहिए था । देश के भीतर इतना ओज और उत्साह संचित है, फिर निराशा का कार्य क्या ? पर वे उस उत्साह और ओज को परास्त करने में जुटे थे ।' (पृष्ठ ३३)

या

'आपने तो इस लोक के नरेन्द्रों को भी मात कर दिया, जिनके सामने प्रजा 'त्राहि-त्राहि' करती रहती है, परन्तु उनके कानों का मधु-संगीत किंचिन्मात्र भी कुंठित नहीं होता । आज मालूम हो गया, इस लोक में इतना द्वन्द्व क्यों है ।' (पृष्ठ ४)

या

'रामदेव 'टाट' कहकर मेरे खद्दर की हँसी उड़ाता था । खद्दर मेरे लिए वह चटपटा भोजन हो गया था, जो अपनी तीक्ष्णता के कारण आँखों में आँसू लाता है, फिर भी जीभ से छोड़ा नहीं जाता । केवल खद्दर के कारण इधर-उधर की जो श्रद्धा प्राप्त थी, वह आसानी से नहीं छोड़ी जा सकती थी ।' (पृष्ठ ६८)

सुधारवाद—उनकी कहानियों में सबसे उभरकर ऊपर उठने वाला प्रधान स्वर है समाज-सुधार की लालसा । जैसे शिवजी कहते हैं—'ऊबना विरक्ति-जन्य है और उत्कण्ठा आनन्द-जन्य' (पृष्ठ १०)—उसी प्रकार से समाज की विरक्तियों पर सियारामजी खीझते-झल्लाते या रीझते-फिसलते नहीं । न वे उससे आँखें मूँद लेना चाहते हैं । वे उन्हें जानते हैं और सोचते हैं कि मानव का व्यक्तिगत सुधार भीतर से जब तक न होगा समाज-सुधार ऊपर से लादना व्यर्थ है । इसी बात से उनकी कहानियाँ आशावाद से पूर्ण हैं ।

मनुष्य की भलमनसाहत पर उनका विश्वास अटूट है :

'यह ठीक है पक्के रँग में रँगा हुआ काला कपड़ा सफेद नहीं हो सकता;

परन्तु यह भी बेठीक नहीं है कि पानी में धोने से, और कुछ नहीं तो, उसका मैल ज़रूर छूट सकता है।' (पृष्ठ ७०)

एक कहानी का अन्त है :

'उसी दिन अच्छे चौखटे में जड़कर महाबीरजी का चित्रपट वहाँ लटका दिया गया और अद्‌भुत आत्मा के कल्याण के लिए सेंदुर से चारों ओर महामंत्र 'श्रीराम श्रीराम सीताराम' लिख दिया गया।' (पृष्ठ ६६)

आत्मालोचन का यह क्षण :

'मनुष्य अपने विषय में जितना अज्ञान है उतना शायद अन्य किसी विषय में नहीं है।' (पृष्ठ ८४)

और यह निश्चय की दृढ़ता :

'कमज़ोरी के ऊपर से ही आक्रमण करना विजय की पहिली सीढ़ी है।' (पृष्ठ १८)

चातक चातक-पुत्रों से कहता है :

'हमारी प्यास के साथ करोड़ों की प्यास है, और तृप्ति के साथ करोड़ों की तृप्ति। तुझसे अकेले तृप्त होते कैसे बनेगा ?' (पृष्ठ १००)

बुद्धन कहता है—'जिस तरह चातक अपने प्राण देकर भी मेघ के सिवा किसी दूसरे का जल लेने का व्रत नहीं तोड़ता, उसी तरह तू भी ईमानदारी की टेक न छोड़ना···सदा ऐसी ही मति रखना।'

बाल-स्वभाव-चित्रण—स्वयं बाल-स्वभाव होने से सियारामजी के सबसे मधुर चरित्र हैं बालक। 'चुक्खू' स्वभाव चित्र में भी उसके बाल्य का, सहपाठी होने का स्मरण उन्हें विशेष रूप से हो आता है।

'मेरे लिए ऐसे लड़के का साथ अवांछित समझा जाता था। इसी से साँझ के समय जब एक दिन उसके साथ नदी की सैर को चल दिया तब मैंने घर में न तो किसी की अनुमति ली और न इसके लिए किसी को सूचित कर देना ही आवश्यक समझा। ऊबड़-खाबड़ रास्ते से नदी गाँव से डेढ़ कोस से कम दूर नहीं है। चुक्खू का कहना था—चलो अभी तो लौटते हैं। उसका अनुमान उसके स्कूल के हिसाब जैसा ही ग़लत निकला। बहुत देर अनुपस्थित रहने के कारण उस दिन मुझे कम नहीं पिटना पड़ा। दूसरे दिन अपना गाल, जो उस समय भी लाल रहा होगा, दिखाते हुए उससे मैंने कहा—तुम्हारे कारण ही कल मेरी ऐसी गति बनी ? उसने उत्तर दिया था—नदी के लिए मार-पीट भी न सह सके तो तुमसे बनेगा क्या ? नदी माता होती है !' (चूक्खू : प्रतीक २, पृष्ठ ६८)

इससे भी अधिक सजीव स्केच हैं काकी और रामलीला। बच्चे लड़ते हैं। फिर लड़ाई भूलकर सहज मित्र कैसे बन जाते हैं—'यह उतना ही स्वाभाविक था, जितना कुछ देर के लिए बादल में छिपकर सूर्य पुनः अपने ही ठिकाने पर चमकने लगे।' उस कहानी में राम, लक्ष्मण, रावण, हनुमान और सीता के बालचरित्र बहुत ही प्यारे बन पड़े हैं। इन बालकों से बड़ों को बहुत कुछ सीखने योग्य है। मराठी लघुकथा-लेखक य० गो० जोशी ने 'पुनर्भेंट' में ऐसे कुछ बालकों का चित्रण किया है, या फिर रवीन्द्र की कुछ कहानियों में जैसे 'एक था राजा—'।

प्रकृति-चित्रण—भावानुकूल और रसानुकूल शब्द-चित्रण सियारामजी की अपनी विशेषता है।

'रुपये की समाधि' कहानी में एक चित्र है—'सावन का महीना था, हवा में शीतलता आ गयी थी। जहाँ तक दृष्टि जाती थी हरियाली और जल ही जल था। आकाश में सुहावने बादल छाये हुए थे। कोकिल की 'कुहू-कुहू' और पपीहे की 'पी-पी' बार-बार कानों में अमृत चुवा रही थी। मैं आनन्द से भरा हुआ आगे बढ़ा चला जा रहा था···बरसात में तो सदा साँझ ही बनी रहती है। नदी बड़ी न थी। बरसात के कारण वह चढ़ आयी थी। धनियों की कृपा की तरह वह आठ पहर से अधिक चढ़ी न रहती थी।···नदी किलोलें करती हुई बही जा रही थी। पानी अपने-आप से ही टकराता हुआ, उलझता हुआ, जो मन में आता वह कहता हुआ जा रहा था। कभी इधर आघात करता, कभी उधर। मैंने देखा—पागल है तो यह। उसका यह पागलपन मुझे बहुत अच्छा मालूम हुआ!' (मानुषी : पृष्ठ ६३-६४)

और उनकी कहानी 'रामलीला' का यह एक ग्रामीण वर्णन पढ़िए :

'बाड़े के पीछे आज जहाँ पक्का घर खड़ा है वहाँ उस समय एक लम्बी खपरैल थी। उसमें ढोर-डंगर बँधते थे। खुले में चारे की ऊँची गंजी लगती थी और एक ओर वहीं कण्डे पाथे और सुखाये जाते थे।' (रामलीला : प्रतीक ७, पृष्ठ ४०)

वैसे आवश्यकता होने पर वे प्रकृति में भी मानव-भाव का आरोप करते हैं। यथा :

'नीम की स्निग्धता तथा सघनता ने चातक-पुत्रों को अपने निजी सहकार की याद दिला दी। विश्राम पाकर भी उसके जी में एक प्रकार की व्याकुलता उत्पन्न हो गयी। पकी निबोरी की तरह उस वेदना में भी कुछ माधुर्य था।' (कुटीर : मानुषी, पृष्ठ १००)

'और यह वह रात थी, जो पूर्ण कलाधर को पूरा का पूरा निगलकर भी प्रकाश के लिए राक्षसीक्षुधा रखती है।' (पृष्ठ ६६)

कथा और लघु निबन्ध के बीच—वस्तुतः 'रामलीला' आदि स्केच पढ़कर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इन्हें स्केच कहें या लघु निबन्ध या लघु कथा। 'झूठ-सच' नामक लेख-संग्रह में सियारामजी के ऐसे कई प्रयोग हैं। वस्तुतः 'झूठ-सच' स्वयमेव एक कहानी-सी ही है। आधुनिक कथा-साहित्य में यह समस्या इसलिए और भी कठिन है कि पंतजी के 'पाँच फूल' का पीताम्बर पानवाला अथवा महादेवी की 'अतीत के चल-चित्र' की बूढ़ी नौकरानी या 'स्मृति की रेखाएँ' का चीनी कपड़ा बेचने वाला या 'प्रसादजी' और विनोद-शंकर व्यास के ऐसे ही चरित्र-चित्र या स्केच—चाहे वे पेंसिल में बनाये हलके क्षण-चित्र हों, चाहे काली-सफ़ेद मोटी-मोटी रेखाओं में बनाये 'प्रोफाइल' या फिर निरे 'सिलहूट'; इन्हें कहानी कहाँ तक कहा जाय? जैनेन्द्र कुमार की 'एक टाइप', 'सकिया बुढ़िया', 'मास्टरजी' जैसी कहानियाँ रवीन्द्रनाथ के 'काबुली वाला' या 'सुधा' की भाँति ही एक स्पष्ट व्यक्ति-चित्र हमारे सामने उभारकर रख देती हैं। परन्तु उस व्यक्ति-चित्र या संस्मरण में जब तक कोई ऐसी सार्वजनीनता नहीं होती कि मानव-स्वभाव के किसी विशेष मर्म पर वह अँगुली रखे, तब तक उसमें कहानीपन की सम्भावना कम है। विशेष नैतिक उद्देश्य से चुने जाने वाले चरित्र इसी प्रकार से एक पोस्टर का काम करते हैं, पोर्ट्रेट का नहीं। परन्तु कहानी की कला न पोस्टर है न पोर्ट्रेट—वह तो एक पूरा 'कम्पोज़ीशन' है, एक 'पैनेल' है, जिसमें अनेक आकृतियाँ होती हैं; उनकी रचना किसी पूर्व-कल्पित संयोजना से होती है। उन दृष्टियों से ये सम्पूर्ण कहानियाँ नहीं; केवल कथा-खण्ड मात्र हैं।

कहानियों से प्राप्त होने वाला आनन्द—इसीलिए सियारामजी की कहानियाँ पढ़ते समय प्राप्त होने वाला आनन्द भी बहुत कुछ लघु निबन्ध को पढ़कर प्राप्त होने वाले आनन्द के समान होता है। वह विशुद्ध कलानन्द नहीं है। उसमें सात्त्विकता का आग्रह एक विशेष प्रकार के उदात्तीकरण का भी अनुबोध देता है। अतः रसज्ञ का कथा के साथ जो तादात्म्य होना चाहिए, उसका यहाँ अभाव है। रस की सहज-प्राप्ति—आत्म-विस्मृति-जन्य—यहाँ ईप्सित नहीं है। परन्तु जैसे काण्ट 'नैतिक इच्छा' से अपर दूसरी इच्छा को मानवी मानता ही नहीं था; उसी प्रकार से सियारामजी भी 'शिव' को ही 'सुन्दर' मानते हैं। शिलर जैसे सुन्दर मात्र को शिवत्व से आरोपित करता था; सियारामजी उससे उलटे शिवत्व को ही सुन्दर मानते हैं। गांधीवादी लेखकों की यही सबसे

बड़ी विशेषता है; वे शिव से भिन्न सुन्दरता की कल्पना ही नहीं कर सकते। अतः मानवात्मा के वे ही स्थल उन्हें प्रिय और कला-विषय जान पड़ते हैं जो आनन्द के साथ-साथ उन्नयन की भी अनुप्रेरणा दें। जो मोद ही नहीं, बोध भी दें। हर्ष के संग उत्कर्ष की भी नियोजना करें। अतः जैसे पेय एक तो स्वादार्थ होता है; एक स्वास्थ्यार्थ—गांधीवादी कहानी-लेखक स्वाद को गौण और स्वास्थ्य को प्रधानता देता है। अतः उसमें कभी-कभी पूर्व-परिचय के कारण नवीनता का अभाव भी मिल सकता है; तो कभी-कभी वस्तु-स्थिति पर एक विशेष प्रकार का आरोपण भी करना पड़ता है, जैसे केशव के गणिका-प्रेम के उज्ज्वल-पक्ष का 'प्रेत के पलायन' में।

कला और नीति—वैसे कला और नीति का द्वन्द्व चिरंतन है। जैसे सभी श्रेष्ठ कला नीत्युपरि (एँ-मॉरल) होती है, वैसे ही सभी नीत्युपदेश कलात्मक नहीं हो सकते। वस्तुतः आचार-धर्म से बँधी हुई नीति के सदसद् के मूल्य बहुत कुछ मनुष्य और समाज की बाह्य संघटना पर समाश्रित होते हैं। यह संघटना परिस्थिति-विशेष से परिवर्तनशील है। परन्तु कला इतनी क्षण-क्षण रूप-परिवर्तिनी नटिनी नहीं। कलानन्द नीत्युपदेश की हेतुमत्ता से अधिक स्थायी और टिकाऊ होता है। उसका उद्दिष्ट जितना गहरा होता है उतने ही उसके साधन भी सूक्ष्म और तल-स्पर्शी होते हैं। इसलिए नीति का महत्त्व उपयोगिता के मूल्यों से आँका जाता है; कला में उपयोगिता-अनुपयोगिता का मूल्य अपर्याप्त है। उदाहरणार्थ, सियारामजी की 'त्याग' कहानी ले लें। इसमें एक बालक भी बापू की आहार-हड़ताल की घटना से प्रभावित होकर अपनी दाखें मुन्नी को दे देता है। घटना छोटी-सी है, परन्तु इसमें निहित तत्त्व काफी दूर तक जाने वाला और गहरा है। कठोपनिषद् के दूसरे अध्याय में इसी बात को यों लिखा गया कि "इन्द्रिय और उनके अर्थों से मन श्रेष्ठ है। मन से बुद्धि या सत्त्व श्रेष्ठ है। सत्त्व से जगत् का बीजरूप महत् श्रेष्ठ है। महत् से अव्यक्त श्रेष्ठ है।" मूल सत्य यह है कि इन्द्रिय-भोग तो पशु में भी होते हैं। मनुष्य जहाँ इस प्राकृतिक प्रवृत्ति पर यम-नियम से या शम-संयम से विजय प्राप्त करता है, वहीं मनुष्य बनता है। 'त्याग' का बाल-नायक ज्वरग्रस्त जयदेव दृढ़ता से कहता है—'हाँ, मुन्नी को ही दे दो ! वह नासमझ है, मैं सब समझता हूँ।' यह समझ ही मनुष्य की अपनी निधि है। उसे खोकर मनुष्य में कला या नीति दोनों ही नहीं पनप सकते।

यही बात 'मानुषी' नामक कहानी की है। 'नारी' की नायिका जमुना की भाँति यहाँ श्यामा भी स्वामी-भक्ति के सामने रत्न-कांचनादि ऐहिक मोहों को

व्यर्थ समझती है । यही उच्चतर मूल्य हैं । मानवता इन्हीं से चलती है । ये ही ऐसी विभूतियाँ हैं जिन्हें भगवान् भी कुछ नहीं दे सकते । सियारामजी इसीलिए लिखते हैं 'मानुषी' में पृष्ठ १७ पर—'जो वैर है, विरोध है, कुत्सित है—उसका जीवन इतना भी नहीं, जितना मनुष्य की क्षणभंगुरता का । अमर वही है, जो प्रेम है, सत्य है, सुन्दर है । तभी मृत्यु की छाया में इनका जीवन पहले से भी अधिक उज्ज्वल हो उठता है ।' भारतीय नारीत्व की इस निर्लोभ, अनसूया, अव्यपदेश्य एकात्मप्रत्यय निष्ठा का इतना सुन्दर चित्रण अन्यत्र कम मिलता है ।

प्रेमचन्द की कुछ कहानियाँ पढ़ते समय हमें बरबस तालस्ताय का स्मरण हो आता है । जैनेन्द्र की 'साधु की हठ' ज़ाकिर हुसैन की 'अब्बूख़ाँ की बकरी' और सियारामजी की 'बैल की बिक्री' जैसी कहानियाँ पढ़कर वही तालस्ताय के निर्मल अन्तःकरण वाले चरित्रों, पापी के हृदय-परिवर्तन और अहिंसक मनो-संघर्ष वाली घटनाओं और सबसे ऊपर एक अडिग, अटूट आस्तिकपन की याद पुनः हो आती है । 'बैल की बिक्री' जब विशाल भारत में छपी थी, तभी से मैं उसे उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानी मानता हूँ । हिन्दी की वह एक प्रतिनिधि कहानी है ।

व्यक्तित्व और कला—गीता में 'ज्ञान' और 'विज्ञान' का अन्तर १८वें अध्याय में बताया गया है कि 'अविभक्तं विभक्तेषु तद् ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।' और 'यदा भूतपृथग्भावं एकस्थमनुपश्यति ।' अर्थात् जो अनेकता में एकता खोजे वह ज्ञान और जो एक में भी पृथकत्व जाने वह विज्ञान । संश्लेषण-विश्लेषण यह दोनों वृत्तियाँ मानवी बुद्धि में स्वभावतः लगी हुई हैं । उनका प्रयोग कौन कैसे करता है, इस पर कलाकार और नीतिकार का महत्त्व निर्भर करता है ।

सियारामजी का व्यक्तित्व अत्यन्त सरल, ग्राम-जीवन-प्रधान, निश्छल-निष्कपट, स्थितिशील, आस्थावान्, शारीरिक व्याधि-पीड़ित होने पर भी सतत जीवनेच्छा के आशावाद से भरा, आस्तिक्यपूर्ण है । उनकी कहानियों में भी उनके व्यक्तित्व की अमिट छाप स्पष्ट लक्षित है । उनका चित्रपट विशद-व्यापक नहीं है, वे विलायती कथा-लेखकों की भाँति, विशेषतः प्रकृतिवादी फ्रांसीसी मोपांसा आदि कलाकारों की तरह मानव-विकृतियों की तहों में नहीं जाना चाहते । वे मानव मात्र को सतत, निरपवाद, भेदरहित करुणा और सहानुभूति बाँटते जाते हैं । इसमें उनकी उदार संवेदनशीलता और हार्दिक वस्तुनिष्ठता व्यक्त होती है । यही निर्वैयक्तिकता उनकी कला का प्राण है । वे भावक बनकर रस की चाशनी नहीं निर्माण करना चाहते, उन्हें अल्प माधुर्य से सन्तोष है, क्योंकि वे जानते हैं कि जीवन के कटु-तिक्त अन्य भी अनेक रूप हैं । जीवन उनके लिए निरन्तर वेगवान्, हहराता हुआ प्रखर यन्त्र नहीं, परन्तु गाँव के ऊबड़-

खाबड़ पथ से चलने वाली, बीहड़ वन में भी राह बनाती जाने वाली एक बैलगाड़ी है, जिसमें से वे शिशु-सुलभ आँखों से चहुँ ओर की चमत्कार-सृष्टि को कुतूहल से देखते जाते हैं और वर्ड्स्वर्थ की भाँति कहते हैं :

उन पर्वतों में उल्लास भरा था !

उन फव्वारों में उल्लास भरा था !

यूरोप में जबकि कहानी पो की बतायी हुई 'हल्की बौद्धिक गोलाबारी' वाली स्थिति में आ गयी है और शब्द-बाहुल्य, अनासक्त, दीर्घकाय, अर्थगम्य की अपेक्षा छोटी, तीखी सहज बिखरने वाली, गिने-चुने शब्दों की कहानी अधिक पसन्द की जाती है, तब हमारे साहित्य में भी, हम आशा करते हैं कि, सियारामजी और ऐसी कहानियाँ देंगे जो कि भारतीय दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए भी, अधिक आधुनिक हों—बृहत्कथा और हितोपदेश की मंथर-गति में मँडराने वाले निरी सुजन-नीतिपाठ न बनी रहें ।

कहानीकार सियारामशरण गुप्त

[श्री विष्णु प्रभाकर]

श्री सियारामशरण गुप्त कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं परन्तु उनकी प्रतिभा बहुमुखी है। उन्होंने नाटक, निबन्ध तथा कथा सभी क्षेत्र में अपना योगदान दिया है। वह योगदान इतना अकिंचन नहीं है कि उसे भूलकर आगे बढ़ा जा सके। उनके छोटे निबन्धों में चिन्तन के अतिरिक्त एक अद्भुत आत्मीयता और सरलता है। आत्मीयता और सरलता सियारामशरण की कला की विशिष्टताएँ हैं और उनके कथा-साहित्य में इन विशिष्टताओं की पूर्ण परिणति हुई है।

उनकी कला के ये गुण उनके जीवन के गुण हैं। उनकी कला में उनका व्यक्तित्व पूरी तरह प्रतिध्वनित होता है। दमा उनका चिरसंगी है। वे देखने में भोले, विनम्र और प्यार करने वाले जान पड़ते हैं। वे किसी को ठग सकें ऐसी प्रतिभा उनके पास नहीं है, परन्तु उन्हें कोई ठग ले जाय ऐसे भोले भी वे नहीं हैं। वे जो कुछ हैं यह हैं कि उन्हें विश्वास है कि वे कुछ नहीं हैं। इसी नकारात्मक अस्तित्व में उनका बड़प्पन है। वे अज्ञानी रहकर सीखने में विश्वास करते हैं इसलिए उनकी क्रान्ति शान्त है और उनका विद्रोह विनम्र। इसीलिए उन्होंने अपने में डूबकर, वेदना की कूची से जो चित्र अंकित किये हैं, उनमें पीड़ा है और कसक है परन्तु आरोप नहीं है; मात्र संकेत है जो सीधा हृदय में जा पैठता है। यह अनुभूति की शक्ति है इसीलिए उनके साहित्य के अक्षर-अक्षर से हार्दिकता और मानवता की ध्वनि गूँजती है।

सियारामशरण का उदय द्विवेदी-युग में हुआ था। वह युग गद्य-साहित्य के प्रसार और परिष्कार का युग था—विशेषकर भाषा परिष्कार का। कला का योग उसे छायावाद-युग में मिला और गांधी-युग में मानवता तथा हार्दिकता ऐसे गुणों ने उसे पुष्ट किया। सियारामशरण ने कहानियाँ लगभग छायावाद-युग की समाप्ति और गांधी-युग के उदय के आस-पास लिखी हैं; इसलिए उनमें शिव अर्थात् नैतिकता का चित्रण है। इसके अतिरिक्त और जो कुछ है वह भी नैतिकता को ही पुष्ट करने के लिए है, परन्तु उनकी कला में वह मुखरता नहीं

है जो श्री मैथिलीशरण गुप्त तथा श्री प्रेमचन्द की कला में है। वे तो शरत् की तरह मौन, करुण तथा पारिवारिक चित्रण में विश्वास करते हैं। उन्होंने जहाँ कहीं भी राष्ट्रीयता का सहारा लिया है वह मात्र साध्य तक पहुँचने के प्रयत्न के रूप में है। उनका साध्य केवल विशुद्ध नैतिकता है और यही उनकी शाश्वत मानवता का मूलाधार है।

फिर भी सियारामशरण व्यक्तिवादी नहीं हैं। वे परिस्थिति का बड़ा सूक्ष्म अध्ययन और यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करते हैं; परन्तु वे समाजवादी भी नहीं हैं क्योंकि उनकी कला प्रचलित अर्थों में आक्रमणशील नहीं है। उनकी कला में कोमलता और करुण-रस का परिपाक इतना प्रौढ़ है कि वे ऐसा आक्रमण कर ही नहीं सकते। उनकी कला में जो आक्रमण है वह परिस्थिति के वास्तविक चित्रण में से उभरता है। इसलिए उसका लक्ष्य व्यक्ति नहीं है और इसीलिए वह घृणा और प्रत्याक्रमण की भावना से अछूती है। प्राचीनता के प्रति पूज्य भाव और नवीन के प्रति उत्साह दोनों इनमें हैं, इसीलिए देश की सामाजिक और आर्थिक स्थिति से पीड़ित जनता की दुर्दशा का चित्रण भी इनकी कहानियों में मिलता है। इन पर गांधी-विचारधारा का पूरा प्रभाव है। वे मानते हैं कि मनुष्य मूल में बुरा नहीं है, परिस्थिति उसे अच्छा-बुरा बनाती है। उनके लिए 'मानवता' ही सत्य है परन्तु उनकी मानवता विकासशील है। कला को यदि मानवता के विकास में योग देना है तो उसे शिव होना पड़ेगा, यह सियारामशरण की मान्यता है। फिर भी बुरे को बुराई से निकालकर अच्छाई में दिखलाने की प्रवृत्ति जो प्रारम्भ में प्रेमचन्द में थी उनमें बहुत अधिक नहीं है। वे शरत् की भाँति बुराइयों के बीच मनुष्य की निर्मलता में अधिक विश्वास करते जान पड़ते हैं।

(२)

सियारामशरण को ऊपर मूलतः कवि कहा गया है। उन्होंने कहानियाँ भी गद्य से पहले पद्य में लिखी हैं। उनका एक ऐसा संग्रह **आर्द्रा** के नाम से प्रकाशित है जिसमें लगभग सन्. १९२५ से १९२७ तक लिखी हुई पद्यात्मक कहानियाँ संकलित हैं। इस काल में असहयोग आन्दोलन के अचानक बन्द हो जाने के कारण शैथिल्य और निराशा का दौर-दौरा था। घृणा, विद्वेष और आरोप-आक्रमण की भावना से नवोदित राष्ट्रीयता दूषित हो चुकी थी। ऐसे विषाक्त वातावरण में कवि ने ये करुण-कथाएँ लिखी थीं। **हूक, प्रयाणोन्मुखी** और **चोर** आदि कथाएँ जहाँ व्यक्तिगत करुणा से ओत-प्रोत हैं वहाँ **नृशंस** (दहेज-प्रथा) **एक फूल की चाह** (अछूत-प्रथा) **अग्नि-परीक्षा** (अपहृत नारी) **डॉक्टर** (ऊँच-

नीच की भावना) और **खादी की चादर** (विधवा) आदि कहानियों में सामाजिक कुरीतियों और उनसे उत्पन्न परिस्थितियों का जो चित्रण है, वह बड़ा सजीव और मार्मिक है। यद्यपि उनका धरातल व्यापक नहीं है तो भी उनका प्रभाव काफी सशक्त है। **खादी की चादर** की करुणा संग-दिल को भी पानी कर देने की शक्ति रखती है। वह एक तिरस्कृता विधवा नारी की कथा है जिसके कुटुम्बी धोखे से उसे तीर्थ में छोड़ आये हैं और सहायता के अभाव में जिसकी एक मात्र बच्ची चल बसी है। उस विधवा नारी की उपचेतना में कलाकार ने जिस एकनिष्ठ और आरोपहीन करुणा का उद्रेक कराया है वह निश्चय ही अद्‌भुत है।

इन कहानियों का दृष्टिकोण विशुद्ध सुधारवादी है। पिछली शताब्दी के अन्त में अनेक सुधार-आन्दोलनों के फलस्वरूप जो जागृति इस देश में फैल रही थी उसी का प्रकाश इन कहानियों में बिखरा पड़ा है, परन्तु यह सब होने पर भी इनमें उपदेश या प्रवचन का अभाव है। इसलिए कला प्रचारवादी होने से बच गयी है। इन कहानियों पर राष्ट्रीयता का प्रभाव भी है। **खादी की चादर** में मात्र खादी का नाम है परन्तु **बन्दी** कहानी में एक ऐसे क्रांतिकारी का चित्रण है जो अपने साथियों का नाम बताने पर छोड़ा जा सकता है। उसका एक मित्र उसे माँ की व्यथा बताकर साथियों के नाम बताने पर राजी करना चाहता है परन्तु बन्दी माँ की पीड़ा से कराहकर भी यही कहता है :

> **आज रो रही है एक मेरी माँ;**
> **कैसे मैं रुलाऊँ अब और बहुतेरी माँ ?**
> **दुःख एक माँ का है असह्य मुझे इतना;**
> **—अन्य साथियों का गला;**
> **कैसे जान-बूझ के फँसा दूँ भला—**
> **होगा शत माँओं का कराल क्लेश कितना ?**

देखा जाय तो राष्ट्रीयता के मिस पर-दुख-कातरता के शाश्वत मानवीय गुण का चित्रण ही इस कहानी में हुआ है। **डाकू** कहानी में हृदय-परिवर्तन के चित्रण के साथ शोषण-प्रवृत्ति पर गहरी चोट है। परन्तु वह चित्रण में से ही उभरी है। लेखक का वह लक्ष्य नहीं है। एक निर्धन किसान, महाजन ने जिसका सब कुछ कुर्क करवा लिया है, डाकू बनकर एक साहूकार के घर डाका डालते समय, एक ऐसी बालिका को देखता है जो माल बताने के लिए बार-बार पीटी जाने पर भी :

पीड़कों को ही दे निज भार
खड़ी थी हा ! वह किसी प्रकार
सिकुड़कर छोटा कर निज गात
सह रही थी गुरुतर उत्पात।

इस बालिका को देखने पर डाकू को कुर्की के दिन की याद आ जाती है। उस दिन कुछ ऐसा ही दृश्य उसके घर में दिखाई दिया था। यह दृश्य-सादृश्य डाकू के हृदय में दबी हुई मानवता को जगा देता है और वह बालिका को छाती से चिपकाकर रो उठता है। जैसे उन आँसुओं में उसका कलुष धुल जाता है और इसके बाद वह जैसे आया था वैसे ही खाली हाथ लौट जाता है। 'पाथेय' की कहानियों में, जो लगभग १९३३-३४ के आस-पास लिखी गयी हैं, अधिक गहराई और चिन्तन है। बंगाल के अकाल के समय लिखी गयी कविता 'रासमणि' में एक ऐसी किसान-कन्या की कथा है जो अकाल के कारण अपने जनपद से निकाल दी गयी है। वह एक बहुत प्रभावोत्पादक चित्र है।

सियारामशरण की पद्यात्मक कथाओं की सबसे बड़ी शक्ति करुणा और चित्रमयता है। परन्तु करुणा जहाँ उनकी शक्ति है वहाँ दुर्बलता भी है। बहुधा वह दृष्टि को धुँधला कर देती है।

(३)

पद्यात्मक-कथाओं के समान उनकी गद्य-कहानियों की संख्या भी बहुत नहीं है। आठ कहानियाँ 'मानुषी' में संग्रहीत हैं। कुछ इधर-उधर पत्रों में प्रकाशित हैं। उनकी एक प्रसिद्ध कहानी **झूठ-सच** इसी नाम के निबन्ध संग्रह में संकलित है तथा **चुक्खू, रामलीला** और **प्रेत का पलायन** 'प्रतीक' में छपी हैं। 'मानुषी' की कहानियों का रचनाकाल सन् १९२३ से १९३० तक का है। उन पर गांधी विचारधारा का पूर्ण प्रभाव है। शैली की दृष्टि से वे आडम्बर-हीन तथा दृष्टिकोण के अनुसार शिव का प्रतिपादन करती हैं। लेखक इसी प्रवृत्ति को अमर तत्त्व मानता है। शेष अशिव प्रवृत्तियाँ मनुष्य की क्षणभंगुरता से भी अल्पजीवी हैं। **मानुषी** के मनोहरलाल के 'जीवनकाल में लोगों ने उसके ऊपर पत्थर ही बरसाये थे। उसने झाड़-पोंछकर वे पत्थर अपने ही पास रख छोड़े थे। प्रतिवाद के लिए आक्रमणकारियों के ही ऊपर न फेंककर उसने उन सबको निशस्त्र और निस्सहाय कर दिया था।' और उनकी पत्नी श्यामा जीवन भर अमूल्य नगों को लोष्ठवत् समझती रही। उसके स्वामी बिना चिकित्सा के रोग में घुल-घुलकर स्वर्गवासी हुए और पाँच हजार के नग वाली अँगूठी उनकी जेब में ही पड़ी रही। वे उसका मूल्य नहीं जानते थे। श्यामा भी उनकी मृत्यु

के बाद जान पायी, पर जान कर भी स्वामी के साथ कपट करने वाले रत्नों से उसने कोई सम्बन्ध स्थापित करने से इन्कार कर दिया। वे घर की मिट्टी में मामूली काँच की तरह उपेक्षित पड़े रहे। जिसमें इतनी निस्पृहता हो उसे कोई अभाव नहीं हो सकता यह लेखक ने दिखाया है। प्रश्न उठता है—क्या ऐसा इस धरती पर सम्भव है ? लेखक उसे उत्तर देता है—कलाकार जो सम्भव है उसी को लक्ष्य करके नहीं चलता बल्कि जो होना चाहिए वह उसका अधिक इष्ट है। जो होना चाहिए इस पर मतभेद हो सकता है। सच पूछिए तो मत-भेद है यहीं पर। फिर भी कलाकार के लिए बाहर का मतभेद इतना बुरा नहीं है जितना उसके अपने अन्दर का। यदि वह स्वयं संशय में रहेगा तो पाठक को क्या देगा ? सियारामशरण की कला में यह संशय नहीं है। उनके उद्देश्य चाहे वे कैसे भी हैं, स्पष्ट हैं। हाँ, वे कहीं-कहीं इतने सजग हो उठते हैं कि कहानी-तत्त्व दब जाता है और कहानी कल्पना की प्राणहीन वस्तु बनकर रह जाती है। भला करो, भला होगा, इसी बात को लेकर **कष्ट का प्रतिदान** कहानी लिखी गयी है। उसमें स्वाभाविकता की कमी है। ऐसा लगता है जैसे लेखक आदर्श को लेकर कथानक का निर्माण कर रहा है और पात्रों से मन-चाही बातें कहलवा रहा है। परन्तु उसी संग्रह की कहानी **पथ में से** पात्र के आन्तरिक संघर्ष के कारण बड़ी प्राणवान् बन गयी है। नैतिकता दोनों में है पर एक की नैतिकता लेखक के अन्दर से फूटी है, दूसरी की कहानी और उसके पात्र के अन्दर से। दूसरी कहानी में लेखक कथानक की सचाई में पूर्ण विश्वास करता जान पड़ता है तभी उसकी कला में निखार और उसके पात्रों में प्राण हैं। **बैल की बिक्री** एक और ऐसी ही कहानी है जिसका उद्देश्य वही है परन्तु घटना के वैचित्र्य और पात्रों के चरित्र-चित्रण ने उसे एक सफल कहानी बना दिया है। ऋण देने वाले महाजन की क्रूरता, किसान की बैल के प्रति ममता, किसान-पुत्र शिबू की उद्दण्डता और पिता के प्रति छिपा हुआ प्रेम, इन सबके स्वाभाविक और सरल चित्रण ने कथा में जान डाल दी है। **कोटर-कुटीर** एक ऐसी करुण कहानी है जिसमें घुमा-फिराकर ईमानदारी की महत्ता का उद्‌घोष किया गया है। लेकिन कला की दृष्टि से **काकी** इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी है। वह शिशु के शैशव की भाँति मधुर और करुणा की तरह करुण है। बालक श्यामू की माँ ऊपर आकाश में भगवान के पास चली गयी है। बालक उसे नीचे अपने पास बुलाना चाहता है। एक दिन पतंग उड़ती देखकर वह सोचता है—माँ पतंग पकड़कर नीचे आ सकती है। बस पैसे चुराकर वह पतंग मँगवाता है और उस पर नाम लिखकर उड़ाने के प्रयत्न में है कि पिता

चोरी की खोज करते-करते उसे पकड़ लेते हैं और पीटते हैं परन्तु जब उन्हें रहस्य का पता लगता है तब वे सहसा हत-बुद्धि होकर बेटे को देखते ही रह जाते हैं। कहानी इतनी ही है परन्तु शैशव और स्नेह का जो सहज-स्वाभाविक और इसीलिए गहन और पुष्ट अध्ययन यह प्रस्तुत करती है वह बहुत सुन्दर है।

सियारामशरण की इन कहानियों पर तत्कालीन समाज-सुधार या राष्ट्रीय-जागृति का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं दिखाई देता। इनमें मानव के शाश्वत कहे जाने वाले गुणों की चर्चा है। **काकी** को छोड़कर सब आदर्शवादी कहानियाँ हैं। इन कहानियों के अधिकांश नभचारी पात्रों से हम व्यापक जन-समुदाय के मानस को नहीं समझ पाते। वातावरण की दृष्टि से भी लेखक का क्षेत्र सीमित है। इसका कारण यह है कि इन कहानियों के रचनाकाल तक उनकी दृष्टि यथार्थ की दुनिया पर पूरी तरह नहीं जा पायी थी। उनमें जो दर्द है वह भी प्रेम से अधिक आदर पैदा करता है। **मानुषी** की श्यामा को पाठक प्रणाम कर सकता है। **कोटर-कुटीर** के गोकुल के सामने, आयु में छोटा होने पर भी, मस्तक नवा देता है परन्तु वह उनको अपना नहीं समझ पाता। हाँ, **बैल की बिक्री** के शिबू माते को आदर के साथ पाठक प्रेम भी करता है क्योंकि उसमें अधिक स्वाभाविकता है। **काकी** के श्यामू को तो बार-बार गोद में उठाकर छाती में भर लेने को जी करता है। यही कहानी की सफलता है।

पद्यात्मक कथाओं की भाँति करुणा इन कहानियों में भी है, परन्तु कहीं-कहीं वह आदर्श के भार से दबकर रह गयी है।

(४)

सियारामशरण जन्मजात प्रतिभा वाले कलाकारों की श्रेणी में नहीं आते। उनका सतत विकास हुआ है। **आर्द्रा** की पद्यात्मक कथाओं पर सुधारवाद का प्रभाव है तो **मानुषी** की कहानियों में गांधी-चिन्तन-धारा के आदर्शों का चित्रण है। इन कहानियों में कला भी काफी पुष्ट हुई है। श्यामा और मनोहर जहाँ आदर्शों के साथ आदर्शमय हैं वहाँ शिबू माते एक साधारण मानव-चरित्र है जो संसार के साथ गिरता-उठता और हँसता-खेलता है। वह आदर्शवाद से आगे मानवतावाद का प्रतीक है।

सियारामशरण, जैसा कि ऊपर कहा गया है, समाजवादी नहीं हैं पर मानवतावादी होने के कारण वे मानवता को नष्ट करने वाली परिस्थितियों का चित्रण करते हैं। उनकी कला में वर्ग-संघर्ष नहीं है परन्तु वर्ग-चेतना अवश्य है बेशक वह अनजाने ही है। यह बात **बैल की बिक्री** में स्पष्ट है। जब पाठक सर्वहारा वर्ग के किसान-पुत्र शिबू माते के साहस और ईमानदारी

से चकित होता है तो उसे मानवता के शत्रु महाजन ज्वालाप्रसाद से घृणा भी होती है। यह बात दूसरी है कि लेखक का प्रयत्न इस घृणा को चित्रित करना न हो परन्तु एक की महत्ता दूसरे की लघुता बन जाती है।

सियारामशरण की इधर की कहानियों में यह तत्त्व और उभरा है। यद्यपि पुराना आदर्शवाद धुँधला होता जान पड़ता है फिर भी उसमें समाजवाद का वर्ग-संघर्ष नहीं है बल्कि मानवता को लेकर जीवन की ट्रेजेडी के चित्र अंकित हैं। **चुक्खू** उनकी हाल की रचना है। (प्रतीक : संख्या २, पावस, १९४९ में प्रकाशित)। उसमें **चुक्खू** कोई एक व्यक्ति न रहकर समूह का एक अंग-मात्र है। लेखक ने स्वयं लिखा है—"आज के अंक में प्रकाशित मृतकों की संख्या आतंक उपजाने वाली है। उसमें नाम और पता किसी का नहीं है। न मनुष्यों का न चूहों का फिर भी मुझे पता है कि उस बड़ी संख्या में एक का नाम चुक्खू है।" वह उस सर्वहारा वर्ग का प्राणी है जिसका व्यापारी-वर्ग सदा शोषण किया करता है लेकिन वह है कि शोषण के प्रति विद्रोह कर ही नहीं पाता। उसके शोषक (पुराना सहपाठी, आज का व्यापारी) के शब्दों में वह "चालाक है फिर भी सच बात कहनी पड़ेगी ऐसा भी नहीं है कि ईमानदार न हो। कल की ही बात है मेरी दूकान में एक चूहा मरा पाया गया। पुराना नौकर उठाकर फेंकने में आनाकानी कर रहा था तो बिगड़ पड़ा। बोला—तुम बेईमान हो, निकल जाओ, मैं अकेला दूकान सँभाल लूँगा और तब उसने स्वयं ही चूहे की पूँछ पकड़कर उसे नाली में फेंक दिया······चुक्खू के विश्वास दिलाने पर ही मैं यहाँ आया हूँ। आने लगा तो उसके आँसू आ गये थे। हाथ जोड़कर उसने प्रार्थना सी की और कहा—"भगवान्! तुम्हें फला-फूला रखे।" आँसू-वाँसू मुझे नहीं आते परन्तु उस समय न जाने क्या हुआ कि मेरा भी जी भर आया। **नौकर होने पर भी अपने बचपन का साथी तो है।**"

इस अन्तिम पंक्ति से क्या पाठक का दिल तड़प नहीं उठेगा? यह सियारामशरण का व्यंग है। इसमें कड़वाहट नहीं है पर मर्म को छेदने की शक्ति अवश्य है। चुक्खू को बचपन का साथी मानने वाला महाजन ही उसे प्लेग के मुँह में झोंककर स्वयं भाग आया है। वह तो महाजन था, उसे तो दूकान की रक्षा करने वाला मिलना चाहिए। बचपन का साथी हो या कोई और। सब बराबर है। कोई साथी का अधिकार लेकर उसके कार्य में बाधा कैसे दे सकता है। इसलिए जब चुक्खू चल बसा तो महाजन को दूसरे चुक्खू की चिन्ता हुई : "कल के मरने वाले चूहों और मनुष्यों में एक का नाम चुक्खू है। उस टीन के नीचे छप्पर वाली पिंजड़े जैसी दूकान के लिए अब दूसरा चुक्खू चाहिए।"

लेखक ने इससे अधिक कुछ नहीं लिखा। वह यहाँ भी वर्ग-संघर्ष पैदा करना नहीं चाहता। वह तो मानवता को कलंकित करने वाली परिस्थितियों का चित्रण करना चाहता है। प्रगतिशील का तर्क है। यही परिस्थितियाँ तो वर्ग-संघर्ष पैदा करती हैं। यहाँ तक दोनों एक हैं, भिन्नता आगे आती है। कुछ भी हो इसमें सन्देह नहीं इस यथार्थ चित्रण ने **चुक्खू** में एक गहरा तीखापन भर दिया है। उस तीखेपन में हार्दिकता का भी अभाव नहीं है। कोई ऐसी अनावश्यक बात नहीं है जो कहानी की मार्मिकता एवं प्रभावोत्पादकता को नष्ट करती हो। यह कहानी उनकी दूसरी कहानियों से एक और बात में भिन्न है कि इसमें कोई नैतिक सन्देश देने का प्रयत्न नहीं किया गया है। यद्यपि चुक्खू का चित्रण एक आदर्शवादी के रूप में हुआ है तो भी इसमें उस कला की उपासना है जो दलित मानवता की शक्ति बनकर शोषण के इस उद्घोष को चुनौती देती है कि चुक्खू मर गया, दूसरा चुक्खू चाहिए। दूसरा भी मर जाये पर शोषण की यह शाश्वत परम्परा रुकने वाली नहीं है।

मानवता के उपासक सियारामशरण दूसरे शाश्वत कलाकारों से एक बात में भिन्न हैं—जबकि उन कलाकारों को युग की तत्कालीन परिस्थितियों ने तनिक भी प्रभावित नहीं किया, सियारामशरण उधर से नेत्र नहीं मूँद सके। बंगाल के अकाल के सम्बन्ध में उनकी कविता 'रासमणि' की बात ऊपर आयी है। साम्प्रदायिकता के ताण्डव नृत्य के समय भी वे एक अकेले कलाकार थे जो प्रगतिवादियों की श्रेणी से बाहरी मानवता पर आये हुए उस संकट के विषय में पाठक को चेतावनी देते रहे थे। इससे स्पष्ट है कि सियारामशरण की मानवता संवेदनशील है और साथ ही उनकी आस्तिकता इतनी दृढ़ है कि वे न तो हिन्दी के श्री सुमित्रानन्दन पन्त और बंगला के श्री बुद्धदेव बसु की भाँति प्रगतिशील माने जा सकेंगे और न फिर बाहर निकाले जा सकेंगे।

उनकी एक और कहानी है **झूठ-सच**। चुक्खू से बहुत पहले १९३७ में वह लिखी गयी थी। वह उनके निबन्ध-संग्रह में संग्रहीत है। सियारामशरण के निबन्ध 'पर्सनल ऍसे' की श्रेणी के हैं। लेखक के मन पर किसी घटना या परिस्थिति की जो प्रतिक्रिया होती है उसी का चित्रण उनमें होता है। 'झूठ-सच' ऐसी ही घटना की प्रतिक्रिया के स्वरूप लिखी गयी है। आदर्श और उद्देश्य की घोषणा उसमें नहीं है लेकिन उसमें वे सारे तत्त्व हैं जो कहानी को कहानी बनाते हैं। इसमें चित्रण, चमत्कार, उत्सुकता सभी कुछ है और अन्त होते-होते पाठक के सामने एक ऐसा रहस्योद्घाटन होता है कि वह हत-बुद्धि-सा देखता रह जाता है। इस कहानी में निम्नवर्ग का सुन्दर चित्रण है। 'रुपये

की समाधि' नामक एक पुरानी कहानी में भी मजदूर-जीवन का अच्छा चित्रण हुआ है परन्तु झूठ-सच की सफलता इस चित्रण के कारण नहीं है। उसकी सफलता उसके व्यंग में है। कहानी कहने वाला जिन दो तथाकथित प्रेमियों को लेकर उपन्यास का प्लाट बना रहा था वही अन्त में सगे भाई-बहन निकले। बहन शराबी और चोर पति के अत्याचार से पीड़ित है और भाई उसकी सहायता करना चाहता है पर बहन की पति-भक्ति के कारण कुछ कर नहीं पाता। कहानी में जहाँ आश्चर्य है वहाँ टीस भी कम नहीं है। यह कल्पनाओं में मस्त रहने वालों पर एक बहुत बड़ा व्यंग है।

(५)

सियारामशरण की इधर की कहानियों में अभिव्यक्ति अधिक है और नैतिक सन्देश देने की भावना कम। इसका कारण उनका यथार्थ चित्रण है। चित्रण जब सच्चा होता है तो लेखक को बोलने की आवश्यकता नहीं रहती। कलाकार और प्रचारक का यही अन्तर है। सियारामशरण प्रचारक के सरल पर अप्रिय कार्य से बहुत आगे हैं। उनका मार्ग कलाकार का वह मार्ग है जो दुष्कर होने पर भी प्रिय और प्रभावशाली है।

सियारामशरण के पात्र विद्रोही नहीं हैं। वे न तो समाज को छिन्न-भिन्न करने का क्रान्त स्वर उठाते हैं और न उसका पुनर्निर्माण करने की प्रतिज्ञा करते दिखाई देते हैं। **शिबू माते** भी जब परिस्थिति का डटकर सामना करता है तो वह महाजन का नाश करने या उसका सुधार करने की भावना से नहीं करता। उसके मन में तो पिता का ऋण चुकाने की भावना है। **मानुषी** के **'मनोहरलाल'** और **'श्यामा'** के विद्रोह का लक्ष्य अपना ही व्यक्तित्व है। **'चुक्खू'** तो बलिदान में गद्‌गद् होता है। बिना गिला-शिकवा किये वह मुसीबतें उठाता है और अन्त में प्राण तक दे देता है। **कोटर-कुटीर** का पक्षी चातक विद्रोह के कारण ही पराजित होता है। हाँ, झूठ-सच में **काशीराम** अपने अत्याचारी बहनोई का गला घोंटने की बात कहता है, पर यह भावना भी निराशा से उत्पन्न हुई है। इसका कारण वही है कि इन कहानियों में जिन समस्याओं की चर्चा है वे प्रायः कोई तात्कालिक महत्त्व नहीं रखतीं। उन्होंने सभी समस्याओं का अध्ययन मानव-मूल्यों के प्रकाश में किया है। वे आरोप और आक्रमण में विश्वास नहीं करते। 'अपने आपको सुधारो समाज सुधरेगा' यही उनका मन्तव्य है। इस दृष्टि से **मानवी** के पात्र जो परिस्थितियों के सामने झुकते जान पड़ते हैं बड़े शक्तिशाली हैं। वे अपने आदर्शों के प्रहरी के रूप में अपने बलिदान द्वारा संसार को चुनौती देते हैं।

टेकनीक की दृष्टि से प्रायः सभी कहानियाँ सफल हैं। उनका पहला गुण है ईमानदारी, जो स्वाभाविक चित्रण के कारण पाठक को अभिभूत कर लेती है। व्यर्थाडम्बर का अभाव, उद्देश्य की स्पष्टता और आन्तरिक संघर्ष के कारण रोचकता और उत्सुकता उनमें बनी रहती है। उनके चित्रण और वर्णन में आत्मीयता है। चित्रमयता उनकी कला की विशिष्टता है। घटना या व्यक्ति सभी का वे ऐसा चित्र उतारते हैं कि भुलाये नहीं भूलता। चुक्खू को ही देखिए—"देखा नंगे सिर और नंगे पैर कोई व्यक्ति नमस्कार कर रहा है। सिर पर बड़े-बड़े और रूखे केश, दाढ़ी में काली और सफेद सुइयों की नोक जैसे बाहर निकले हुए बाल, माथे पर चन्दन का त्रिपुण्ड, वस्त्रों में बिना साबुन के पछाड़ा हुआ कुरता, कंधे पर एक मैला पटका और कमर में फटी-पुरानी धोती,—बस यही उसकी वेश-भूषा थी। सहसा समझ न सका कि कौन है। चेहरे से किसी न किसी अत्यन्त घनिष्ठ जन के मिल जाने की प्रसन्नता प्रकट हो रही थी। मैंने हाथ जोड़ लिये और स्वयं भी मुँह पर प्रसन्नता लाने का प्रयत्न किया। चलते हुए ताँगे के कारण उस भद्दी स्थिति से बच गया जिसमें किसी न किसी प्रकार यह कहना ही पड़ता कि पहचाना नहीं।" बेशक कहानी कहने वाले सज्जन उसे भूल गये होंगे पर पाठक न तो इस व्यक्ति को भूल सकता है न इस स्थिति को। और व्यक्ति क्यों ? सियारामशरण एक घर का वर्णन करते हैं :

तेल की कर नीचे तक कीच, एक आले के बीचोबीच,
जल रहा था जो मन्द प्रदीप, उसे उसकाया पहुँच समीप;
और फिर देखी मैंने पौर; लिपी थी गोबर से सब ठौर।
धोतियों के थानों के चित्र, भीत पर चिपके थे सुविचित्र।
अलगनी के ऊपर कुछ म्लान, सूखते थे गीले परिधान।
अँगीठी करके धूम्रोद्गार, जनाती थी अपने में सार।
वहीं रखा था एक तुरंग, काठ का, सुन्दर शोभन रंग।
अरे, किसने करुणा के साथ, फेरकर तुझ पर कोमल हाथ।
दिया है यह रोटी का कौर, यहाँ तेरे मुँह में ! यह और।
धर दिया हुक्का भी तो पास, कि खा चुकने पर मुँह का ग्रास।
करेगा अभी धूम्र भी पान ! जड़ों को भी ममत्व ला दान।
अरे तो क्या करुणा का लेश, कहीं है कुछ-कुछ अब भी शेष।

इस चित्र में छन्दों का संगीत बेशक नहीं है पर परिस्थिति, यथार्थता और कोमलता का चित्रण पाठक को मोह लेने के लिए यथेष्ट है और इसके पीछे जो किसी शिशु का मधुर शैशव उभर उठा है वह और भी प्रिय है। ऐसे और अनेक सुन्दर चित्र इन कहानियों में स्थान-स्थान पर मिलेंगे जो अनूठी उपमाओं के कारण और भी निखर उठे हैं। (१) जिस गीली लकड़ी के सिरे पर आग

होती है और दूसरे सिरे से पानी रिसता है उसी जैसी उसकी अवस्था थी। (२) म्यूनिसिपैलिटी की लालटेनें अपने ऊपर अन्धकार का ग्लोब चढ़ाकर टिमटिमा रही थीं। (३) अनुमान हमारे कान के दूरबीन हैं। (४) परन्तु प्रतिद्वन्द्वी न होने से आग लगी अकेली लकड़ी की भाँति अपने आप दग्ध होकर शान्त हो जाना पड़ा। और (५) पकी निबोरी की तरह उस वेदना में भी कुछ माधुर्य था। ऐसी उपमाओं में जहाँ चित्रमयता और सूझ है वहाँ पाठक इन व्यंगोक्तियों की शक्ति का अनुभव किये बिना भी नहीं रह सकता: (१) जीर्ण-शीर्ण दीवारें रोशनदान होने की साध दरारों के "दत्तक" से पूरी किया चाहती थीं। (२) खेती के पौधे अकाल वृद्ध होकर असमय में ही मुरझा रहे थे परन्तु महाजनों की फसल का हाल ऐसा न था। बादल ज्यों-ज्यों खिचते उनकी खेती में त्यों-त्यों नये-नये अंकुर निकलते थे। (३) ब्राँच एक नहीं दस खुलेंगी किन्तु हेडआफिस इसी छप्पर में रहेगा। (४) जिस तरह बैकुण्ठ-बिहारी भगवान की प्रस्तर मूर्ति बनाने की व्यवस्था करके उनकी अर्चा घर-घर सुलभ कर दी गयी है उसी तरह ईश्वर के अंश-स्वरूप नराधिप की सेवा करने के लिए जगह-जगह जमींदार प्रतिष्ठित किये जाते हैं।—सियारामशरण साधारणतया हास्य रस का प्रयोग नहीं करते, यह उनकी एक बड़ी कमी है। परन्तु इन उक्तियों में व्यंग के साथ दबा हुआ हास्य भी है (१) पण्डित ने जन्मकुण्डली में लिखा था पाण्डेय चतुरानन प्रसाद शर्मा। यह नाम स्वयं चुक्खू के लिए अपना न रहकर मँगनी लिया जैसा हो चुका था। (२) एक चमार आसामी ने मुफ्त में जूते बनाकर कुछ दिन के लिए उससे छुट्टी पाने का वचन लिया था। उन जूतों ने रामधन को चलने-फिरने से ही कुछ दिन के लिए छुट्टी देकर अपने निर्माता का लेन-देन बराबर कर देना चाहा।

सियारामशरण के वर्णन में आन्तरिक विश्लेषण की प्रमुखता है और शैली पर चिन्तन का भार, परन्तु फिर भी कलाकार प्रायः मौन रहता है, उसके पात्र ही बोलते हैं। अन्त होते-होते तो पाठक कलाकार के अस्तित्व को भूल जाता है और पात्रों से तादात्म्य-भाव स्थापित कर लेता है। यह कलाकार की एक बड़ी सफलता है। कहानी के पात्रों को समझकर ही पाठक उनके संसार को समझ सकता है। इसका कारण यह है कि लेखक अन्त में उपदेश देने या टिप्पणी करने नहीं रुकता। "झूठ-सच" के अन्त में जब इस रहस्य का उद्घाटन होता है कि रधिया काशीराम की भगाई हुई प्रेमिका न होकर दुखिया बहन है तो कथाकार बस इतना ही कहता है—"रधिया तुम्हारी बहिन है" और उसकी आँखों में आँसू भर आते हैं। कोई और लेखक होता तो मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण

करता या न करता, धरती और आकाश को अवश्य कम्पायमान कर देता। **काकी, चुक्खू, बैल की बिक्री** इस दृष्टि से बड़ी सफल कहानियाँ हैं। **लेकिन पथ में से** जैसी सुन्दर कहानी इस अन्त से वंचित रह गयी है।

सियारामशरण की भाषा में चुलबुलापन, अलंकरण और कृत्रिमता नहीं है। वह सरल, सुव्यवस्थित, प्रौढ़ और मन्थरगति से बहने वाली है। प्रारम्भिक कहानियों में दग्धीभूत, गरीयसी, और महीयसी, ऐसे शब्दों के प्रयोग के कारण कुछ दुरूहता आ गयी है परन्तु इधर वे गायब हो चुके हैं, इसीलिए वर्णन में प्रवाह है। "प्रेत का पलायन" कहानी में विषय के अनुरूप कवित्व और माधुर्य का समावेश भी हुआ है। "उसके जूड़े की बकुलमाला का यह सौरभ यहाँ रात के अन्धकार में महक उठा है।" "मालूम हुआ, इसका नाम राका है। जिसने उसे यह नाम दिया होगा उसकी प्रशंसा करता हूँ। इसके आने से सचमुच ही पूरा गृह आलोकित हो उठा है।" "ये फूल किस लिए राका? तुम जैसी मंदार-मंजरी के सामने तुम्हारे ये फूल मुझे बहुत दयनीय जान पड़ते हैं। इन्हें चुन लाने में समय का अपव्यय ही हुआ समझो।" "राका का आगमन दिन में असामयिक है, रात्रि में ही उसका माधुर्य निखरता है। किन्तु कुछ हो, तुम्हारे आने से आज का प्रभात सार्थक हुआ।"

और अब अन्त में फिर प्रारम्भ की बात दुहरा दें कि श्री सियारामशरण की कला में सरलता है, हार्दिकता है और तन्मयता है। निस्सन्देह ये कहानियाँ मनो-रंजन के लिए नहीं लिखी गयी हैं। इनमें समस्याएँ हैं, इसलिए इनकी उपादेयता स्पष्ट है पर साथ ही यह भी सच है कि कलाकार का उद्देश्य प्रचार करना नहीं है, इसलिए उनमें प्रचारक की मुखरता नहीं है, कलाकार का मौन है। उनकी शक्ति क्रान्ति की शक्ति नहीं है। एक विनम्र साधक की शक्ति है। वह आगे बढ़ता है खोजने और पता लगाने के लिए, नाश और निर्माण के लिए नहीं। निर्माण का दावा वे नहीं करते इसलिए नाश करने की शक्ति भी उनमें नहीं है।

कहा गया है श्री सियारामशरण की प्रतिभा विकसित हुई है। विकास का जीते जी अन्त नहीं होता। इसलिए आगे अभी कला को और विकसित होना है। उनके शरीर की शक्ति भले ही क्षीण हो पर कला की शक्ति निरन्तर बढ़ेगी। उनका अब तक का विकास इसका साक्षी है। वे वर्ग-संघर्ष को चित्रित करेंगे ऐसी आशा उनसे नहीं की जा सकती पर पीड़ित मानवता के चितेरे होने के कारण उनके चित्रों में देवासुर-संघर्ष का तीखापन अवश्य उभरता चलेगा। और अटूट आशावादी होने के कारण उनकी कला का प्रभाव सदा स्वास्थ्यप्रद रहेगा।

इसी आशा के साथ इस आशावादी चिन्तक को हम प्रणाम करते हैं।

सियारामशरण के निबन्ध

[प्रो० गुलाबराय, एम० ए०]

गद्य को कवियों की कसौटी कहा गया है—'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'। यह शायद इसीलिए कहा गया है कि जो लोग गद्य के शुष्क कलेवर में भी कविता का रस बनाये रख सकते हैं वे ही सच्चे कवि कहे जाने के अधिकारी हैं। उनका कवित्व आकाराश्रित नहीं है वरन् आन्तरिक और हृदयगत है। यही रसरूप आत्मा गद्य को भी काव्यत्व प्रदान करती है। श्री सियारामशरणजी ऐसे ही कवियों में से हैं जिन्होंने अपनी लेखनी के जादू भरे स्पर्श से गद्य के लोहे को भी सोना बना दिया है।

गद्य का सबसे अधिक निखरा हुआ रूप हमको निबन्धों में मिलता है। गद्य अपने और रूपों में तो माध्यम मात्र रहता है, उसका निजी और साहित्यिक रूप हमको निबन्धों में मिलता है। निबन्धों की परिभाषा के सम्बन्ध में आलोचकों ने बहुत-कुछ उखाड़-पछाड़ की है। उसने अपने विकास-क्रम में कई रूप बदले हैं। मन के स्वच्छन्द, निर्बाध और अनियन्त्रित बहाव की अव्यवस्थित रचनाओं से लगाकर तर्क की लौह-शृंखला में कसी शौकीन बाबू लोगों के ट्रंकों में जमी हुई कपड़ों की सुव्यस्थित तहों की भाँति एक-दूसरे से सटी हुई विचारावलियों का उद्घाटन करने वाले समस्त शैली के निबन्ध तक सब निबन्ध के व्यापक रूप में आते हैं। किन्तु इन सब में दो विशेषताएँ रहती हैं जो निबन्ध को पुस्तकों के अध्यायों से व्यावृत करती हैं। वे हैं स्वत:पूर्णता और निजीपन। निबन्ध चाहे वैयक्तिक हो, चाहे निर्वैयक्तिक उसमें लेखक के व्यक्तित्व की छाप पूरी तौर से रहती है।

झूठ-सच के लेखों में यह वैयक्तिकता की छाप पूर्णरूपेण वर्तमान है।

निबन्ध संग्रह का नाम झूठ-सच एकदम एक सुखद हलकापन उत्पन्न कर देता है और गाम्भीर्य की विभीषिका को तुरन्त दूर भगा देता है। यह नाम पाठक में कहानी सुनने का सा औत्सुक्य जागृत कर देता है। लेखों के छोटे-छोटे अटपटे शीर्षक, जैसे ऋणी, एक दिन, घोड़ाशाही, निज कवित्व, शुष्को वृक्ष:, कवि की वेशभूषा, घूंघट में, आदि एकदम मन को आकर्षित कर लेते

हैं और अपने अप्रत्याशित कवित्व-पूर्ण विवरणों द्वारा चित्त को रमाये रखते हैं। 'ऋणी' में ऋण के अनेक रूप दिखाये गये हैं जिनसे साहु से साहु भी नहीं बच सकता है, 'एक दिन' में विफल दिनों का साफल्य दिखाया है, 'घोड़ा-शाही' में उसका वर्तमान मशीन युग में भी 'हॉर्स पावर' के आधार पर साम्राज्य अक्षुण्ण किया है। 'शुष्को वृक्षः' में जनश्रुति के प्रतिकूल 'शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे' में कर्णकटु अभिव्यक्ति करने वाले बिचारे अभागे कवि की पीठ ठोकी गयी है क्योंकि उसने विषयानुकूल भाषा का प्रयोग किया है। यद्यपि गुप्तजी स्वयं नीरस को भी सरस बनाने के अभ्यस्त हैं तथापि वे सिद्धान्ततः भाषा को विषयानुकूल बनाने के ही पक्ष में हैं। हमारे साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने भी तो श्रुतिकटुता को वीर रस में गुण माना है। लेकिन वह कवित्व-शून्य नहीं होना चाहिए। 'शुष्कं काष्ठं' में वह रस है या नहीं यह अतिरिक्त विवेचन का विषय है। 'कवि की वेशभूषा' में स्वयं खद्दरधारी होते हुए भी चीनांशुक को महत्ता दी है और उसका सम्बन्ध कविकुल-गुरु कालिदास से जोड़ दिया है, बातों ही बातों में अवध-सूर्य और राम के नाम के प्रति दुर्बलता-पूर्ण मोह के कारण बाबा तुलसीदासजी को उसे फटी कोपीन के बदले में स्वीकार करने को तैयार कर लिया गया है। गुप्तजी रामभक्त होने के नाते रामभक्तों की कमज़ोरी से परिचित हैं। **'घूँघट में'** शीर्षक निबन्ध में स्त्रियों के सावरण रहने पर बड़ा सुन्दर व्यंग्य है, किन्तु व्यंग्य की चोट पूरी कर उसको पुरुषों पर ही उतार दिया गया है। क्या हम लोग ही पूरी तौर से निरावरण हो सकते हैं? अपने घनिष्ठ से घनिष्ठ मित्र के असली स्वरूप के सम्बन्ध में हम उतने ही अजानकार रहते हैं जितने कि उन घूँघट वाली स्त्रियों के जिनके कि हाथ-पैर के अतिरिक्त हम और कुछ नहीं देख पाते। इस प्रकार व्यंग्य की चोट पर मरहम लग जाता है।

ऊपर के विवरण से यह न समझा जाय कि इन निबंधों में कोरा हास्य-विनोद और चमत्कार-प्रदर्शन ही है। मुंशी अजमेरीजी के सम्बन्ध में लिखे हुए 'मुंशीजी' जैसे वैयक्तिक निबन्ध में अगाध करुणा है और वह हिन्दू और मुसलमान दोनों ही के साम्प्रदायिकता के विषम ज्वर के लिए रामबाण औषधि का काम देगा। **'छुट्टी'** में भी करुणा का स्रोत उमड़ पड़ा है। **'साहित्य और राजनीति'** में साहित्यकार को राजनीतिज्ञ का सहायक मानते हुए भी उसकी स्वतन्त्रता को शृंखलित नहीं करना चाहते। वे लिखते हैं—'राजनीतिज्ञ स्वतन्त्रता का योद्धा है। स्वतन्त्रता का मूल्य उससे छिपा नहीं। साहित्यकार स्वतन्त्र-भाव से उसका सहयोगी हो, तभी उसे सन्तोष होगा।' जो लोग

साहित्यकार को ठोक-पीटकर प्रचारक बनाना चाहते हैं उनके लिए यह नेत्रोन्मीलक होगा।

सियारामशरणजी इस युग की उपज हैं। इस युग ने अपूर्णताओं और सीमाओं को जो मान दिया है वह और किसी युग ने नहीं दिया था। इस युग के प्राणी को अपनी अपूर्णता पर गर्व है। गुप्तजी ने अपने **'अपूर्ण'**, **'कवि-चर्चा'** और **'नया संस्कार'** शीर्षक लेखों में अपूर्ण को मान दिया है। उनके नीचे के वाक्य इस अपूर्ण की प्रतिष्ठा के द्योतक हैं :

इस अधूरे के भीतर भी उस पूरे का ही प्रकाश है। जिन नवबयस्कों की रसना और दन्तपंक्ति में बुढ़ापे का कीट नहीं लग गया, उन्हें कच्चे आम में भी पक्के रसाल से अधिक रस मिलता है।

इसी मानवता में भारतीय संतोष की वृत्ति भी छिपी हुई है। देखिए :

आनन्द देवता के उदार हाथों से जब जो मिले उसी से सन्तुष्ट हो सकने में ही हमारा गौरव है। नहीं तो हम में और सिर फोड़कर धरना देने वाले मंगतों में अन्तर ही क्या रहा।

और देखिए :

जिनकी सीमा छोटी है, उन्हें निराश नहीं होना चाहिए। छोटा ही बड़ा होने का आधार है।

ऐसी सूक्तियाँ किसका उत्साहवर्द्धन नहीं करेंगी ? मुझे तो अपनी अपूर्णताओं के लिए विशेषकर नये संस्करणों की काट-छाँट में बड़ा सन्तोष मिलता है। गुप्तजी ने काका कालेलकर को श्रेय देते हुए सुझाया है कि दुष्यन्त जैसे धीरललित नायक को अपनी प्रियतमा शकुन्तला के चित्र बनाने में काट-छाँट की आवश्यकता पड़ी थी और इस आधार पर वे कहते हैं कि कालिदास को भी अपनी रचनाओं में संशोधन की आवश्यकता पड़ी होगी। क्योंकि कवियों के बहुत से कथन आत्मकथात्मक होते हैं। इस बात में मैं अपने को कालिदास से बढ़ा-चढ़ा मानने का गर्व रखता हूँ। 'घोड़ाशाही' में कवि ने मशीन युग के प्रति गांधीवादी प्रतिक्रिया का बड़े ज़ोरदार शब्दों में परिचय दिया है। देखिए पिछले आक्रमणकारियों और आज के मशीन युग के आक्रमणकारियों की तुलना करते हुए वे लिखते हैं :

आज का घोड़ा और घुड़सवार वैसा नहीं है। शरीर उसका लोहे का, प्राण उसका दानव का। कल्पना का दानव उसमें साकार हो उठा है। सदियों के घोड़े और घुड़सवार आज कहीं एकत्र हो जायँ, तब भी क्या संख्या, बल और क्या बर्बरता किसी बात में आज के घोड़ों का मुकाबला नहीं कर सकते···

कितने देश, कितनी सेनाएँ, कितने जन-समूह उसके खुरों के नीचे पिसे हैं और पिसेंगे, इसका हिसाब नहीं।

इन निबन्धों में विषय-प्रतिपादन की ओर झुकाव कम है। पाठकों को आत्माभिव्यक्ति द्वारा अपने हृदय के रस में मग्न करने की प्रवृत्ति अधिक है। लेखक अपनी बात में चर्वणानन्द लेता हुआ दिखाई देता है। इस कारण एक ही बात को कई प्रकार से व्यक्त करने की ओर झुकाव है। इसके लिए रूपकों और प्रतीकों का सहारा लिया गया है। इनके कारण गद्य भी कवित्वमय हो जाता है। बहुत से स्थानों में बिना रूपकों के भी रस-वर्षा होने लगती है। 'छुट्टी' की नीचे की पंक्तियों में करुण रस मूर्तिमान हो उठा है। देखिए :

वह गायों के लौटने का स्वर सुनाई पड़ता है। संध्या हो गयी है। थनों में दूध भरकर बच्चों की माताएँ दौड़ी आ रही हैं। मार्ग में गोधूलि फैल गयी है। अंधेरा छाने लगा है। बच्चे मदरसे से लौटकर आ गये हैं। घर-घर में संध्या के दीपक जाग उठे। सब कुछ हुआ, वही एक बच्चा लौटकर नहीं आया। घर पर उसकी पोथियों का बस्ता बँधा पड़ा है। मदरसे में किसी ने उसकी सुधि नहीं ली। अध्यापक उसे भूल गया है। भूली नहीं है बच्चे की बेचारी माता। उसके हृदय-पट पर अब भी वह अंकित रहेगा। वहाँ स्थान है, वहाँ से छुट्टी उसे नहीं मिल सकती।

इसमें करुण रस के सभी अंग वर्तमान हैं। बच्चा आलम्बन है उसका बस्ता उद्दीपन है। और सब चीज़ों का भाव बच्चे के अभाव को उग्र रूप से हमारे सम्मुख ले आता है। माता आश्रय है स्मृति और विषाद संचारी हैं। 'वहाँ स्थान है, वहाँ से छुट्टी उसे नहीं मिल सकती' इससे शोक स्थायी का स्थायित्व झलक रहा है। संध्या के शोकमय वातावरण को कई रूपों में उपस्थित करने से उसकी कालिमा के स्तर और भी गहरे हो जाते हैं। इस गद्य खण्ड में सुनार की सी हलकी चोटें हैं, अन्त में लुहार की भी एक बड़ी चोट है। यह वातावरण गुप्तजी की शैली का सुन्दर नमूना है। कुछ वर्ष हुए एक चीनी औषध विक्रेता का एक विज्ञापन निकला था, उसमें एक मनुष्य के मस्तिष्क में कील ठोकी जा रही थी। गुप्तजी के छोटे-छोटे वाक्य इसी तरह कील ठोकने का सा काम करते हैं (उदाहरण की बीभत्सता को सियारामशरणजी क्षमा करेंगे।)

गुप्तजी की विचारधारा प्रायः जीवन की किसी साधारण घटना से आरम्भ होती है। इसी घटना के प्रस्तर खण्ड से विचारधारा की जाह्नवी का स्रोत बह चलता है। एक अंधेरी रात में पड़े-पड़े विवाहोत्सव में छुटाई हुई फुलझड़ी के साथ ही साथ हमको विचारों की फुलझड़ी के दर्शन होते हैं :

विवाह के उत्सव में आज की फुलझड़ी की यह क्रीड़ा करके मनुष्य ने अपनी निर्भयता का ही प्रचार किया है। उसने कहा—भले ही जीवन क्षणिक हो, भले ही इन नक्षत्रों के सामने वह क्षुद्र हो, उसकी शहनाई का स्वर धीमा नहीं पड़ सकता। मिट जाने के भय पर उसने विजय पा ली है। जीवन के छोटे-छोटे बिन्दुओं से उसने ऐसे महासागर की सृष्टि कर रखी है, जिसका अस्तित्व प्रलय में भी समाप्त नहीं होगा, जो अथाह है, दुर्लङ्घ्य है, सुविस्तीर्ण है। जहाँ हमारे प्राचीन कवि विस्फोट से भरे हुए इस जीवन-ज्वालामुखी के शिखर पर बैठे हुए मानव को जीवन की क्षण-भंगुरता का उपदेश दे उसमें निराशा का संचार कर गये, वहाँ मृत्यु के मुख में पड़े हुए मनुष्य की अमर क्रीड़ा-वृत्ति का स्तवन कर आज का कवि हमारे हृदय में आशा का संचार करता है।

चिरायु हों हमारे ऐसे कवि जिन्होंने मृत्यु में भी अमरता के दर्शन करके 'मृत्योः मा अमृतं गमय' की प्रार्थना को जीवन में चरितार्थ किया है।

सियारामशरण के निबन्ध

[श्री शिवनाथ, एम० ए०]

श्री सियारामशरण गुप्त जैसे वैष्णव साहित्यकार के सम्बन्ध में लिखने तो बैठा हूँ, मगर हूँ बहुत ही भीत ! लगता है काम सामान्य आदमी से नहीं पड़ा है !! ऐसे आदमी से काम पड़ गया है जो पहले से ही हमें नालायक समझ बैठा है !!! कहता है :

"हमारे समालोचकों का हाल भी ऐसा ही है। उन्हें भी पूरा ही पूरा चाहिए। उस पूरे में भी देखने को यद्यपि वे कलंक ही देखेंगे, परन्तु इस अधूरे के लिए तो उन्हें इतना कष्ट भी स्वीकार न होगा।" [झूठ-सच, पृ० ५२—६७] यहाँ मैं इतना ही कह सकता हूँ कि आचार्य श्री हज़ारीप्रसाद द्विवेदी की कृपा से श्री सियारामशरण का 'झूठ-सच' मुझे पूरा ही पूरा मिल गया है, वह क्षतिग्रस्त नहीं है ! इस 'पूरे ही पूरे' 'पूर्ण चन्द्र' में मैं क्या देखूँगा यह तो बाद की बात है ! इस समय तो देख रहा हूँ कि 'झूठ-सच' के पृष्ठ श्वेत हैं और उन पर काले-काले अक्षर छपे हैं—वैसे ही जैसे चाँद की पीठ पर ज़रा काला-काला लगा है ! मैं श्री सियारामशरण से भीत हूँ, मगर वे मुझसे भीत नहीं, क्योंकि संबुद्धि-सम्पन्न कविकुल-गुरु कालिदास धीरज धरने की बातें कह गये हैं—**एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः।** डरने की बात क्या ? श्वेत और कृष्ण एक साथ युग-युग से हैं और रहेंगे। केवल श्वेत-श्वेत तो, कहा जाता है, देवताओं में होता है, मगर उनकी कालिमा उघरी हुई है ! मानव के प्रति उनका ईर्ष्या-द्वेष जग-विदित है ! वे 'देखि न सकहिं पराइ विभूती !' अस्तु ! साहित्य के क्षेत्र में खतरा तो तब उत्पन्न होता है जब समीक्षक भ्रांतिवश सुफेद को काला और काले को सुफेद देख लेता है। मेरा चश्मा साफ है, अतः डर की बात नहीं !

श्री सियारामशरण ने अपने विषय में एक बात कही है, कही हँसी-हँसी में ही है, मगर कही है, अतः उल्लेख्य है—**"कल के सम्बन्ध में विचार घोर नास्तिकों जैसे नहीं, तो सन्देहवादियों जैसे तो निश्चय ही हैं ! मेरे उपार्जन का लाभ मुझे आज ही चाहिए—कल के उधार का खाता खोलने की गुंजाइश**

मुझे कहाँ ?" [झूठ-सच, पृ० ६२] बात हँसी-हँसी में ही कही गयी है, इसलिए मैं गम्भीर ढंग से कुछ नहीं कहना चाहता—यद्यपि बात कहना गम्भीर ही चाहता हूँ; और वह यह कि जहाँ तक सच्चे निर्णय की बात है, उसे करता 'कल' ही है, 'आज' को चाहे जितना महत्त्व हम क्यों न दें। 'आज' के सामने चीजें इतनी निकट रहती हैं कि वह तटस्थतापूर्वक उनके सम्बन्ध में निर्णय नहीं कर पाता। इसी कारण हम देखते हैं कि 'आज' जिन साहित्यकारों की धूम रहती है, 'कल' वे अपने अस्थायी तत्त्वों के कारण आँखों से ओझल हो जाते हैं। 'ऐसे ही 'आज' जिन्हें कोई नहीं पूछता, कल वे साहित्यकारों के सिरताज बनते हैं—अपने स्थायी तत्त्वों के कारण तुलसीदास, शेक्सपीयर, आदि साहित्यकारों को विश्व-साहित्यकार 'कल' ने ही बनाया, क्योंकि सच्चा निर्णायक 'कल' होता है। 'कल' की परिधि में आकर अतात्त्विकता झड़ जाती है और कुछ सार रहा तो वही शेष रह जाता है, इस प्रकार साहित्य वा साहित्यकार का असली मूल्यांकन होता है। अतः 'मेरे उपार्जन का लाभ मुझे आज ही चाहिए,' यह कहने से लाभ क्या ? सच्चा मूल्यांकन तो कल ही करेगा। फिर, सियारामशरण जैसे प्राणवंत साहित्यकार ऐसा क्यों सोचें। वे बहुत कम लिख पाये, यह ठीक; मगर जो लिखा है और जितने ढंगों से लिखा है वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। जीवन और समाज के तत्त्वों को लेकर उन्हें साहित्य का जो रूप उन्होंने दिया है वह काफी प्राणवंत है। इस प्रकार रूप देने का क्रम अभी टूटा नहीं है। यद्यपि क्रम की गति मध्यम है। एक बार उन्होंने कहा भी है : **"साहित्य की मिट्टी लेकर उसमें प्राण-संचार करने की बात कुछ इसी तरह आज भी मेरे मन में चल रही है। कह नहीं सकता, इसी तरह कब तक चलती रहेगी।"** (झूठ-सच, पृ० ६८)

(२)

श्री सियारामशरण गुप्त ने अपने विषय में ये बातें स्वरचित निबन्धों में व्यक्त की हैं, अन्य वैयक्तिक बातें भी इनमें कही गयी हैं। इनमें बाल्यकाल की स्मृति, गुरुजनों के संस्मरण, यात्रा तथा अन्य व्यक्तियों, वस्तुओं के वर्णन, भावात्मक अभिव्यक्ति, वाग्विलास, जीवन, समाज तथा साहित्य-सम्बन्धी तथ्य चिन्तन, आदि-आदि भी निहित हैं। इन निबन्धों द्वारा श्री सियारामशरण ने अपने को अभिव्यक्त किया है। लगता है कि काव्य, उपन्यास और कहानी में आत्माभिव्यक्ति के लिए स्थान अथवा अवकाश मिलता न देख इस कार्य की सिद्धि के लिए वे निबन्ध रचना में संलग्न हुए। वैसे साहित्यकार स्वरचित साहित्य में किसी न किसी रूप में अभिव्यक्त होता है। साहित्य साहित्यकार

की छाया है ही। मगर साहित्य के सभी रूपों वा अंगों में वह अपने को खुलकर अभिव्यक्त नहीं कर पाता। काव्य में काव्यतत्त्व की सन्निहिति, कथा तथा नाटक में पात्र और वस्तु की सम्यक् संयोजना तथा उनके सुलझाव, आलोचना में आलोच्य की मीमांसा पर ही विशेष दृष्टि रखने के कारण उनमें अपने खुले व्यक्तित्व और अपनी चिंतना साहित्यकार स्वतन्त्र तथा निस्संकोच रूप से नहीं व्यक्त कर पाता। साहित्य के एक अंग निबन्ध में इस प्रकार की पूरी स्वतंत्रता, सुविधा तथा पूरा निःसंकोच रहता है। इसी कारण साहित्यकार अपनी वैयक्तिकता तथा चिंतना को प्रस्तुत करने के लिए निबन्ध को साधन के रूप में ग्रहण करता है। श्री सियारामशरण ने भी ऐसा ही किया है। ऊपर इसका निर्देश हुआ है कि साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा निबन्ध में आत्माभिव्यक्ति के लिए अत्यधिक अवकाश रहता है। कहना तो यह चाहिए कि निबन्ध की रचना इसलिए होती ही है। खुली अभिव्यक्ति पर ही प्रधान दृष्टि होने के कारण निबन्धों में पाठक, श्रोता तथा निबन्धकार के बीच काफी सीधा व साक्षात् सम्बन्ध स्थापित होता हुआ दिखाई पड़ता है। काव्य, कथा, नाटक, आलोचना में ऐसा साक्षात् दर्शन कम होता है, कहीं-कहीं तो नहीं भी हो पाता। इस प्रकार ज्ञात होता है कि निबन्ध के दो प्रधान तत्त्व हैं : एक निबन्धकार की वैयक्तिकता तथा चिंतना की उसमें अभिव्यक्ति तथा दूसरा उसके द्वारा श्रोता, पाठक और निबन्धकार में साक्षात् सम्बन्ध स्थापन। खुली अभिव्यक्ति ही निबन्ध का प्रधान लक्ष्य होने के कारण निबन्ध की अभिव्यक्ति-पद्धति में भी प्रायः सीधापन देखा जाता है। विशुद्ध कोटि के निबन्ध में अभिव्यक्ति की अनावश्यक वक्रता कम मिलेगी, क्योंकि उसमें विचारों की अभिव्यक्ति ही प्रायशः करनी पड़ती है। इसी कारण निबन्ध प्रधानतः विचार-संकुल ही होते हैं। स्मरण रखने की बात है कि यहाँ मैं आधुनिक विशुद्ध निबन्धों पर दृष्टि रखकर ही ये बातें कह रहा हूँ। वैसे साहित्य के अन्य अंगों के तत्त्व एक दूसरे में किसी न किसी रूप में मिलते ही हैं। निबन्ध में भी काव्य, कथा, नाटक के तत्त्व प्रसंगतः अल्प रूप में आ जाते हैं, परन्तु उसमें प्रधानता विचारों की ही होती है; और इसमें इनका होना ही इसकी सार्थकता है।

(३)

श्री सियारामशरण गुप्त ने अपने निबन्ध में जो चिन्तनाएँ व्यक्त की हैं उन्हें स्थूलतः तीन कोटियों में रख सकते हैं—जीवन, समाज, और साहित्य की कोटियों में। जीवन, समाज तथा साहित्य के सम्बन्ध में उन्होंने यथाप्रसंग अनेक उपज्ञात चिंतनाएँ उपस्थित की हैं। यहाँ प्रधान-प्रधान चिंतनाएँ ही सम्मुख रखना हमारा

लक्ष्य है। निबन्धकार अपनी 'छत पर' अनेक वस्तुओं और घटनाओं को देखता, सुनता और स्मरण करता है। वह तारे और उनका टूटना देखता है; विवाह की शहनाई और उस अवसर के गीत सुनता है; विवाह के उल्लास—विशेष रूप से वर-वधू के—का स्मरण और उसकी कल्पना करता है; आदि, आदि। इन सबका निष्कर्ष वह यह निकालता है—[**"भले ही जीवन क्षणिक हो, भले ही इन नक्षत्रों के सामने वह क्षुद्र से क्षुद्र हो, उसकी शहनाई का स्वर धीमा नहीं पड़ सकता। मिट जाने के भय पर उसने विजय पा ली है। जीवन के छोटे-छोटे बिन्दुओं से ही उसने ऐसे महासागर की सृष्टि कर रखी है, जिसका अस्तित्व प्रलय में भी समाप्त नहीं होगा; जो अथाह है, दुर्लंघ्य है, सुविस्तीर्ण है।"**] (झूठ-सच, पृ० १७२) इस प्रकार श्री सियारामशरण ने जीवन को शाश्वत माना है। इसका अन्त कभी नहीं होता। ऐसे ही विचार उन्होंने 'मनुष्य की आयु दो सौ वर्ष' नामक निबन्ध में भी सम्मुख रखे हैं। उन्होंने जीवन को एक अटूट धारा के रूप में ग्रहण किया है, जिसकी कभी समाप्ति नहीं। जीवन जाता है, तो वह आता भी है। ऐसी हालत में उसके जाने की चिन्ता क्यों करें? और, 'नयी खेप' के लिए स्थान भी खाली क्यों न करें? [**"हमारा जीवन निरन्तर प्रवाहशील है। हम जानते हैं, इसी कारण वह इतना निर्मल है। हम डरें किस लिए कि वह गया। वह गया तो पीछे से और आ भी तो रहा है।"**] (झूठ-सच, पृ० ३३) अतः निबन्धकार ऐसे विज्ञान के प्रति आकृष्ट नहीं है जो 'मनुष्य की आयु दो सौ वर्ष' की भी कर सकता है।

जीवन के प्रति यह एक धारामयी दृष्टि और तद्‌गत आशावाद युग-युग से अनेक संघर्षों को जीतते हुए आगे बढ़े चले आने वाले मानव की विजय-यात्रा की स्वीकृति है, जो किसी भी रूप में अतिशयोक्तिपूर्ण अथवा नकली नहीं है। यह स्वीकृति स्पष्टतः घोषणा करती है कि मानव कितना महान् है! उसने क्या नहीं किया है; और उसके किये द्वारा यह निष्कर्ष निकलता है कि वह क्या नहीं कर सकता? श्री सियारामशरण ने मानव-जीवन के प्रति जो विचार प्रकट किये हैं वे आधुनिक युग की चिन्तना-धारा की प्रधान लहरें हैं।

सिद्धान्ततः मानव-जीवन के प्रति इतनी आशामयी दृष्टि के साथ ही व्यवहारतः समाज में गिरी, दलित मानवता को देख श्री सियारामशरण के हृदय को धक्का भी लगता है। ऐसी स्थिति में वे इसके प्रति सहानुभूति तथा समाज के प्रति रोष भी प्रकट करते हुए देखे जाते हैं। 'हिमालय की झलक' में कुली की गिरी अवस्था देख कहते हैं [**"कपड़े कुलियों के शरीर पर थे, पर क्या कपड़े ही उन्हें कहना चाहिए? किसी मरणासन्न वृद्ध को बालक कह सकें, तो उन**

चिथड़ों को भी हम कपड़े कह सकते हैं। 'बाबू, हम आपका सामान ले चलेंगे, हमें ले चलिए, हमें !'—उनकी इस कातर प्रार्थना में न जाने क्या बात थी कि जी काँप उठा। उसमें कातरता थी, उसमें धिक्कार था, उसमें भर्त्सना थी क्या नहीं था उसमें ?"] (झूठ-सच, पृ० २२०)

श्री सियारामशरण ने समाज में व्याप्त आधुनिक सभ्यता के दुष्परिणामों पर भी कड़े छींटे मारे हैं। 'बहस की बात' नामक निबन्ध का मूल विषय है आधुनिक शिक्षा-दीक्षा द्वारा पूर्व को पश्चिम और पश्चिम को पूर्व सिद्ध करने की मनोवृत्ति। विश्वविद्यालयों की शिक्षा-दीक्षा तथा न्यायालयों की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में एक स्थान पर कहा है—[**"इस अचिर जीवन का केवल आधा ही लेकर अपने प्रमाण-पत्र के साथ वे (हमारे विश्वविद्यालय) हमें छुट्टी दे देते हैं कि अब तुम किसी भी राजदरबार में जाकर पूर्व को पश्चिम घोषित कर सकते हो और पश्चिम को पूर्व। न्यायालयों में जितने मामले पहुँचते हैं, उनमें अधिकांश इन सम्मुख-विरोधी दो दिशाओं के विवाद के ही नये-नये आदर्श अथवा साँचे हैं।**] (झूठ-सच, पृष्ठ ३) निबन्धकार का यह समाज-दर्शन अयथार्थ नहीं है।

'अन्य भाषा का मोह' में श्री सियारामशरण ने अंग्रेज़ों की नकल की हमारी मनोवृत्ति का निर्देश कर छींटे मारे हैं। वे कहते हैं कि हमने अंग्रेज़ों की भाषा सुनी, उनके समान नहीं बोल सके, उन्होंने कहा—'तुम हमारी भाषा समझ नहीं सकते।' ऐसा सुन हमने अपने में हीनता का अनुभव किया, और इस प्रकार अंग्रेज़ी भाषा की ओर दौड़े। यह हमारी मानसिक पराजय थी, यही घातक हुई; तलवार वाली पराजय तो मामूली थी। हमने अंग्रेज बनने की खूब नकल की—मन से भी और वेशभूषा आदि से भी, यद्यपि कभी सफल नहीं हुए। हमारी योग्यता-अयोग्यता की पहचान अंग्रेज़ी बोलना ही रह गया। हमने अंग्रेज़ों के गुणों की ओर ध्यान नहीं दिया **"फिर भी हमारे शिक्षित ने किया क्या है—अंग्रेज का फोटोग्राफ और ग्रामोफोन अपने ऊपर लादकर वह समझ रहा है, हमने अंग्रेज को पा लिया !"]** (झूठ-सच, पृष्ठ ४४) भारतेन्दु-युग के निबन्धकारों ने हमारी इस मनोवृत्ति पर खूब लिखा है। द्विवेदी युग के पुनरुत्थानवादी वृत्तिवाले निबन्धकारों ने भी प्रधानतः ऐसे ही विषय लिये हैं। ऐसे सभी निबन्धकारों का लक्ष्य हमारे में अपनेपन का बोध कराना, उसे जगाना है। श्री सियारामशरण की दृष्टि भी यहाँ इसी पर है।

समाज-स्थित एक-दूसरे से अपने को दुराने-छिपाने, आत्मगोपन, की मनोवृत्ति पर लक्ष्य कर **'घूँघट में'** नामक निबन्ध में निबन्धकार ने कहा है कि [**"कितने कौशल में, कितने आडम्बर में, कितनी बनावट में हमने अपने को**

छिपा रखा है, यह हम तक नहीं जानते। उन महिलाओं की तरह ही हम सब के सामने से निकल जाते हैं और देखने वाले समझते हैं, हमने देख लिया, हमने पूरा का पूरा परिचय पा लिया।"] (झूठ-सच, पृष्ठ ११६) मगर हमारा पूरा का पूरा परिचय कोई पाता नहीं है, यद्यपि पारस्परिक मेल-जोल का हमारा साबका नित्य पड़ता है। इसका कारण यह है कि हम अपने मन की बात साफ-साफ व्यक्त नहीं करते, हमारे मन में कुछ रहता है और हमारी वाणी में कुछ और। हमने अपने मन की बात को छिपाना खूब अच्छी तरह सीखा है। यही हमारी प्रगाढ़ आत्मगोपन वृत्ति है, जो आधुनिक सभ्यता की देन है। श्री सियारामशरण की दृष्टि इस पर है और वे इस मायावी वृत्ति पर चोट करते देखे जाते हैं।

संपादक ने 'धन्यवाद'-पूर्वक लेख लौटा दिया। इस 'धन्यवाद' की चर्चा करते हुए निबन्धकार कहता है—**"इसे सँभालकर रखूँगा। आधुनिक सभ्यता की यह एक बहुत बड़ी देन है। अच्छे में और बुरे में, खोटे में और खरे में, कहीं भी यह बेखटके चलाया जा सकता है।"]** (झूठ-सच, पृष्ठ २०६)

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवन तथा समाजगत—सैद्धान्तिक और व्यावहारिक—सभी तथ्यों पर निबन्धकार की दृष्टि यथाप्रसंग गयी है। किसी भी विषय की चर्चा करते हुए जब-जब ये पकड़ में आये हैं तब-तब उसने इनकी चर्चा और मीमांसा भी की है। चर्चा और मीमांसा वा चिन्तना की पद्धति निबन्धकार की अपनी है, उद्धरणों द्वारा यह बात स्पष्ट है। निबन्धकार सारी बातें अपनी दृष्टि से देखता, और अपने ढंग से कहता है। उसकी दृष्टि और पद्धति में मौलिकता का अभाव नहीं मिलेगा। चिन्तनाओं को देखने से यह स्पष्ट है कि श्री सियारामशरण समाज तथा जीवन की ओर प्रवृत्त हैं, उनसे न स्वयं हटना चाहते हैं और न दूसरों को हटाना चाहते हैं। जीवन और समाज में लगे रहना ही वे मानव की सार्थकता मानते हैं। उनकी चिन्तनाएँ जीवन तथा समाज में संघर्ष करते हुए आगे बढ़ने-बढ़ाने वाली चिन्तनाएँ हैं अतः वे प्राणदायिनी हैं।

श्री सियारामशरण की दृष्टि वर्तमान जीवन तथा समाज पर विशेष है, इसे हमने देखा है। हमने देखा है कि हमारे वर्तमान जीवन तथा समाज के वे दूषित पक्ष जिनके द्वारा आज मानवता सही-सलामत नहीं रहती निबन्धकार के दृष्टि-पथ में अवश्य आये हैं। मानव के साथ मानवता का वर्ताव न करने वाली वर्तमान स्वार्थ से दूषित वृत्तियों पर निबन्धकार के छींटे पड़े हैं। तात्पर्य यह कि प्रधानतः वर्तमान समाज तथा जीवन की पीठिका पर ही श्री सियाराम-

शरण की चिन्तनाएँ आधृत हैं। वर्तमान समाज में सर्वत्र व्यापी 'घोड़ेशाही' वृत्ति का उल्लेख उन्होंने इस प्रकार किया है—[**"कौन है वह स्थान, कौन है वह देश, जहाँ का मानव कहीं खुले में कहीं छिपकर, आज की घोड़ेशाही (पूँजीवाद, यन्त्रवाद, बर्बरता का प्रतीक) से पीसा न जाता हो। संसार की अन्तरात्मा का दम आज भीतर ही भीतर घुट रहा है। सारे का सारा आकाश आच्छादित है, चिमनियों के सफेद और काले धुएँ से। मनुष्य के ऊपर आज से बढ़कर संकट कभी नहीं आया।"**] (झूठ-सच, पृष्ठ १६२) [**"सदियों के घोड़े और घुड़सवार आज कहीं एकत्र हो जायँ, तब भी, क्या संख्या बल और क्या बर्बरता—किसी बात में—आज के घोड़े का मुकाबला नहीं कर सकते।"**] (वही, पृष्ठ १६३)

(४)

जिस दृष्टि तथा पद्धति से श्री सियारामशरण ने जीवन तथा समाजगत तथ्यों के सम्बन्ध में चिन्तनाएँ की हैं, उन्हीं का उपयोग उन्होंने साहित्यगत चिन्तनाओं में भी किया है। उनकी साहित्य-सम्बन्धी चिन्तनाएँ भी जीवन तथा समाज सम्बन्धी चिन्तनाओं की भाँति ही प्राणवती हैं। वे भी हमें आगे बढ़ाने वाली हैं। साहित्यिक तथ्यों को सम्मुख रखते हुए श्री सियारामशरण ने जीवन तथा समाज को छोड़ा नहीं है, वे सदैव इनके साथ चले हैं। जीवन तथा समाज-गत यथार्थ पर उनकी आँखें सदैव और सर्वत्र गड़ी हैं। इसी कारण उन्होंने 'शुष्को वृक्षः' नामक निबन्ध में बाणभट्ट के कनिष्ठ पुत्र को कल्पना-लोक का प्राणी कहा है, जिसने ठूँठ को भी देखकर कहा था—"नीरसतरुरिह विलसति पुरतः।" जैसे उसने ठूँठ को देखा ही नहीं, यथार्थ को देखा ही नहीं और कल्पना द्वारा यह अभिव्यक्ति कर दी। ठूँठ का उसके ऊपर प्रभाव ही नहीं पड़ा, ज्येष्ठ पुत्र पर इसका प्रभाव पड़ा क्योंकि वह यथार्थ-द्रष्टा है, इसी कारण उसने कहा "शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे" इसी प्रसंग में निबन्धकार ने यह भी कहा है कि कोमलता में ही नहीं, कठोरता में भी रस है।

जीवन तथा समाज के साथ ही साहित्य को ले चलने के हिमायती होने के कारण ही श्री सियारामशरण के विचारों का मेल कोरे साहित्यवादियों के विचारों से नहीं खाता जो साहित्य के क्षेत्र से निकलकर समाज के संघर्षों के बीच नहीं पड़ना चाहते, जो साहित्य को समाज के संघर्षों के बीच नहीं लाना चाहते, जो साहित्य को दरबार अथवा ड्राइंगरूम तक ही परिमित रखना चाहते हैं। श्री सियारामशरण का पक्ष है कि 'साहित्य' की रचना दरबार में नहीं हो सकती। कोई भी ज़बरदस्ती साहित्य की रचना नहीं करा सकता, क्योंकि

"साहित्य की प्रकृति स्वतंत्र है।" (झूठ-सच, पृष्ठ ८६) साहित्य को राजनीतिक पर अविश्वास नहीं करना चाहिए, उसकी बातें भी अनुचित नहीं हैं। वह कहता है—"**आओ बाहर निकल कर देखो। वह इतनी बड़ी मानवता उत्पीड़ित होकर भय से, अत्याचार से और सबसे बढ़कर अपमान की असह्य लज्जा से मूक होकर खड़ी है। उसे तुम अपना कण्ठ स्वर दो। इस विलास-गृह की अपेक्षा वहाँ तुम्हारी आवश्यकता अधिक है।**" (झूठ-सच, पृष्ठ ८७) 'साहित्य और राजनीतिक' नामक इस निबन्ध के अन्त में निबन्धकार ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है···"राजनीतिक स्वतंत्रता का योद्धा है। स्वतंत्रता का मूल्य उससे छिपा नहीं। साहित्यकार स्वतंत्र भाव से उसका सहयोगी हो, तभी उसे सन्तोष होगा। बने हुए दरबारी से उसका समाधान नहीं हो सकता।" (वही, पृष्ठ ९१)

श्री सियारामशरण साहित्य के क्षेत्र में चमत्कारवाद को रंचमात्र भी स्थान नहीं देना चाहते। वे इसे साहित्य-क्षेत्र की वस्तु स्वीकार ही नहीं करते। साहित्यकार को भी वे इससे दूर हुआ देखना चाहते हैं। कहते हैं—"**साहित्य-साधक को हम पैगम्बर हुआ नहीं देखा चाहते। अपने आप में ही वह कुछ छोटा नहीं है। आशुरचना का चमत्कार दिखाकर किसी को मुग्ध करने की आवश्यकता ही उसे कौन-सी ? उसकी अपनी साधना से बढ़कर दूसरा कोई चमत्कार नहीं हो सकता।**" (झूठ-सच, पृष्ठ १५४) "**साहित्य का उद्देश्य कोरे चमत्कार के ऊपर नहीं टिका है। यही गुण यदि उसका सर्वोपरि गुण होता, तब बाजीगरों के काम की गणना भी साहित्य में हुई होती। ऐसा साहित्य जीवित नहीं रह सकता।**" (वही, पृष्ठ १५३)

साहित्य-सम्बन्धी विशुद्ध सैद्धान्तिक बातें भी श्री सियारामशरण ने कही हैं। मगर स्मरण यह रखना है कि इस तरह की बातें सिद्धान्त स्थापन करने के लक्ष्य को दृष्टिपथ में रखकर कभी नहीं कही गयीं। ये प्रसंग से ही अभिव्यक्त हुई हैं। अभिप्राय यह कि इन्हें अभिव्यक्त करते हुए श्री सियारामसरण साहित्य-शास्त्री के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित नहीं होते, वरन् कारयित्री प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार के रूप में सामने आते हैं, जो समीक्षा के क्षेत्र की बातें भी कह सकते हैं—अपने अध्ययन, मनन, अनुभूति, आदि के आधार पर। यहाँ ध्यान इस पर रखना है कि रचनाकार द्वारा कही गयी साहित्य-सिद्धान्त सम्बन्धी बातों में शास्त्रीयता की चाहे कमी हो, मगर उनमें उसकी अपनी अनुभूति का प्राधान्य रहता है, क्योंकि रचना करने के दरम्यान एतत्सम्बन्धी उसे अनेक अनुभव होते रहते हैं। ऐसी स्थिति में रचनाकार द्वारा कही गयी साहित्य-सिद्धान्त

सम्बन्धी बातों में आत्मकता (सब्जेक्टिविटी) अधिक होती है और परात्मकता (आब्जेक्टिविटी) कम। श्री सियारामशरण की साहित्य-सिद्धान्त सम्बन्धी बातों के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए। कवि के सम्बन्ध में वे कहते हैं— **"कवि में यही एक बड़ा दोष होता है कि जाग उठने पर वह अपने भीतर का ही देखना सुनना पसन्द करता है, बाहर से जैसे उसे कोई सरोकार नहीं रहता !"** (झूठ-सच, पृष्ठ ७८)। रचना-वृत्ति के उदय होने पर रचनाकार में रचना की ओर जो संलग्नता होती है, उसी को दृष्टि-पथ में रखकर कवि के सम्बन्ध में ये बातें कही गयी हैं। रचना-वृत्ति के उदय होने पर रचनाकार सर्वत्र से अपने को समेटकर अपनी समान रचना में ही लगाता है—जैसे उसके चारों ओर कुछ हो ही न रहा हो। कवि के सम्बन्ध में ये बातें भी उन्होंने कही हैं—**"कवि विधाता की असाधारण सृष्टि है। अथवा कहना यह चाहिए कि कवि सृष्टि न होकर स्रष्टा के रूप में ही अपने आप प्रकट हुआ है। उसका गौरव उसी में है; किसी बाह्य सज्जा की आवश्यकता उसे नहीं पड़ती।"** (झूठ-सच, पृष्ठ १२)

पद्य को 'साहित्य की वाणी' कहा है और गद्य को उसका 'कर्तव्य'। (झूठ-सच, पृष्ठ १२) 'पद्य कोमलता का प्रतीक है और गद्य पौरुष का।' (वही, पृष्ठ १३) निबन्धकार ने गद्य को 'दुनियादार' कहा है, जो तुरन्त किसी पर विश्वास नहीं कर लेता, 'तर्क-वितर्क' जिसका प्रधान आधार होता है, जिसके कारण किसी के "आँसू देखकर ही वह द्रवित नहीं हो जाता।" वही पृष्ठ है— **"आजकल की बहुत सी कविताएँ बिना नाम या बिना शीर्षक की भी दिखाई देती हैं। गद्य की परुषता से उन्हें बचाने के लिए ही ऐसा किया जाता है।··· वे छोटी कविताएँ जिनका नामकरण नहीं होता, कवि की हृदय-भूमि में इसी प्रकार उपस्थित होती हैं। नाम और पते के बिना ही वे अपना काम कर जाती हैं।"** (वही, पृष्ठ १४)। इसी सिलसिले में श्री सियारामशरण ने कहा है कि किसी रचना का 'उपयुक्त' शीर्षक लगाना बहुत ही समझदारी और कुशलता का काम है। "रचना के नामकरण में लेखक को कम कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता।" ऐसा करते हुए "वह स्वयं अनुभव करता है कि उसने वस्तु के अपेक्षित मूल्य का आंशिक ही दिया है, सम्पूर्ण नहीं।" (वही, पृष्ठ ११) रचना के नामकरण की इस दुःसाध्यता के कारण ही कम ही रचनाओं पर उपयुक्त शीर्षक लग पाते हैं। निबन्धकार को 'एक शीर्षक' पर विचार करते हुए ही ये सारी बातें कहनी पड़ी हैं। एक कवि ने अपनी कविता का नाम 'उपेक्षिता सुनन्दा' रख दिया। श्री सियारामशरण का

कथन है कि 'सुनन्दा' से ही काम चल जाता, 'उपेक्षिता' भी लगा देने से तो रचनाकार की गद्य-प्रवृत्ति व्यक्त हो गयी, और इस गद्य के विषय में निबन्धकार के विचार हमने अभी देखे हैं। ऐसी स्थिति में निबन्धकार रचना को बिना शीर्षक के ही रहने देने की ओर रुजू है। यह श्री सियारामशरण का मत है। बिना शीर्षक की छायावादी, रहस्यवादी कविताओं का अर्थ निर्णय करने में कितना अनर्थ हो जाता है और उनके कितने अर्थ हो जाते हैं, यह किसी अर्थ लगाने का व्यापार करने वाले— मतलब अध्यापक—से छिपा नहीं है ! श्री सियारामशरण को इस जाति के प्राणियों पर भी तनिक ध्यान रखना चाहिए था !

(५)

यथाप्रसंग मैंने निबन्ध में वैयक्तिकता तथा चिन्तना की अभिव्यक्ति की चर्चा की है। इसमें विचारात्मकता के प्राधान्य की बात भी कही गयी है। निबन्धकार तथा पाठक और श्रोता में साक्षात्सम्बन्ध-स्थापन की वृत्ति के कारण इसमें प्रायः अभिव्यक्ति के सीधेपन का उल्लेख भी हुआ है। निबन्ध की इस प्रकार की भूमिका में हमने श्री सियारामशरण गुप्त के निबन्धों में प्रवाहित जीवन, समाज और साहित्य-सम्बन्धी चिन्तना-धारा को देखा है। अभिव्यक्त चिन्तनाओं के देखने से ज्ञान होता है कि वे उपज्ञात अथवा मौलिक हैं। उपज्ञात अथवा मौलिक इस दृष्टि से कि श्री सियारामशरण की सभी बातों तक पहुँच अपने प्रस्थान से चलकर हुई है। जीवन, समाज और साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने जो अनुभव किया है; जिसे उचित समझा है, जो मंगलकारी है उसे निःसंकोच भाव से और अपनी पद्धति से व्यक्त किया है। इन चिन्तनाओं की गहराई और ऊँचाई के सम्बन्ध में मुझे कुछ नहीं कहना है। इस सम्बन्ध में मेरा यही वक्तव्य है कि श्री सियारामशरण अपनी चिन्तनाओं के क्षेत्र में जितने गहरे और ऊँचे जा सके हैं उतने गहरे और ऊँचे जाकर पूरी सचाई के साथ उन्होंने इन्हें हमारे सम्मुख रख दिया है। ऐसी स्थिति में निबन्धकार में चिन्तनाओं की अभिव्यक्तिगत सचाई, निःसंकोच मौलिक पद्धति, आदि का ही महत्त्व है, चिन्तनाएँ चाहे उच्च कोटि की हों, चाहे मध्यम कोटि की। श्री सियारामशरण की चिन्तनाएँ निम्न कोटि की नहीं हैं, इसे तो स्वीकार ही कर लेना चाहिए। यही मौलिकता निबन्ध का प्राण है, यही निबन्ध को असलियत और खरापन देता है। इसके साथ ही विचारों की गहराई और ऊँचाई ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है त्यों-त्यों निबन्ध की विशेषता भी बढ़ती जाती है।

निबन्ध के विषय में एक जिज्ञासा उठती है, जो स्वाभाविक भी है, वह

यह कि निबन्ध को रचनात्मक (क्रिएटिव) साहित्य मानें अथवा समीक्षात्मक (क्रिटिकल) साहित्य ? क्योंकि निबन्ध की परिमिति में तो ये दोनों प्रकार के ही साहित्य आते हैं, समीक्षात्मक निबन्ध भी तो निबन्ध ही हैं। निबन्धगत मौलिकता, चिन्तना, आदि की चर्चा हम कर चुके हैं। वे विशुद्ध निबन्ध जिनमें ये तत्त्व मिलते हैं रचनात्मक साहित्य की कोटि में स्वीकृत हैं ही, उनके सम्बन्ध में तो विवाद है ही नहीं। मेरा मत है कि समीक्षात्मक निबन्ध भी एक प्रकार की रचनात्मकता होती है, अतः यह भी निबन्ध की कोटि में रखा गया और रखा जाना चाहिए ही। समीक्षात्मक निबन्ध में यदि निबन्धकार का अध्ययन, मननमात्र व्यक्त हुआ तो वह उसकी अर्जित वस्तु हो गयी; मौलिक नहीं। इस कोटि के निबन्ध में मौलिकता तो तब आयेगी जब निबन्धकार अपने अध्ययन, मनन के आधार पर कुछ नयी, अभूतपूर्व वस्तु कहेगा। यह नवीनता वा मौलिकता कई प्रकार की हो सकती है। साहित्य के सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक किसी अंग की व्याख्या (इण्टरप्रिटेशन) हो सकती है, नवीन सिद्धान्त का निर्धारण हो सकता है, आदि-आदि। समीक्षात्मक निबन्धगत इन तत्त्वों में क्या मौलिकता, नव-निर्माण नहीं है ? यदि है तो समीक्षात्मक निबन्धों में भी रचनात्मकता स्वीकार करनी चाहिए; और इसी कारण वे निबन्ध की कोटि में आते भी हैं। ऐसे निबन्धों में मीमांसा का प्राधान्य होता है, रसात्मकता का प्राधान्य नहीं, इस कारण इन्हें रचनात्मक कोटि में नहीं रखना चाहिए, एक पक्ष ऐसा कह सकता है। मगर इनमें जिस ढंग की मौलिकता वा रचनात्मकता है, उस पर हमारी दृष्टि क्यों नहीं जाती ?

(६)

श्री सियारामशरण गुप्त के निबन्धों के प्रकारों की ओर एक स्थान पर मैंने संकेत किया है। स्थूलतः इनके प्रकार ये हैं :

(१) स्मृति-सम्बन्धी अथवा संस्मरणात्मक—(बाल्यस्मृति, मुंशीजी नामक निबन्ध संस्मरणात्मक हैं जिनमें मुंशी अजमेरीजी के संस्मरण हैं।) संस्मरणात्मक निबन्धों की विशेषता यह होती है कि संस्मरण्य व्यक्ति के व्यक्तित्व के साथ ही निबन्धकार के व्यक्तित्व का भी काफी उद्घाटन होता है। इसमें श्री सियारामशरण के व्यक्तित्व का जितना उद्घाटन होना चाहिए उतना नहीं हो सका। मुंशीजी के व्यक्तित्व को व्यक्त करने पर ही निबन्धकार की दृष्टि रही।

(२) वर्णनात्मक (हिमालय की झलक, घूँघट में)—ऐसे निबन्धों में वस्तुओं तथा व्यक्तियों आदि का वर्णन है। वर्णन की प्रधानता के कारण ऐसे

निबन्ध काव्य-तत्त्व से प्रभूत मात्रा में युक्त हैं। निबन्धकार की दृष्टि वर्णन करते समय प्रायः सजीव चित्र उपस्थित करने पर है।

(३) भावात्मक (छुट्टी, कवि-चर्चा)—ऐसे निबन्धों में निबन्धकार की भावुकता की अभिव्यक्ति प्रवाहमयी शैली में हुई है।

(४) कथात्मक (झूठ-सच)—अनेक निबन्धों में आंशिक रूप से श्री सियारामशरण ने कथा का सहारा लिया है, जैसे 'बहस की बात', 'एक दिन', 'छुट्टी', 'उसकी बोली', आदि निबन्धों में। 'झूठ-सच' नामक रचना को कथात्मक निबन्ध कह सकते हैं। यद्यपि यह मुझे कहानी ही लगती है।

(५) वाग्विलासात्मक (ऋणी, घोड़ाशाही, निज कवित्त)—श्री सियारामशरण के निबन्धों की यह कोटि निर्धारित करते समय मेरी दृष्टि विषय पर विशेष ध्यान न देते हुए मन की तरंगवश कुछ कहते जाने वाले निबन्धों पर है। ऐसे निबन्धों में विषय का सहारा मात्र ले वाग्विलास उपस्थित हुआ है। लगभग १० वर्ष पूर्व की बात है, प्रो० मनोरंजन ने अंग्रेज़ी के वैयक्तिक निबन्धों (पर्सनल एॅसेज़) को दृष्टि में रखकर इस प्रकार के निबन्धों का स्वरूप-निर्धारण करते हुए 'विशाल भारत' में एक निबन्ध लिखा था। उसमें कहा था कि वैयक्तिक निबन्ध ऐसे ही लिखे जाते हैं, अर्थात् वे अप्रयत्नतः, स्वाभाविक रूप से मन की तरंग में ही लिखे जाते हैं। वाग्विलासात्मक निबन्धों से मेरा तात्पर्य इसी प्रकार लिखे गये निबन्धों से है।

(६) आत्मप्रधान (आशु-रचना, अपूर्ण)—ऐसे निबन्धों से मेरा तात्पर्य ऐसी रचनाओं से है, जिनमें निबन्धकार के व्यावहारिक जीवन, उसके सामाजिक सम्बन्धों—मित्र-सम्बन्धी आदि, उसके जीवन की घटनाओं का उल्लेख यथाप्रसंग खुले-खुले होता है। स्मृति-सम्बन्धी तथा संस्मरणात्मक निबन्धों को भी इसी कोटि में रखा जा सकता है। अंग्रेज़ी के वैयक्तिक निबन्धों में इस प्रकार के आत्मतत्त्व को बहुत प्राधान्य देते हैं। उनमें आत्मतत्त्व (पर्सनल एलीमेण्ट) से प्रधान रूप से यही समझा जाता है।

(७) विचारात्मक (एक शीर्षक, मनुष्य की आयु दो सौ वर्ष, अन्य भाषा का मोह, साहित्य और राजनीतिक, साहित्य में क्लिष्टता)—श्री सियारामशरण के ऐसे निबन्ध अधिक हैं। इनके कुछ निबन्ध ऐसे हैं जिनमें विचारात्मकता के साथ ही यत्र-तत्र वाग्विलास भी है, जैसे, 'शुष्को वृक्षः', 'घोड़ाशाही' में।

(७)

अपने निबन्धों को प्रस्तुत करते समय श्री सियारामशरण गुप्त की दृष्टि प्रधान रूप से अंग्रेज़ी के वैयक्तिक निबन्धों की विधान-विधि पर है, ऐसा जान

पड़ता है। भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग, छायावाद-रहस्यवाद-युग, और वर्तमान युग में भी जो वैयक्तिक निबन्ध हिन्दी में प्रस्तुत हुए उनका स्वरूप वैयक्तिकता की दृष्टि से भिन्न-भिन्न है—विशेषतः भारतेन्दु-युग के निबन्धों का। अंग्रेज़ी के वैयक्तिक निबन्धों की भाँति इस (भारतेन्दु) युग के निबन्धों में भी निबन्धकार का खुला व्यक्तित्व आता था। यहाँ व्यक्तित्व से मेरा तात्पर्य निबन्धकार के सामाजिक सम्बन्धों, किसी वस्तु, विषय, व्यक्ति, आदि के सम्बन्ध में स्पष्टतः बिना दुराव के उसके विचारों की अभिव्यक्ति से है। इस विषय में इस युग के निबन्ध—विशेषतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट के—अंग्रेज़ी के वैयक्तिक निबन्धों से खूब मेल खाते हैं। मगर छायावाद-रहस्यवाद-युग तथा वर्तमान युग के निबन्धों में जो इस प्रकार की वैयक्तिकता आयी है वह अंग्रेज़ी के वैयक्तिक निबन्धों की देखा-देखी। इन युगों के निबन्धकार अपने निबन्धों में वैयक्तिक तत्त्वों की निहिति का ढंग देखने-सुनने भारतेन्दु-युग के निबन्धों के निकट नहीं गये। वे सीधे अंग्रेज़ी के इस प्रकार के निबन्धों की ओर ही मुड़े। इसका कारण यह है कि द्विवेदी-युग में इस ढंग के वैयक्तिक निबन्ध एक प्रकार से रचे ही नहीं गये। इस युग में जीवन तथा समाजगत रूखी पवित्रता, ठोस वस्तुवाद, आदि की चिन्तना-धारा के प्रवाहित होने के कारण साहित्य में विचारात्मकता का ही प्राधान्य रहा। अतः निबन्धों में उक्त ढंग की वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति के पक्ष में निबन्धकार न जाकर अपने विचारों को सामने रखने की ओर ही गये, जो प्रधानतः अध्ययन-मनन-प्रसूत थे, जो स्वानुभूति की तुला पर नहीं रखे जा सके थे। द्विवेदी-युग में निबन्ध का मतलब ही था साहित्य का वह प्रकार जिसमें विचार ठूँस-ठूँस कर भरे गये हों, बस। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी किन्हीं अंशों में इस दृष्टि के भी कायल थे—यद्यपि निबन्ध के सम्बन्ध में वे अन्य तत्त्वों के भी पक्ष में थे। उस युग में वैयक्तिकता का मतलब था किसी विषय में अपने विचार व्यक्त करना। मगर यह तो निबन्धकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का एक पक्ष हुआ। भारतेन्दु-युग तथा वर्तमान-युग में निबन्ध में वैयक्तिकता की निहिति का जो तात्पर्य समझा जाता है वह यह नहीं है। तो, द्विवेदी-युग के निबन्धों में विचारात्मकता के प्राधान्य के व्यवधान के कारण छायावाद-रहस्यवाद तथा वर्तमान युग में वैयक्तिकता देखने-सुनने के हेतु निबन्धकार भारतेन्दु-युग में नहीं गये, वे इसके लिए अंग्रेज़ी के आधुनिक निबन्धों की ओर गये। श्री सियारामशरण गुप्त ने भी ऐसा ही किया।

हिन्दी में उस प्रकार के वैयक्तिक निबन्ध लगभग दस-बारह वर्ष पूर्व से

लिखे जाने लगे हैं। इस क्षेत्र में सर्वश्री गुलाबराय, आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, प्रो० मनोरंजन, जैनेन्द्र कुमार, प्रभाकर माचवे आदि निबन्धकारों ने काम किया है और इनमें से कुछ अब भी कर रहे हैं। श्री सियारामशरण गुप्त भी इनमें से एक हैं।

श्री सियारामशरण के निबन्धों में विचारात्मक निबन्ध अधिक हैं इसे हमने देखा है। इनके निबन्धों के अन्य प्रकार भी हमने देखे हैं, उनमें भी तो विचार व्यक्त हैं ही। मगर उनके द्वारा द्विवेदी-युग के निबन्धों की भाँति श्रोता वा पाठक पर विचारों का बोझ नहीं लदता। उनमें विचारों की अभिव्यक्ति होते हुए भी श्रोता वा पाठक पर उनका बोझ लदा नहीं जान पड़ता। इसका कारण विचारों की अभिव्यक्ति की पद्धति में हलकापन—सीधापन (लाइटनेस ऑव ट्रीटमेण्ट) है, जो अंग्रेज़ी के आधुनिक निबन्धों की प्रधान विशेषता है। वस्तु-विधान-पद्धति पर ही अधिक ज़ोर देने के कारण यह भी कहा गया कि वस्तु की प्रधानता नहीं है प्रधानता वस्तु को जिस विशिष्ट ढंग से व्यक्त करते हैं उसकी है; अतः निबन्ध के विषय पर ध्यान ही नहीं दिया गया। सामान्य से सामान्य विषय लेकर भी ऊँची से ऊँची और गहरी से गहरी बातें कही गयीं। ऐसी स्थिति में विषयान्तर को भी आश्रय दिया गया, कहीं-कहीं महत्त्व भी। श्री सियारामशरण ने अंग्रेज़ी निबन्धों के ये तत्त्व अत्यल्प रूप में लिये, यह अच्छा ही किया। वाग्विलासात्मक निबन्धों में यत्र-तत्र विषयान्तर मिलेगा, अन्यत्र नहीं। विषय या वस्तु पर आप की दृष्टि बराबर है। ऐसा करते हुए सामान्य से सामान्य विषय लेकर भी आपने ऊँचाई तथा गहराई की बातें कही हैं। अंग्रेज़ी निबन्धों की विधान-पद्धति पर आपकी दृष्टि अवश्य है। निबन्धों में विचारात्मकता होते हुए भी वे बोझिल नहीं हैं। श्रोता वा पाठक अनायास उनको ग्रहण करता जाता है।

विधान-विधि के हलकेपन व सीधेपन में अन्य तत्त्व भी सहायक होते हैं जिनमें से कुछ ये हैं—खुले व्यक्तित्व की निहिति; श्रोता तथा पाठक और निबन्धकार में भावित नैकट्य, हास्य व्यंग्य-विनोद, अविधान, काव्य-तत्त्व की निहिति; आकर्षक भाषा-शैली, आदि। कहना न होगा कि आधुनिक वैयक्तिक निबन्धों में इन्हीं तत्त्वों के कारण उनमें रचनात्मक साहित्य के गुण अधिक से अधिक आ सके हैं।

निबन्धों में खुले व्यक्तित्व की निहिति के कारण उनमें कम मनोरंजकता नहीं आती। बात यह है कि श्रोता और पाठक जिस साहित्यकार की रचना पढ़ते हैं उसके व्यक्तित्व के विषय में जानने के लिए उत्सुक रहते हैं और उसकी

ही रचना में उसी के द्वारा कही गयी अपने व्यक्तित्व-सम्बन्धी बातों से उनकी उत्सुकता की शान्ति हो जाने पर उन्हें एक प्रकार के आह्लाद का अनुभव होता है। श्री सियारामशरणजी के निबन्धों में इस प्रकार के व्यक्तित्व की निहिति सर्वत्र मिलेगी। (झूठ-सच, पृष्ठ १८, १९)

श्रोता तथा पाठक और निबन्धकार में भावित नैकट्य के कारण निबन्धकार यथाप्रसंग यह मानकर चलता है कि जिनके लिए वह लिख रहा है वे उसके सम्मुख हैं। वह उनसे कहता, बोलता, संलाप करता-सा जान पड़ता है। एक उदाहरण देखें : "जितने वर हैं सब इसी जैसे हैं। पर विस्मय हुआ, जब आज एक ऐसा वर भी दिखाई दे गया जो चाहता है उसके वे ढाई दिन कभी समाप्त न हों। समझ में उसकी बात आ नहीं रही है। हो सकता है कोई गहरी बात हो। शायद आप में से कोई साहब समझा सकें। समझा सकेंगे ?" (झूठ-सच, पृष्ठ २०३)। आधुनिक निबन्ध का एक तत्त्व यह भी माना गया है कि निबन्ध ऐसा हो जो पढ़ने में अपने सगे साथी का पत्र पढ़ने जैसा लगे, अर्थात् उसमें विचारों के बोझ का अनुभव न हो, उसके पढ़ने में अपनेपन का अनुभव हो।

हास्य-व्यंग्य-विनोद तो श्री सियारामशरण के निबन्धों में सर्वत्र मिलेगा। जीवन तथा समाज के लिए अनावश्यक तत्त्वों पर वे व्यंग्य तो बराबर कसते गये हैं। हास्य और विनोद की कमी भी उनमें नहीं है। एक स्थान पर वे कहते हैं— ["बात करने भी बैठे और डरते भी रहे कि कहीं किसी को चोट न लग जाय, तो भला यह भी कोई बात हुई !"] (झूठ-सच, पृ० ५) ऐसे हास्य में श्री सियारामशरण का सरल व्यक्तित्व झलक जाता है। कभी-कभी अपने को ही आलम्बन बनाकर उन्होंने हास्य की अभिव्यक्ति की है—"यह मेरी पहली मौलिक कल्पना थी। बड़े-बड़े पण्डित और बड़े-बड़े कर्मठ भी जिस समस्या का समाधान जीवन भर नहीं कर पाते हैं, सुनिए निरे बचपन में उसे मैंने किस विचित्र रीति से सुलझाया था।" (वही, पृ० ६०)।

इनके निबन्धों में काव्यात्मक स्थल प्रायः मिलते हैं। श्री सियारामशरण का कवित्व प्रसंग आने पर चूका नहीं है। (वही, पृ० ५६-५७, १७३)। आधुनिक निबन्धों के विषय में यह भी कहा गया कि उनके पढ़ने में वही आनन्द मिलना चाहिए जो काव्य के पढ़ने में मिलता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस आनन्द की सृष्टि निबन्धों की विधान-विधि पर ही आश्रित है। श्री सियारामशरण के निबन्धों में यथाप्रसंग यह तत्त्व भी प्रभूत मात्रा में मिलता है।

श्री सियारामशरण की भाषा-शैली बहुत ही आकर्षक है। जैसे सीधे सरल वे हैं वैसे ही सीधे सरल छोटे-छोटे उनके वाक्य भी होते हैं। विचारों की भाँति ही वाक्यों में भी कहीं उलझन नहीं मिलती। अपने सीधे-सरल वाक्यों में ही उन्होंने अभिव्यक्ति का स्वाभाविक—न चौंकाने वाला बाँकपन भरा है, जो कम आकर्षक नहीं है। कहते हैं—"बहस कभी **बात की बात** पर चल पड़ती है।" (झूठ-सच, पृ० २)। एक सूत्रात्मक वाक्य देखिए—तर्क जन्म से ही क्षत्रिय है। (वही, पृ० ५)—अर्थात् तर्क वाद-विवाद, युद्ध, झगड़े आदि की जड़ है। ये सभी इसके परिणाम होते हैं। अपनी भाषा-शैली में भंगिमा लाने के लिए उन्होंने मुहावरों तथा लोकोक्तियों का प्रयोग मौजू जगहों पर किया है—"पक्के व्यवसायी की भाँति तेरह के उधार का लोभ छोड़कर उसने नौ का ही यह नगद सौदा तत्काल पक्का कर लिया" (वही, पृ० ५०)। इस प्रकार शैली को आकर्षक बनाने वाले प्रायः सभी आवश्यक तत्त्व श्री सियारामशरण गुप्त की शैली में मिलते हैं।

भाग ३

प्रमुख कृतियाँ

बापू-विमर्श

[प्रो० कन्हैयालाल सहल, एम० ए०]

The man that hath no music in himself
Nor is moved with concord of sweet sounds,
Is fit for treason, stratagems and spoils,
The motions of his spirit are dull as night.

—SHAKESPEARE

श्री सियारामशरण गुप्त का 'बापू' कवि की अन्तरात्मा का संगीत है। कोई भी सहृदय व्यक्ति इस कृति की संगीतात्मकता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। गुप्तजी शुद्ध मानवता के कवि हैं, इसलिए मानवता के प्रतीक उस महात्मा से घुल-मिलकर एकाकार होने में उनकी आत्मा तल्लीन है। कवि की इस रचना में वस्तुतः मानवता ही झंकृत हुई है। सच्चा गीति-काव्य कैमरे के लेन्स की तरह कवि के मानस का चित्र उतार लेता है। श्री सियारामशरण के बारे में यदि हम कुछ भी न जानते हों तो भी केवल 'बापू' पढ़कर हम उनके अन्तःकरण की झलक पा जायेंगे। यदि आन्तरिक भावों का स्पष्ट प्रकाश ही गीति-काव्य का प्रधान लक्षण है तो निस्सन्देह 'बापू' एक उत्कृष्ट गीति-काव्य है। इस काव्य में ऐसे अनेक मर्मस्पर्शी स्थल हैं जहाँ पाठकों के उर की वीणा झंकृत हो उठती है, जहाँ वे रस-मग्न हो जाते हैं। बापू के प्रति पाठकों की श्रद्धा में अन्तर होने से सम्भवतः रसानुभूति में भी अन्तर हो सकता है किन्तु कवि ने अपने आप को इतने सच्चे रूप में उपस्थित किया है कि उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता है। प्रभु का सच्चा रूप क्या है, यह तो प्रभु ही जाने, भक्त तो अपनी भावना के अनुसार ही देखता है। इस काव्य में बापू के दिव्य और अलौकिक गुणों का ही आख्यान है जिनका उपयोग मानवता की रक्षा के लिए हुआ है।

हिन्दी में गीति-काव्य की परम्परा यों तो बहुत पुरानी है। विद्यापति, सूर और मीराँ के भाव-प्रवण गीत हिन्दी-साहित्य में अमर रहेंगे; किन्तु हिन्दी-साहित्य पर पाश्चात्य और बँगला-साहित्य का जो प्रभाव पड़ा उससे लिरिक (Lyric) की शैली पर गीत लिखे जाने लगे। अंग्रेजी रसाचार्यों की दृष्टि से

गीति-काव्य की आत्मा है भाव, जो किसी प्रेरणा के भार से दबकर एक साथ गीति-काव्य के रूप में फूट निकलता है।" 'बापू' के गीत लय पर चलते हुए मालूम पड़ते हैं। कृष्ण और राम जैसे लोकनायकों को लेकर सूर और तुलसी जैसे भावुक भक्तों ने कथा का आश्रय लेकर भी श्रेष्ठ गीति-काव्य की उद्-भावना की है; किन्तु 'बापू' जैसे मुक्तक काव्य हिन्दी-साहित्य में दूसरे नहीं हैं। गांधी को अपने काव्य का आलम्बन बनाकर कवि ने अपने भावोच्छ्वासों को शुद्ध सच्चे रूप में पाठकों के सम्मुख रखा है। बीस उच्छ्वासों में बापू का गुण-गान करके २१वें उच्छ्वास में कवि सन्तोष की साँस लेता है। किन्तु गिने-गिनाये २१ साँस लेकर बापू को समाप्त थोड़े ही किया जा सकता है। 'कम क्या, कम क्या, कम क्या इतना' कहकर सियारामशरण का काव्य-पुरुष आश्वस्त होता है और अपनी इसी कृति से उसे सर्वाधिक सन्तोष है, जैसा कवि के निम्नलिखित शब्दों से व्यक्त होता है :

"अपनी किस रचना को विशेष महत्त्व देता हूँ, यह मुझी से पूछते हैं? जब जिस चीज को लिखता हूँ तब वही मुझे बहुत अच्छी जान पड़ती है। बाद में अच्छी तरह याद भी नहीं रहता कि उसमें कैसी और क्या अच्छाई थी। शायद अभी तक मैं अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति लिख ही नहीं सका हूँ। फिर भी कविता में सबसे अधिक आत्म-तुष्टि मुझे 'बापू' से हुई है।"

एक-एक उच्छ्वास एक-एक भाव को पिरोये हुए है। 'बापू' रूपी विराट् तीर्थ के विपुल सलिल की गहराई में जाकर चाहे कवि की गगरी मुक्ताफल न ला सकी हो, किन्तु काव्य-रसिक के लिए यह कृति मंजु मुक्ताहार के रूप में सुशोभित है। 'बापू' के प्रत्येक उच्छ्वास का यदि विश्लेषण किया जाय तो उससे भाव की एक-सूत्रता सहज ही सिद्ध की जा सकती है। पहले उच्छ्वास में यदि भाव-प्रवण जनता का समुज्ज्वल चित्र है तो दूसरे उच्छ्वास में प्रतीक्षोत्सुक शताब्दियों का अद्भुत दृश्य उपस्थित किया गया है। कवि के समस्त उच्छ्वासों का आलम्बन चूँकि एक ही व्यक्ति है, इसलिए सम्पूर्ण काव्य में ही एक सुगठित एकता है जो सब उच्छ्वासों को अन्वित किये हुए है। प्रत्येक उच्छ्वास में एक ही भावना अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित है।

'बापू' के गीतों में शब्दों का अपव्यय नहीं है; कवि की प्रौढ़ कृति होने के कारण वैसे भी थोड़े में बहुत कह दिया गया है। किसी गीत में अनावश्यक विस्तार नहीं है। आकार की दृष्टि से १५वाँ गीत (जिसमें सत्याग्रही के आत्म-बलिदान का गौरव-गान किया गया है) तथा १९वाँ गीत (जिसमें भारत-माता की विश्व-माता के रूप में कल्पना की गयी है) अपेक्षाकृत बड़े हैं,

किन्तु ये गीत और भी अधिक मर्मस्पर्शी बन पड़े हैं। १५वें गीत में जहाँ कवि की हार्दिकता फूट पड़ती है :

कवि रे, अरे, क्यों आज तेरे नेत्र गीले ये,
तेरे स्वर-तार सभी ढीले ये ?

वहाँ वास्तव में इस कविता का गीति-तार छिन्न-भिन्न होकर ढीला नहीं पड़ता। जिस वेदना-व्यथा से कवि व्यथित है, उस वेदना की कसक राग को और भी संगीतमय बना देती है।

यह तो सच है कि गीति-काव्य में कवि के भाव-प्रवण हृदय का चित्रण रहता है, किन्तु जिन गीतों में कोरी भावुकता रहती है वे चिरकाल तक नहीं जीते, जिनमें हृदय-तत्त्व के साथ बौद्धिक और दार्शनिक तत्त्व मिला होता है, उन्हीं गीतों की छाप लोक-मत के अन्तर्पट पर चिर-अंकित रहती है। 'बापू' के कवि की श्रद्धा कोरे भावुक कवि की श्रद्धा नहीं, वह दार्शनिक कवि की श्रद्धा है। इस काव्य में दार्शनिक तत्त्वों का कई स्थानों पर चित्रण हुआ है।

अन्त ! अरे कौन कहाँ-कहाँ कैसा अन्त ?
श्रीगणेश यह है नवीन के सृजन का,
आद्यक्षर नव्य भव्य जीवन का;
नाश नहीं जीवन का
बीज उसमें है चिरन्तन का;
हिंसा के उपद्रव से सम्भव विनाश नहीं नर का,
अमृत पिये है वह, आत्मज अमर का।

१८वें गीत में कवि का देश-प्रेम बड़े सुन्दर रूप में व्यक्त हुआ है। किन्तु यह देश-प्रेम संकुचित नहीं है, यह अन्तरराष्ट्रीय रूप धारण करने के लिए आकुल है। गांधीजी महानता के प्रतीक हैं और गांधीवाद इस महानता का पोषण करने वाला संगठन; भारत का यह सौभाग्य है कि उसे हिमालय-सा महान् रक्षक, गंगा सी महती माता (देश, अरे मेरे देश, तेरी उच्चता में दृढ़ है नगेश, मन की पवित्रता में गंगा की लहर है) और वस्तु-जगत् से बहिष्कृत सत्य को पाने के लिए काव्य निर्माण करने वाले कवि मिले। महानताओं के इस क्रम का चरम विकास हुआ है गांधीजी में—वस्तु-जगत् से बहिष्कृत सत्य जैसे फिर धरती पर उतर आया है और यह सौभाग्य भारत को प्राप्त है :

तेरे धरा धाम-मध्य निर्मलिन
आज का नवीन दिन
लाया है प्रफुल्लित प्रकाश गिरा।

इस मुक्तक काव्य को पढ़ते समय कवि की काव्य-प्रतिभा का आतंक पाठक पर छा जाता है और वह ज्यों-ज्यों इसके अर्थ को हृदयंगम करता जाता है त्यों-त्यों उसके अन्तःकरण में आनन्द की लहर-सी उठती है; एक प्रकाश-किरण का सा उसके हृदय को स्पर्श मिलता है।

'बापू' की शब्द-योजना सरल नहीं है, सामान्य पाठक के लिए बोधगम्य भी नहीं। स्वयं बापू को भी इसे समझने के लिए शायद कोश की शरण लेनी पड़े। भाषा क्लिष्ट होते हुए भी उसमें अस्पष्टता नहीं है। किन्तु नारियल में जिस तरह ऊपर जटा, फिर कड़ा कोश और नीचे ही नीचे गिरी मिलती है, उसी तरह बापू तत्त्व को समझने के लिए गहराई में जाना होगा।

कवि के हृदय को गांधी-दर्शन से प्रबल प्रेरणा मिलती है। मानवता के इस कवि को 'बापू' में मानवता की चरम अभिव्यक्ति दिखलाई पड़ती है। इसलिए वह अतिशयोक्ति का आश्रय लेकर भी अपने उच्छ्वासों को गीतों का रूप देता है। (Ode) के ढंग की सम्बोधन-पद्धति और विषय की गरिमा प्राय: सर्वत्र देखने को मिलेगी।

जन्म-जात उच्च स्वर्ग कुल के,
मर्त्य-कुलशाखा में हुए हो गोद सप्रमोद।

× × ×

आत्ममणि का-सा पारदर्शी पात्र,
दृष्टि हेतु गात्र उपलक्ष मात्र,
भीतर की ज्योति से छलकता;

बापू का चरित्र स्वयं ही एक काव्य है। एक विदग्ध कवि के लिए उसमें से भाव-राशि का चयन करना सहज सम्भाव्य है। प्रथम बिन्दु में प्रतीक्षोत्सुक जनता की भावना का सुन्दर चित्रण है:

गूँज उठा जै-जैकार
फिर-फिर दूर तक आरपार······;

दूसरे बिन्दु में अद्भुत रस छलक रहा है। शताब्दियाँ एक संग स्थित हैं—"नूतन शताब्द-शिशु-हेतु वे सभी अशान्त।" इतने युगों के बाद नूतन शताब्द शिशु ने जन्म ग्रहण किया है। ठीक भी है, बापू-जैसा नर-रत्न शताब्दियों बाद इस धरा पर अवतीर्ण होता है।

तीसरा बिन्दु और भी अद्भुत है। आगे की शताब्दियाँ एक गवाक्ष खोल कर भविष्य के निकेतन में झाँक-झाँक कर देख रही हैं और कान लगाकर सुन रही हैं। बापू का उदात्त स्वर भविष्य की शताब्दियों को भी सुनाई पड़ रहा

है। वे आश्चर्य से हैरान हैं कि यह कैसा अद्भुत अलौकिक स्वर है! इतने दूर से आ रहा है और फिर भी इतना पास-पास सा लगता है! बापू की दृष्टि में कितनी दूरदर्शिता है! उसकी सत्य-अहिंसा का गीत देश-काल की सीमाओं का उल्लंघन कर सर्वव्यापी हो रहा है।

यह स्वर डूबा नहीं, डूबा नहीं,
दूरी के अनन्त सिन्धु जल में

'बापू' विभु का वरदान है। यह बिना प्रयास हमें प्राप्त है। जो हमारे सामने सूर्य की रोशनी की तरह प्रत्यक्ष है, उसकी शक्ति का अनुमान हम नहीं लगा सकते; 'होता नहीं रंच परिमाप मान; वह है दिवा-विभास हमको।' 'यह बात सच है कि मनुष्य जब तक हमारे पास से दूर नहीं जाता, तब तक उसके मूल्य को सम्पूर्ण भाव से हम उपलब्ध भी नहीं कर पाते। सूर्य-चन्द्र का आकार गोल है—यह बात दूर होने से ही हम समझ पाते हैं। पृथ्वी भी तो गोल है, वैसे ही गोल है, किन्तु निकट होने के कारण हम उसकी बन्धुरता ही देख पाते हैं, उसके वर्तुलाकार को समझ नहीं पाते। इसी तरह मनुष्य जब तक हमारे बीच जीवित रहता है, तब तक हम उसके जीवन की समग्रता को ठीक पकड़ नहीं पाते।'

भयंकर-से-भयंकर परिस्थितियों में भी बापू अचल हैं, वे पर्वतराज हिमालय की तरह अडिग हैं। कुछ रौद्र चित्र देखिए:

झंझावात आते हैं प्रचण्ड रोष गति से,
मुक्त असंयति से,
उच्चशीर्ष कितने महीरुहों को जड़ से पकड़ के,
ऊपर उछाल कर धूलि खिला जाते हैं निम्न भूमितल की।

× × ×

खसखस पड़ते समुन्नत महीध्र शृंग,
अचला के अंक में लिपटते;
करके प्रवाह भंग नित्यमार्ग में से नित्य नीर नद हटते
उच्च हर्म्य हेम धाम छिपते उजाड़ में नगर-ग्राम;
चाहते अशान्त-उर विस्तृत सुनीर निधि
कौन विधि ओट लें सपाट मरुस्थल की।

न जाने कौन से अतल की शान्ति इस मनस्वी को प्राप्त है। ऊपर अप्रस्तुत भूमिचाल के वर्णन द्वारा देश की राजनीतिक हलचल की ओर संकेत किया गया है। 'कम्पन विभीति तुम्हें एक भी न झलकी।'

बापू को 'ईंधन-रहित शुद्ध अग्नि-ज्वाला' कहा गया है। निम्नलिखित पद्य में शृंगार की झलक लिये हुए हास्य का पुट भी है:

नित्य के अनंग की अरुणिमा,
आकर तुम्हारी हुई अपनी तरुणिमा!
उस परिणीता से,
पुण्य की प्रतीति-भरी प्रीता से
वय की दुरन्त झकझोर-झोर,
छुड़वा सकी कहाँ तुम्हारा छोर?

वृद्ध पुरुष को युवती स्त्रियाँ छोड़ देती हैं। 'पुरुष पुरातन की वधू, क्यों न चंचला होय?' किन्तु नित्य के अनंग की अरुणिमा से बापू का परिणय हुआ है और इस वृद्धावस्था में भी बापू के अंचल को पकड़े हुए है।

बापू ने अपने व्यष्टि को समष्टि में लीन कर दिया है। वह दिव्य है और मर्त्य कुल शाखा में खुशी-खुशी गोद आया है। देही होते हुए भी वह विदेह है, गेही होते हुए भी वह अगेह है। धन्य है, वह सीपी जिसने बापू-जैसा मोती पैदा किया:

ये नारियाँ हैं सीपियाँ जिनका मोल न तोल
ना जाने किस कोख में छिपा रत्न अनमोल।
भूतल की शुक्ति यह हलकी
एक बड़ी बूँद किसी पुण्य-स्वाति जल की
दुर्लभ सुयोग जन्य
प्राप्त कर तुम में हुई है धन्य धन्य धन्य!

न जाने कौन से दुर्लभ सुयोग से बापू-जैसा धरा का लाल पैदा हुआ है!

'बापू' के चित्र का बैक ग्राउण्ड लाल-काला है; उसके पीछे दृश्य है कारागार का, हिंसा-क्षेत्र का। उस रौद्र और बीभत्स को प्रकाशित करती हुई बापू की सात्त्विक शान्त मूर्ति अवतरित होती है। चित्र सजीव हो उठता है। यहाँ कवि ने बाह्य का वर्णन करके अन्तर अथवा उसके प्रभाव का अंकन किया है। इस बिन्दु में कारागार का मर्मस्पर्शी वर्णन है, जो भावों को उद्वेलित करता है। 'भय का अवाक् रोर घोर घनीभूत हुआ उनमें जड़ित है।' सब ओर निस्तब्धता है, आतंक और भय के कारण रोर अवाक् हो गया है। यह कारागार कोई तृष्णातुर अंध-कूप है जो दीन-हीन मानव के सत्य शील को लील लेगा। किन्तु

'भीति का कठोरातंक टूट गया स्पर्श से तुम्हारे एक पल में।'

देश में राजनीतिक चेतना जागृत कर निर्भयता का मंत्र फूंक देना बापू की सबसे बड़ी देन है। 'संजीवनी विद्या है प्रकाशित अभय में।' बापू की कृपा से कारागार आज देवगृह हो गया है।

९वें बिन्दु में मानव की पाशविकता का चित्रण है। एक राष्ट्र किस तरह दूसरे राष्ट्र को पददलित कर साम्राज्यवाद की करालमुखी तृष्णा का शिकार हो रहा है, इसका भावपूर्ण काव्यमय वर्णन है। यह वर्णन कितना सामयिक है :

जाती है समुद्र ग्रास करने को स्थल से,
और फिर छिप के अतल से
बढ़ती है ऊपर अनन्त शून्य पथ में,
आरूढ़ा महा विनाश-रथ में,
बरसा रही है प्रज्वलन्तांगार;
कैसा घोर हाहाकार !

बापू में सब काल और देश की विभूतियों का समन्वय है। उसे हरिश्चन्द्र की अटलता, श्री प्रह्लाद की भक्तिसमुज्ज्वलता, कृष्ण का निष्काम ज्ञान-कर्म-योग, भीष्म की अनूठी ब्रह्मचरता, बुद्ध का परमार्थ-भाग, ईसा का नरानुराग, महावीर का हिंसा-त्याग, मुहम्मद की दृढ़ता, नरसी की पराई पीर, रामचरितमानस की धवलता, ताल्सताय का प्रेम-प्रतिरोध विरासत में मिला है। महात्मा गांधी की सुप्रसिद्ध जीवनी में प्रकारान्तर से यही बात रोम्याँ रोलाँ कह रहे हैं :

His principle of Ahimsa (non-violence) has been inscribed in the spirit of India for more than two thousand years. Mahavira, Buddha and the cult of Vishnu have made it the substance of millions of souls. Gandhi has merely transfused heroic blood into it. He called upon the great shadows, the forces of the past, plunged in mortal lethargy, and at the sound of his voice they came to life. In him they found themselves. He incarnates the spirit of his people. Blessed the man who is a people, his people entombed, and then resusciated in him.

—ROMAIN ROLLAND

धरित्री में जागृति का मांगलिक सुप्रभात हुआ है। बापू का सत्य और अहिंसा के रूप में जो उदार दान है वह फैलकर समस्त भुवन का हो जाय, यही कवि की अन्यतम इच्छा है।

भारतमाता की विश्वमाता के रूप में कल्पना की गयी है। विश्व भर का दुःख, शोक, ताप इसके भीतर उमड़ा-सा आता है। हिंसा की अग्नि में जलते हुए विश्वमाता के लाल—मानव—को बचाने के लिए एक लाल पैदा हुआ है जो गति में दुरन्त वेग भरके हिंसानल के बीचोबीच अपने सिद्धान्तों का प्रयोग कर रहा है, और सबकी यही कामना है :

अक्षत ही लौटे वह होकर सफल काम।

'बापू' का अन्तिम गीत एक सुन्दर भाव-चित्र है; संगीत की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। छन्द में परिवर्तन है, शैली की विभिन्नता है, कवि का इसमें आत्माभिव्यंजन है।

रौद्र—भयानक—निम्नलिखित दृश्य भी दर्शनीय है :

कैसी कुपिताएँ ये अनल शिखाएँ, क्षुधिताएँ ये
मिट्टी ईंट-चूना तक चाटने को टूट पड़ीं
सन्न निरुपाय खड़े देख रहे जन हैं;
भय से विषण्ण मन, दाह-दग्ध तन हैं।

शान्त रस के तो अनेक चित्र अनायास ही मिल जायेंगे।

भाषा और शैली—इस काव्य की ओजस्विनी भाषा का प्रवाह कहीं भी मन्द नहीं पड़ा है। वह उत्साह और स्फूर्ति, जिससे प्रेरित होकर कवि रचना में प्रवृत्त हुआ था, अन्त तक अक्षुण्ण है। 'बापू' में शायद ही कोई शिथिल पंक्ति मिल सके। 'बापू' कवि की प्रौढ़ता की वाणी है। भाषा उक्ति-वैचित्र्य-पूर्ण, सारगर्भित एवं लाक्षणिकता लिये हुए है। कहीं-कहीं भाव-गाम्भीर्य शब्दों की परिधि को पार करके बहुत आगे बढ़ गया है। जैसे छोटे से क्षितिज, बाहर-विहीन, अवाक् रोर आदि। 'बापू' की कुछ पंक्तियाँ तो इतनी सुन्दर हैं कि शायद कहावतों के रूप में चल पड़ें। उदाहरणार्थ—'आज के अपत्य तुम कल के जनक हो।' 'मृत्यु के निकेत पर जीवन का पुण्य केतु।' 'संजीवनी विद्या है प्रकाशित अभय में।' भाषा सर्वत्र भावानुगामिनी रही है। उसमें लय का बल और गति का वेग है। उसमें रौद्र और बीभत्स की कठोरता तो है ही, उपयुक्त स्थल पर शान्त रस की स्वच्छता और प्रसन्नता भी है। 'मुक्ति बीज फूट पड़ा बाहर है, लाली लिये ले रहा लहर है।' कवि ने लय के लिए पुनरावृत्ति और तुकान्त शब्दों की सहायता ली है। यथा :

फिर फिर दूर तक आर पार······
यह स्वर डूबा नहीं, डूबा नहीं······

कवि को अपने शब्दों के लिए संस्कृत के अक्षय भण्डार की शरण लेनी

पड़ी है । सम्भवतः संस्कृत-शब्दों की सहायता के बिना वह अपने हृद्गत भावों की सफल व्यंजना न कर सकता । उसने देव-वाणी का अधिकतर आश्रय लेकर देवोपम 'शुद्ध-बुद्ध आत्मा केवल' बापू के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है । इस काव्य में तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग है । लम्बे-लम्बे संस्कृत समासों का भी अभाव नहीं है । हेम-हीर-मणि-मुक्ताहार, रजनि-उपान्त-निभ, अतन्द्र-प्रेम-प्रियता, ज्ञान-गरिमा-विशिष्ट, नूतन-शताब्द-शिशु-हेतु, प्रेम-फुल्ल-पुष्प-मालाएँ, स्वर्ण-लाभ-योग आदि । किन्तु शुद्ध संस्कृत पदावली के साथ-साथ 'उछाह, लूट-पाट, खर्व, खस-खस गिरते, हाँप-से उखड़ते' आदि साधारण शब्दों का भी प्रयोग हुआ है । 'बैर मोल लेकर लड़ेगा, बाट जोहती थीं, घर के तुम्हारे वे चरण-चिह्न' आदि मुहावरे भी यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं । 'चलाचल' शब्द का प्रयोग बहुत सुन्दर है । कहीं-कहीं अनुकरणात्मक शब्दों के प्रयोग से शब्दों द्वारा ही अर्थ ध्वनित हो जाता है :

हो उठी पयोद घटा गहरी,
एक साथ बिज्जु-छटा छहरी,
वायु बही सर-सर, काँप उठे वन्य वृक्ष थर-थर
सहसा अकाल वृष्टि घन-घन घहरी ।

× × ×

धधक उठी है अरे, धधक उठी है आग !
धाम वह धाँय-धाँय,
धूप का गुँगाटा भरे भाँय-भाँय ।

× × ×

कल कल्लोलित धारा पाकर तट पर ही यह तरी-तरी ।

पृथुल, अजस्र, ध्वान्त, हर्म्य, उत्स, आवर्जन, अतंद्र, तमिस्र, असंवित् आदि शब्दों का प्रचुर प्रयोग होने से संस्कृतज्ञ पाठक ही 'बापू' का सम्यक् रसास्वादन कर सकेंगे । हाँ, यह अवश्य है कि बँगला, मराठी आदि प्रान्तीय संस्कृत-बहुला भाषाओं के पाठकों के लिए 'बापू' अवश्य ही सहजगम्य हो सकेगा । इस काव्य की भाषा संस्कृत-प्रधान व्याकरण-सम्मत खड़ी बोली है । कहीं-कहीं 'उछाह' आदि शब्दों का प्रयोग प्रभाव-वृद्धि के लिए किया गया है । कुपिताएँ, अनल-शिखाएँ, क्षुधिताएँ में विशेषण शब्दों का भी बहुवचनान्त रूप प्रयुक्त हुआ है, जो प्रसंगानुकूल फ़िट बैठने से अच्छा लगता है । 'आयी अहा ! मूर्ति वह हँसती !' में 'मूर्ति' शब्द स्वयं एक मूर्ति लाकर आँखों के सामने खड़ी कर देता है । भाषा पर कवि का आधिपत्य है । 'बापू' में गिरा अर्थ से और अर्थ गिरा से सादर

समलंकृत है। 'खसखस पड़ते समुन्नत महीध्र-शृंग' आदि में ध्वनिशील शब्दों के प्रयोग के कारण शब्द-योजना बहुत समीचीन है। मालूम होता है जैसे पहाड़ खस-खस गिर रहे हैं। 'जड़ से पकड़कर धूलि खिला जाते हैं निम्न भूमितल की' पढ़ने पर लगता है, जैसे किसी के सिर के बालों को पकड़ कर उसे जमीन पर दे मारा हो। 'बापू' में अर्थ-गौरव की प्रधानता है। थोड़े में कवि बहुत कह गया है। यह बिना भाषा पर प्रभुत्व हुए सम्भव नहीं। इतने थोड़े शब्दों में अर्थ-गुम्फन शायद कवि की अन्य किसी भी कृति में न मिले। शैली में विरोध-पद्धति प्रायः सर्वत्र देखने को मिलेगी। 'बापू' के प्रादुर्भाव-काल में बहुत-सी विषम परिस्थितियाँ दिखलाकर उनसे लोहा लेने के लिए इस कृशकाय तपस्वी की असीम शक्तियों का जो दिग्दर्शन कराया गया है, उसमें एक प्रकार की ऐसी अभिव्यक्ति की तरलता आ गयी है जिसमें स्नान करने से चित्त प्रफुल्लित हो उठता है।

विरोध-पद्धति

'तुम में पुरातन है नूतन में, नूतन चिरन्तन।
लघु अवतीर्ण है महत्तम में,
हास और रोदन ध्वनित एक स्वर में।'
'मित है अपरिमाण'
'भय का अवाक् शोर'
'अन्त लिए
अथ में,' 'मृत्यु के निकेत पर जीवन का पुण्यकेतु'
'निद्रा के विराग में जागृत किये थी अनुराग की गहनता।'
'नश्वरता जिसमें हुई है अविनश्वरता
मृत्यु में हिली-मिली अमरता।'

अंग्रेज़ी अलंकार (Oxymoron) और विरोधाभास के राशि-राशि उदाहरण 'बापू' में मिलेंगे। और सच तो यह है कि बापू स्वयं एक विरोधाभास है।

प्रसंग-गर्भत्व का प्रयोग शैली को चमत्कृत कर देता है; किन्तु प्रसिद्ध का प्रयोग ही कवि-परिश्रम को सार्थक बनाता है! 'आज के अपत्य तुम कल के जनक हो' 'Child is the father of man' की याद दिलाता है।

अचल प्रतिष्ठ हे, तुम्हारे पुण्य सागर में,
ज्ञान-गुणागर में,
शान्ति के समस्त प्रभ्रमित स्रोत,
आकर हैं पूर्यमाण, पूर्णकाम ओत-प्रोत।

इन पंक्तियों को पढ़कर गीता का यह श्लोक अनायास स्मरण हो आता है :

अपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।

श्रेष्ठरथि, तुम हे अरुद्ध आत्मरथ के ।
(आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु) [कठोपनिषद्]

सुप्त सर्वभूत निशा हो रही है जागृति की पूर्व दिशा ।
'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी' [गीता]

'बापू' में अभिव्यंजना-कौशल सर्वत्र दिखलाई पड़ता है। इस काव्य में अभिव्यंजना के अनुभूतिमय होने से इसका महत्त्व बहुत बढ़ गया है। मनुष्य के हृदय में जैसे भाव होते हैं, उन्हीं के अनुसार उसके मुख की आकृति भी बदल जाती है। इसलिए शैली के सर्वत्र भावानुकूल होने से ही उसमें स्वाभाविकता आ सकती है।

व्यक्ति के स्थान पर गुण का प्रयोग—

'कायरता करने लगी पुकार—
लौट अरे लौट, वहाँ नाश का महा प्रसार !'

मूर्त प्रस्तुत के लिए अमूर्त अप्रस्तुत—

'झंझावात आते हैं प्रचण्ड रोष गति से
मुक्त असंयति-से'

यहाँ झंझावात को 'मुक्त असंयति-से' कहा गया है।

अमूर्त प्रस्तुत के लिए अमूर्त अप्रस्तुत

जागी धृति सुस्मृति समान किसी विस्मृति में ।

विशेषण-विपर्यय

माता का व्यथित रोर ।

चपलातिशयोक्ति

भीति का कठोरातंक टूट गया स्पर्श से तुम्हारे एक पल में

श्लेष

विरज समीर की लहर-सा
सारी रात निद्रा के विराग में जागृत किये थी अनुराग की गहनता,
[विरोध और श्लेष का चमत्कार]

रूपक

मुक्ति बीज क्रूर भक्ति-भूमि भेद,
फूट पड़ा बाहर है ।
लाली लिये ले रहा लहर है [वृत्त्यनुप्रास]

सुन्दर-उपमा

'दुर्गम दुरूह में से शंका-समाधान सम'

अभिव्यंजना-कौशल के सब प्रकार हमारे यहाँ लाक्षणिक और व्यंजनात्मक प्रयोगों में अन्तर्भूत हो जाते हैं। अभिव्यक्ति की तरलता की दृष्टि से 'बापू' हिन्दी-साहित्य का एक उत्कृष्ट काव्य है। अभिव्यक्ति के सम्यक् विवेचन के लिए एक स्वतन्त्र लेख ही अपेक्षित है।

आज जब हिन्दुस्तानी के आन्दोलन को लेकर इतने प्रवाद चल पड़े हैं और स्वयं बापू समय-समय पर अपने विचार प्रकट करते रहते हैं, नहीं कहा जा सकता 'बापू' की भाषा पर स्वयं बापू क्या कहेंगे ?

अन्त में 'बापू' के सम्बन्ध में हिन्दी-संसार के मर्मज्ञ आलोचक प्रो० रामकृष्ण शुक्ल के सारगर्भित शब्दों को उद्धृत करना यहाँ अनावश्यक न होगा :

'बापू' प्रधानतः एक वीरपूजात्मक काव्य है और इस दृष्टि से आधुनिक समय के मुक्तक छन्दों में चारण काव्य (Ballad Poetry) के ढंग का है, जिसमें कुछ गीति-तत्त्व-सा भी पाया जा सकता है। इसकी प्रत्येक कविता अलग-अलग मुक्तक है परन्तु क्योंकि समस्त ग्रन्थ एककालीन रचना है, इसलिए इसके मुक्तकों में ध्येय की एकसूत्रता या समरसता भी मौजूद है, तथापि इसके कारण यह प्रबन्ध-कोटि में नहीं रखा जा सकता; क्योंकि इसमें कथा या कथांगों का कोई अनुसन्धान नहीं है। एककालीनता और तद्धेतुकी समरसता के प्रतिफल में हमें 'बापू' काव्य में, नायक की प्रत्येक विभिन्न परिस्थिति में, कवि की एक-सी मनोवृत्ति बराबर काम करती हुई दिखाई देती है और प्रत्येक स्थिति में नायक का भी जैसे एक ही रूप दिखाई देता है। नायक का यह रूप त्याग-वीर और अहिंसा-युद्ध-वीर का ऊर्जस्वल रूप है। इस रूप के प्रभाव में अखिल पशुताओं, दानवताओं, भीतिओं आदि के दल को विजेता के सामने हम पलायन करते देखते हैं तथा अत्याचारी से पदाक्रान्त प्रजा को शान्ति, आशा और पुनर्जीवन का स्वागत करते देखते हैं। इस व्यापार में भी जहाँ प्रजाओं और शताब्दियों या कारावासों आदि का चित्र है वहाँ मानो उनका प्रस्तुत काव्य-नायक ही है जो प्रत्येक वर्णन में पर्दे के पीछे खड़ा-सा झलकने लगता है।

चारण-काव्य (Ballad Poetry) का सन्देश स्वभावतः उदात्त रहता है। 'बापू' भी एक उदात्त रचना है। परन्तु नायक की अपनी विशेषताएँ हैं—अहिंसा-संग्राम और नायक की अकिंचनता, निरस्त्रता के कारण चारण-काव्य का जो एक अन्य परिचित लक्षण (Chivalry) वीरता और वीरतापूर्ण (Chivalrous) शृंगार प्रायः देखने में आया करता है, उससे 'बापू' सर्वथा मुक्त है।

'बापू' (नायक) का चरित्र और व्यक्तित्व मानो युग की पुकार का ही संलक्ष्य स्वरूप है। बापू में और युग में ऐकात्म्य है। उसके नाते बापू भारतीय आदर्श के लिहाज़ से, युगपति कहे जायँ तो क्या हर्ज है ? अपने-अपने समय के युगपतियों—राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा आदि सबका कवि ने 'बापू' में समाधान और समाहार कर लिया है; पर फिर भी—या शायद इसीलिए—बापू बापू ही हैं।

"स्वाभाविकतया ही वीर-काव्य में हम 'स्थायी उत्साह' या वीर रस की ही परिस्थितियों की आशा करते हैं। 'बापू' स्थायी भाव उत्साह से ओतप्रोत है। परन्तु इसके उत्साह में एक नवलता है, जो चारण काव्य (Ballad Poetry) या कल्पित काव्य (Romance) के अद्‌भुत-तत्त्व का स्थान ग्रहण करती है। एक सर्वस्वत्यागी, अर्द्धनग्न अकिंचन, जिसकी मूर्ति से 'शम' की प्रेरणा ही उसका कल्पनीय सत्त्व जान पड़ती है, जब शान्ति का हाथ उठाता हुआ हमें बढ़ चलने के उत्साह से उद्दीप्त करता है तो हम जैसे बड़े कौतुकचकित-से रह जाते हैं। साहित्य-पद्धति में 'शम' और 'उत्साह' विरोधी हैं। बापू में इन दोनों का एकत्र रुचिकर समाधान ही जैसे 'अद्‌भुत' की विश्रब्ध भूमि बन जाता है। इसके अतिरिक्त 'रति' और 'उत्साह' दो ऐसे भाव हैं, जिनकी परिचर्या में लगभग अन्य समस्त भाव संचरण (संचारियों के रूप में) कर सकते हैं। 'रति' और 'उत्साह' का तो आपस में भी जैसे बड़ा सन्निकट सम्बन्ध हो। एक दूसरे का हमेशा पोषक होता है। परन्तु 'बापू' में मानो उत्साह ही एकमात्र स्वयं-सिद्ध सत्ता है, जिसे संचारियों की कोई ज़रूरत नहीं। यदि कोई संचार दिखाई भी देता है तो युग की वेदना—आशामयी विकलता और उत्कण्ठा के रूप में—नायक की किसी संचारिणी भावना के रूप में नहीं। नायक के व्यक्तित्व से जो शान्ति का सन्देश-सा मिलता है वह भी उसके 'उत्साह' का संचारी न होकर मानो उसका एक गौण उद्दीपन ही-सा दृष्टिगोचर होता है।

'बापू' की कविता में माधुर्य या प्रसाद की अपेक्षा ओज अधिक है, जो वीर काव्य में होना स्वाभाविक है। इस ओज का साहित्यिक रूप उसकी शैली है, जिसके उपकरणों में उसकी अत्यन्त तत्सम पदावली तथा संयुक्ताक्षर-प्रबल स्फोटमयी वाणी है। इसके अतिरिक्त, सम्भव है, ग्रन्थ की मुक्तक छन्द-रचना भी ओज-विधान में सहायक हो सकी हो।

'बापू' की सारी रचना अलंकारमयी है, जिसमें सांग-रूपकों को विशेष स्थान दिया गया है।

उपसंहार—"इनकी प्रसिद्ध रचना 'बापू' काव्य-पद्धति में अन्तर्वृत्ति-

निरूपक मुक्तक-प्रधान ठहरती है।······इन मुक्तकों को कुछ-कुछ सानेट के समानान्तर मान सकते हैं; क्योंकि सानेट में भी एक ही विषय रहता है और वह कई छन्दों में वर्णित होता है।

"शास्त्र-प्रतिपादित किसी छन्द को ग्रहण न करके इसमें सारी रचना केवल लय के आधार पर की गयी है। इसके चरणों में जो कुछ चमत्कार है वह लय के उतार-चढ़ाव में ही है। अंत्यनुप्रास में भी किसी विशेष नियम का पालन नहीं किया गया है। कहीं अंत्यनुप्रास पास-पास मिलता है और कहीं-कहीं तो अंत्यनुप्रास का पूरा-पूरा अभाव मिलता है। सम्भवतः अंग्रेज़ी सानेट में मिलने वाले अंत्यनुप्रास के अव्यवस्थित नियम के ढंग पर 'बापू' में भी किसी एक नियम का पालन नहीं किया गया है। १९वीं शताब्दी के मध्यकाल में अमेरिका में एक नवीन ढंग की अतुकान्त छन्द-विहीन कविता का आरम्भ हुआ। बँगला द्वारा हिन्दी-जगत् में भी उसके अनुकरण पर इस नवीन कविता-प्रणाली का श्रीगणेश किया गया।"

'बापू' के अनेक गीतों में (Ode) जैसी शैली मिलेगी; 'देश अरे मेरे देश' जैसे देश-प्रेम-मूलक गीत भी मिल जायेंगे, किन्तु समस्त रचना को वस्तुतः साहित्यिक वीर-काव्य (Literary Ballad) का नाम देना ही अधिक उपयुक्त होगा। इस काव्य का प्रारम्भ भी गीति-काव्य की तरह न होकर वीर-काव्य की तरह होता है और सच कहा जाय तो 'बापू' विधि-विधान (Technique) की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय काव्य है। स्वयं बापू का वर्गीकरण जिस प्रकार टेढ़ी खीर है, उसी प्रकार यह काव्य भी सहज ही किसी श्रेणी में अन्तर्भुक्त नहीं किया जा सकता। 'बापू-विचार' के विद्वान् लेखक का ध्यान भी इस काव्य के वीरपूजात्मक रूप की ओर नहीं जा पाया है। 'बापू' वास्तव में मानवता का काव्य है। इस काव्य में कहीं भी गांधी जी का नामोल्लेख नहीं हुआ है। सम्भवतः लेखक ने जान-बूझकर ऐसा किया है। गांधी आज एक व्यक्ति नहीं, वह मानवता का प्रतीक है, एक मूर्तिमन्त आदर्श है। इसलिए इस काव्य को क्या हम मानवता का स्तवन (Ode to Humanity) नहीं कह सकते ?

उन्मुक्त

[डॉ० नगेन्द्र]

'उन्मुक्त' का विश्लेषण करने से पूर्व उसके रचयिता के व्यक्तित्व का थोड़ा विश्लेषण करना संगत होगा। कवि सियारामशरण का व्यक्तित्व पीड़ा से बना हुआ है। उनका श्वास-रोग और एकाकी जीवन ये दोनों आज एक सुदीर्घकाल से उनके जीवन-सहचर हैं। स्वभावतः उनमें करुण-चिन्तन का प्राधान्य है। हिन्दी-जगत् से उपेक्षा पाकर यह पीड़ा अवश्य ही उनका कम्पलैक्स बन जाती, यदि कवि के अतर्क्य आस्तिक संस्कारों का प्रतीप प्रभाव उस पर न होता। यही आस्तिकता उसे पीड़ा को आनन्द का माध्यम मानने के लिए बाध्य करती है और वह दुःख में सुख, पराजय में विजय, और निर्बलता में बल प्राप्त करता है। ऐसी मनःस्थिति के कवि के लिए गांधीवाद का आकर्षण अनिवार्य है। गांधीवाद पीड़ित एवं पराजित देश की जितनी शुद्ध और स्वस्थ अभिव्यक्ति है, कवि सियारामशरण का काव्य गांधीवाद का उतना ही सच्चा प्रतीक है।

बुन्देलखण्ड की शस्य श्यामला भूमि, रुग्ण कवि का एकान्त-वास, युद्ध के भीषण समाचारों को मोटे-मोटे अक्षरों में देने वाले दैनिक पत्र। कवि श्वास-रोग से पीड़ित है। पत्रों में हत्याकाण्ड के समाचार पढ़कर उसकी व्यथा द्विगुण हो जाती है। जी घुटने लगता है। मन के बोझ को हलका करने के लिए वह बाहर देखता है। वसुन्धरा का अंचल उसे शरण देता है और वह कुछ स्वस्थ होकर कविता लिखता है जिसका सुफल होता है 'उन्मुक्त'।

'उन्मुक्त' रूपक है। लौहद्वीप के अधिपति ने समस्त संसार को अधिकृत करने का रक्तमय अनुष्ठान किया है। ताम्र-द्वीप, रौप्य-द्वीप ध्वस्त हो चुके। अब कुसुम-द्वीप पर आक्रमण हुआ है। कुसुम-द्वीपवासी वीरतापूर्वक लड़ते हैं। उनका सेनानी पुष्पदन्त अपनी समस्त शक्ति लगा देता है—यहाँ तक कि भस्मक किरण का भी उपयोग करने को बाध्य हो जाता है। परन्तु भाग्य साथ नहीं देता। भस्मक किरण से संयुक्त उनका विमान बीच ही में खराब होकर शत्रु के हाथ में पड़ जाता है और तुरन्त ही कुसुम-द्वीप भी अधिकृत हो जाता है।

कुसुम-द्वीप के शक्ति-संचालक तीन व्यक्ति हैं। पुष्पदन्त, गुणधर और

मृदुला। वैसे तो ये तीनों ही अहिंसा में विश्वास रखने वाले हैं, परन्तु पुष्पदन्त और मृदुला आत्म-रक्षा के निमित्त हिंसा का प्रयोग न्याय्य समझते हैं। इसके विपरीत गुणधर एकान्त अहिंसा का उपासक है। आरम्भ में वह भी देश की विपत्तियों का विचार कर शस्त्र ग्रहण कर लेता है। परन्तु युद्ध की विभीषिका का प्रत्यक्ष दर्शन करने के उपरान्त, साथ ही पुष्पदन्त को भी भस्मक किरण का अवैध उपयोग करते देख वह एकदम युद्ध से विरक्त हो जाता है। पुष्पदन्त उसे मृत्यु-दण्ड देता है, परन्तु दण्ड-विधान पूर्ण होने से पूर्व ही ये तीनों समभोगी के रूप में मिलते हैं। अब पुष्पदन्त भी अपनी भूल स्वीकार कर लेता है, और अहिंसक मरण को ही जीवन की मुक्ति मानकर ये तीनों वीर उन्मुक्त हो जाते हैं। अतः उन्मुक्त हिंसा की निष्फल भीषणता प्रदर्शित करता हुआ सत्य और अहिंसा की स्थापना करता है। आधुनिक युद्ध का एक मात्र प्रतिकार अहिंसा है; क्योंकि उसी में सबका हित सुरक्षित है और विजय वही है जिसमें सबका हित हो—'सर्वोदय' हो।

"सब के हित में लाभ करो निज विजय श्री का!" यही 'उन्मुक्त' का सन्देश है। पराधीन देश के दार्शनिक और कवि विश्व को और क्या सन्देश दे सकते हैं? हो सकता है कि इसे सुनकर कुछ लोग (और उसमें किसी अंश तक मैं भी शामिल हूँ) उसी प्रकार खिन्न हो उठें जिस प्रकार कतिपय पिछली लड़ाई के दिनों में अंग्रेज गांधीजी के ऐसे ही सन्देश को सुनकर खिन्न हो उठे थे। परन्तु उसके पीछे मानव-करुणा से ओत-प्रोत एक तपोमयी आत्मा की तड़प है, जिसका प्रभाव अनिवार्य है।

इस प्रकार 'उन्मुक्त' की कथा उपलक्ष मात्र है और उनकी समस्त घटनाएँ प्रतीक हैं कवि की उन भावनाओं की जो युद्ध के नृशंस समाचार सुन-सुनकर उसके एकाकी मन में जाग्रत हुई हैं। आप सहज ही उन्हें कथावस्तु में से पृथक् कर देख सकते हैं।

पहला चित्र आधुनिक युद्ध के सूत्रधार का है :

देखा मैंने सभी ओर घनघोर तिमिर है।
उड़ गये ज्योतिष्क-पिण्ड शशि ग्रह तारादल,
नहीं कहीं कुछ, शून्य धरातल, शून्य नभस्थल।
फिर भी, फिर भी बोध हुआ ऐसा कुछ मन में,
कोई कुटिल कराल निखिल के प्रेत विजन में
शवसाधन में लीन; एक बस एक वही है,
और अन्य वह अचल पड़ी आक्रान्त मही है।
किसी लोभ के ज्योतिहीन जन्मान्ध अतल में,
हुआ निखिल खग्रास!

आगे स्वयं अभियान का अवलोकन कर लीजिए :

बरस पड़े विध्वंस पिण्ड सौ-सौ यानों से ।
उनका क्या मैं कहूँ—घोष दुर्घोष भयंकर;
प्रेतों का-सा अट्टहास; शतशत प्रलयंकर;
उल्काओं का पतन, वज्रपातों का तर्जन,
नीरव जिनके निकट,—हुआ ऐसा कटु-गर्जन ।
कुछ ही क्षण उपरान्त एक अर्धांश नगर का,
युग-युग का श्रम-साध्य साधनाफल वह नर का,—
ध्वस्त दिखाई दिया । चिकित्सालय, विद्यालय,
पूजालय, गृह-भवन, कुटीरों के चय के चय,
गिरकर अपनी ध्वंस चिताओं में थे जलते ।

चौथा चित्र है युद्ध में होने वाले नारीत्व के अपमान का—

सुनो हुआ, हेमा का फिर क्या;
सद्योधिक उस मांस-पिण्ड का, उष्ण रुधिर का
लोभी नरपशु उसे जिलाये रहा रात भर
सैन्य शिविर में ! पढ़ो पढ़ सको यदि धीरज धर
तो पढ़ लो यह पत्र ।

कवि की पुण्य भारती उस अत्याचार का वर्णन करने में शरमा जाती है और वह एक तीखा व्यंग्य कसकर रह जाता है :

धिक् धिक् ।
कुत्सित घृण्य जघन्य अरे ओ उच्च सांस्कृतिक !
तुम ऐसे हो !

'उन्मुक्त' का सबसे मार्मिक एवं महत्त्वपूर्ण प्रसंग है सुश्रूषालय । यह रुग्ण कवि की आत्मा की सीधी अभिव्यक्ति है । कवि के समान ही आहत गुणधर (जो सचमुच उन्हीं का प्रतिरूप है) सुश्रूषालय में पड़ा हुआ पिछले दिन की घटना का स्मरण कर रहा है । यह घटना भी युद्ध-सम्बन्धी एक कठोर विचित्रता ही की प्रतीक है । आज से बहुत दिन पूर्व—लगभग १०० वर्ष पूर्व कार्लायल ने इस पर व्यंग्य किया था :

...For example, there dwell and toil in the British Village of Dumdrudge usually some five hundred souls. From these by certain natural enemies of the French there are successively selected say thirty able bodied men...And now to that same spot in the south of Spain are thirty similar French

artisans from a French Dumdrudge in like manner wending; till at length, after infinite effort the two parties come in to actual juxtaposition. Straightway the word 'Fire' is given, and they blow the souls out of one another......Had these men any quarrel? Busy as the devil is not the smallest! They lived far enough apart; were the entirest strangers. How then? Simpleton! their governors had fallen out, and instead of shooting one another had the cunning to make these poor block-heads shoot.

—CARLYLE

यही तथ्य कविता की गहराई लेकर इस प्रसंग में व्यक्त हुआ है। एक मरणासन्न शत्रु-सैनिक को किसी अपरिचित भाषा में कराहते देखकर गुणधर को युद्ध की विषमता का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और उसकी मानवात्मा पिघल पड़ती है :

> **अब यह किसका शत्रु पड़ गया मैं संशय में।**
> **अविकृत मानव-मात्र सभी का सहज सगोत्री**
> **हम सब-सा ही मरण-यज्ञ में एक सहोत्री।**

अतः यह भेद-भाव भूलकर सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिए उस सैनिक के पास जाता है, परन्तु आह रे वंचित मानव! मरणप्राय यह सैनिक अपनी बची हुई शक्ति समेटकर गुणधर पर वार कर बैठता है। बस यहीं पर मानवता की चरम विजय है—गुणधर उस पर रोष नहीं दया करता है :

> **वह सैनिक भी न था और कुछ, वह था मानव;**
> **ऐसा मानव लाभ उठा जिसकी शिशुता का**
> **किसी इतर ने चढ़ा दिया था उस पशुता का**
> **ऊपर का वह खोल। आत्म-विस्मृति ने छाकर**
> **उसका बोध विलोप कर दिया था, मैं उस पर**
> **रोष करूँ या दया?**

जिस प्रकार बरसात में विद्युत अथवा आँसुओं के बीच आँख की ज्वाला जल उठती है, उसी प्रकार इन द्रवित भावनाओं में वीरता भी कहीं-कहीं चमक उठी है और युद्ध का गौरव-पक्ष भी उपेक्षित नहीं रहा :

> **—याद ऐसा भट आया**
> **छिन्न शीर्ष जो कटे हुए धड़ का मन भाया**
> **देख रहा हो समर-पराक्रम खुले नयन से।**
> **आ उतरा ज्यों वहाँ मरण के वातायन से**
> **लोचन का फल-लाभ।**

आगे कुछ ध्वंस के चित्र हैं, जिनमें से एक में अबोध शिशुओं की हत्या का दृश्य है—वहाँ स्वर्गगत बच्चों के द्वारा मानव नृशंसता की आलोचना करायी है। इसके उपरान्त पराजय है—कुसुम-द्वीप ने शस्त्र समर्पित कर दिये। अधिकार सौंपते हुए यूरोप के अनेक प्राइम-मिनिस्टरों की रुद्ध वाणी मानो 'उन्मुक्त' के महामात्य के कण्ठ में फूट पड़ी है :

प्रत्यय है मुझको—
द्वीप की नहीं है हार, हार यह मेरी है।
आप में से कोई किसी मांगलिक वेला में
आकर नवीन बल-बुद्धि से, महत्ता से
आज की पराजय को जय में बदल दें,
मेरी यही कामना है।
भावी उस नेता को
आज का पराजित मैं रुद्ध निज वाणी से
अर्पित प्रणाम किये जाता हूँ विनय से,
अच्छा नमस्कार !

परन्तु सचमुच यह पराजय कुसुम-द्वीप की नहीं है। यह हिंसा की पराजय है। पुष्पदन्त भी अपनी भूल स्वीकार करता है :

अच्छा ही यह हुआ कर सके निज में अनुभव
है कैसा पाशविक हिंस्र ज्वाला का ताण्डव।

अन्त में इस युद्ध की समस्या का समाधान है :

हिंसानल से शान्त नहीं होता हिंसानल
जो सबका है वही हमारा भी है मंगल।
मिला हमें चिर सत्य आज यह नूतन होकर
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर।

बस यहीं कवि की आस्तिकता उसको मुक्त करती है। अन्यथा दैहिक, दैविक और (युद्ध की) आत्मिक—तीनों प्रकार की पीड़ाएँ मिलकर उसे कुछ और ही बना देतीं। इसी के बल पर विनाश में भी माँ वसुमती की सृजन-शक्ति को क्रियाशील देखकर उसे परितोष होता है :

आश्वसित समाश्वसित हूँ,
तुझे देखकर हरित भाव से आशान्वित हूँ।
देख रहा हूँ जहाँ क्रोध कुत्सित पाशव का
रूप विकट वीभत्स, जहाँ मूर्छित मानव का

शतशः खण्डीकरण दलन विदलन कर कर के;
उसी ठौर पर उसी ठिकाने के थल पर से
फूट पड़े हैं नये-नये अंकुर वे शोभन।
जिसे घृणा की गयी उसी के लिए नमित है
धरणी की वह सुमन मंजरी मृदुलान्दोलित।
स्नेह-सुरभि की लोल लहर ही है उत्तोलित
इधर उधर सब ओर।

युद्ध की विभीषिकाओं का वर्णन पढ़-सुनकर ऐसी ही भावनाएँ कवि के मन में उठी हैं, जिनको उसने अपूर्व कौशल के साथ अन्वित कर एक कहानी का रूप दे दिया है। यद्यपि वास्तविक गौरव इन भाव-चित्रों का ही है, फिर भी कथा का संघटन एकदम निर्दोष है, उसके विकास में सहज क्रम, गति में अनुकूल प्रवाह और वृत्त-वर्णन में रोचकता लाने का सफल प्रयत्न है—उदाहरण के लिए मृदुला और जागरिता का अवचेतनात्मक वार्तालाप लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कहानी का आधार भी उसी के योग्य है। कवि ने इसके निमित्त अखण्ड देश-काल को चुना है, जिसका विराट् आकार समस्त दिङ्मण्डल को समेटे हुए वर्तमान, भूत और भविष्य के तीन पदों पर स्थित है। सियारामशरणजी अपने ढंग के अकेले टेकनीशियन हैं। उनकी टेकनीक में श्रीविलास चाहे अधिक न हो, परन्तु उसका 'सहजगुण' असंदिग्ध है। आज के जैसे एकान्त कवित्व-शून्य युद्ध को भी उन्होंने न केवल प्राणों की पीड़ा में डुबोकर ही, वरन् कवि-कौशल के द्वारा भी काव्यमय बना दिया है। आज अनेक प्रगतिवादी कलाकार प्रत्यक्ष को काव्यमय बनाने की कला 'उन्मुक्त' से सीख सकते हैं। इसी प्रसंग में मैं कुछ उदाहरण कवि की नित्य प्रौढ़तर होती हुई अभिव्यंजना-शैली के उपस्थित करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता :

१—रौप्य-द्वीप तो है ध्वस्त; नाम अब उसका
और कुछ हो गया है,—जैसे किसी जन की
मृत्यु हो गयी हो, वह निम्न किसी योनि में
जाकर दिखाई पड़े, पोंछकर स्मृति से
अपना अतीत एक साथ।

२—स्वेद-सनी बन गयी सलोनी तेरी रोटी।

अन्त में हमें यह देखकर सुख होता है कि सियारामशरणजी की कविता उत्तरोत्तर गम्भीर और प्रौढ़ होती जा रही है। उनकी पिछली कृति 'बापू' एक

महान् कविता थी—'उन्मुक्त' उससे भी महत्तर है। इस श्रेणी की कविता पिछले दो-एक वर्षों में कष्ट-प्राप्य ही रही है।

कवि सियारामशरण की काव्य-साधना अन्तर्मुखी है। उसमें चिन्तन और अनुभूति का प्राधान्य है। बाह्य जीवन का उपभोग कम होने के कारण उसमें जीवन का वह खट्टा-मिट्ठा रस नहीं है जो उनके अग्रज मैथिली बाबू के काव्य में है। परन्तु हर एक स्थान पर आपको तप:पूत आत्मा का छना हुआ विशुद्ध रस मिलेगा, जिसमें चाहे स्वाद बहुत अधिक न हो, परन्तु शान्ति अनिवार्य है। गांधीवाद के दो पक्ष हैं—एक व्यवहार-पक्ष, दूसरा दर्शन-पक्ष। व्यवहार-पक्ष के कवि हैं मैथिलीशरण गुप्त और दर्शन-पक्ष के कवि हैं सियारामशरण। अथवा हम यह कह सकते हैं कि गांधीवाद के दो पक्ष हैं—एक ओज-पक्ष, दूसरा तप-पक्ष। ओज-पक्ष के कवि आज अनेक हैं। जिनमें नवीन अग्रणी हैं, तप-पक्ष का एक अकेला कवि है सियारामशरण गुप्त।

नकुल

[डा० सत्येन्द्र, एम० ए०, डी० लिट्]

सियारामशरण गुप्त अपनी लोकप्रिय कविता के लिए प्रसिद्ध हो चुके हैं। यह प्रसिद्धि उन्हें 'एक फूल की चाह' जैसी रचनाओं के कारण मिली थी। इन रचनाओं में एक लघु-कथा रहती है, उसमें अत्यन्त संवेदनशीलता का मधुर स्पन्दन भी। करुणा का तीव्र मनोवेग कथा की रोचकता में मिलकर काव्य को आकर्षक बनाता है। सामाजिक स्थूल ऊँचा आदर्श उसे महत्त्वशाली बनाता है। इन काव्यों की लोकप्रियता का कारण वाक्वैदग्ध्य भी था।

पर, कवि में विकास मिलता है। 'बापू' काव्य में कवि की कल्पना ने सान्तमूर्त मानव गांधी में विराट् को आश्रय देकर अपनी ऊर्ध्वगामिता सिद्ध की है। यह उसकी मेधा का दूसरा विकास है।

कवि, वह भी प्रगतिवादी कवि, ठहर नहीं सकता था। 'बापू' में 'गांधी' को समझकर और उस गांधी के द्वारा विश्व-जीवन के मर्म को समझकर वह उसी मर्म के सूत्र के साथ दूसरी भूमियों पर जाने को प्रस्तुत हुआ। 'नकुल' की यहीं उद्भावना हुई।

'नकुल' से हम सभी परिचित हैं। 'नकुल' पाँचों पाण्डवों में से एक है। 'महाभारत' में 'नकुल' का सम्पूर्ण जीवन-वृत्त मिल जाता है—जन्म से लेकर अन्त तक का। प्रस्तुत 'नकुल' काव्य में वह समस्त वृत्त नहीं मिलता—वह होता तो 'नकुल' एक महाकाव्य हुआ होता। इस नकुल में तो कवि ने 'महाभारत' का एक बहुत छोटा कथानक लिया है। उस छोटे कथानक में नकुल के जीवन का कोई विशेष कार्य-कलाप महाभारत में भी प्रकट नहीं हुआ—गुप्तजी के इस 'नकुल' में भी नकुल का कोई उल्लेखनीय वृत्त नहीं आया। फिर भी गुप्तजी ने इस खण्डकाव्य को 'नकुल' शीर्षक दिया है। ऐसा केवल इसलिए हुआ है कि कहानी का चरम-उत्कर्ष जहाँ पहुँचता है, वहाँ अनायास ही नकुल महत्त्वपूर्ण हो उठता है, और 'नकुल' जीवन-व्यापार की एक नयी व्याख्या की कुंजी बन जाता है। नकुल के इसी महत्त्व को दृष्टि में रखकर नहीं, इसी महत्त्व को आधुनिक युग में प्रतिष्ठित करने और उसकी नयी व्याख्या करने

के लिए ही प्रस्तुत काव्य की रचना कवि ने की है। नकुल का अर्थ कवि के समक्ष नये रूप में उद्घाटित हुआ है और उसी के कारण काव्य में एक नया प्रकाश आया है।

महाभारत के 'वनपर्व' में यह कथानक इस प्रकार है :

पाण्डव अपना चौदह वर्ष का बनवास समाप्त कर चुके हैं। उन्हें अब अज्ञातवास करना है। इसी अवसर पर एक घटना घटी। पाण्डवों के पड़ोसी एक याज्ञिक ब्राह्मण की अरणि-मथनिका को सींगों में उलझाकर एक हिरन भागा। तपस्वी ब्राह्मण को दुःख से मुक्त करने के लिए पाँचों पाण्डवों ने हिरन का पीछा किया। हिरन लुप्त हो गया—पाण्डव चलते गये। इस दीर्घ प्रधावन के कारण उन्हें प्यास लगी। दूर पर एक तालाब था—वहाँ से पानी लाने का निश्चय हुआ। सबसे छोटा पाण्डव भेजा गया। वह तालाब में पानी पीने और तूणीर भर कर ले जाने को तत्पर हुआ कि एक वाणी हुई कि रुको, पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, अन्यथा मृत्यु होगी। पाण्डव ने अवहेलना की, जल से हाथ लगाया और मृत्यु का ग्रास बना। दूसरा पाण्डव आया, तीसरा आया, चौथा आया—सभी का एक ही परिणाम हुआ—मृत्यु! तब युधिष्ठिर आये। उन्होंने चारों भाइयों को तालाब पर निर्जीव पड़ा पाया। एक बार, कुछ क्षण के लिए, यह विचार उठा कि क्या दुर्योधन ने अपने गणों से यह तालाब विषाक्त करा दिया है। तालाब में देखा एक सारस खड़ा है। उन्हें भी वह वाणी सुनाई दी। उन्होंने प्रश्नों के उत्तर दिये। प्रश्नकर्ता अदृश्य था। वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने वरदान में युधिष्ठिर से कहा—'मैं तुम्हारे एक भाई को जीवित कर सकता हूँ। जिसे तुम कहो उसी को जीवन-दान दूँ।' युधिष्ठिर ने कहा—'नकुल को'। प्रश्नकर्ता ने पूछा—"यह क्यों?" युधिष्ठिर ने कहा कि धर्म की प्रतिष्ठा यह चाहती है कि मेरी दोनों माताएँ पुत्रवती रहें। एक माता का पुत्र मैं स्वयं जीवित हूँ, दूसरी माता का पुत्र 'नकुल' और जीवित हो। इस उत्तर से प्रसन्न होकर प्रश्नकर्ता ने सभी को जीवन प्रदान किया। प्रश्नकर्ता स्वयं धर्म था, वही हिरन बनकर पाण्डवों को यहाँ लाया था और इस तालाब का यक्ष बनकर उसने युधिष्ठिर के धर्म की परीक्षा ली थी।

यहाँ हमें यह बताने की आवश्यकता नहीं कि प्रश्न अथवा पहेलियों के उत्तरों से अभीष्ट-प्राप्ति की लोक-कहानी विश्व-व्यापी है—और महाभारत में उसी विश्व-लोक-वार्ता का एक रूप हमें मिलता है। हमारा भी प्रकृत विषय यह है कि गुप्तजी ने उस वस्तु का 'नकुल' काव्य में कैसा उपयोग किया है।

गुप्तजी के ये 'प्रारम्भिक' कुछ वाक्य ध्यान देने योग्य हैं :

" 'नकुल' का आधार महाभारत का वनपर्व है। रचयिता ने मूल वस्तु का उपयोग स्वतन्त्रता से किया है। ऐसा उसने इस मान्यता से किया है कि देश, काल और अपनी रुचि के अनुसार पैतृक धन का उपयोग करने की छूट सन्तति को है।...और यही कारण है कि इस रचना में 'अपनी भावना के और अपनी कल्पना के अनुसार चलने में' रचयिता को संकोच नहीं हुआ।"

इसी 'प्रारम्भिक' में अन्त में कवि ने यह भी कह दिया है कि :

"प्रस्तुत रचना को यदि अपने में उल्लिखित उस पर्णकुटी का ही सौभाग्य मिल सका जिसे कुछ समय टिकने के उपरान्त पाण्डव-जन सूनी छोड़कर चल देते हैं तो रचयिता का परिश्रम सफल है।"

कवि के इन उद्धरणों से स्पष्ट विदित होता है कि कवि ने मूल कथानक में अपनी कल्पना से घटाया-बढ़ाया है। वह उसने देश, काल और निज रुचि के कारण किया है। उसका इस रचना के निर्माण में प्रथम और प्रधान उद्देश्य सामयिक उपयोगिता है। किसी सामयिक उपयोगिता की पूर्ति के लिए जिस प्रकार पाण्डवों ने अपनी पर्णकुटी बनायी थी, उसी प्रकार की ही किसी उपयोगिता के लिए ही इस काव्य की रचना हुई है, वहाँ वन में पाण्डवों की कुटी भी थी, और फूल भी। कवि ने काव्य के लिए कुटी की उपयोगिता को उपमान चुना है, पुष्प की सुन्दरता को नहीं। यदि सामयिक उपयोगिता की पूर्ति इससे होती है तो कवि सफलता समझेगा—दूसरे शब्दों में, वह शाश्वत अथवा युगयुगीन आदर को इस रचना में विशेष महत्त्व नहीं देता।

प्रश्न यह है कि कवि ने मूल में क्या परिवर्तन किये हैं। इन परिवर्तनों को स्पष्ट करने के लिए पहले संक्षेप में कथा-वस्तु देनी होगी। वह इस प्रकार है :

पाँचों पाण्डव और द्रौपदी जिस कुटी में रहते थे, उसी के पास एक तपस्वी भी रहता था। उसके यज्ञ करने की 'अरणि-मथनिका' पेड़ पर टँगी हुई थी। एक हिरन आया, उस वृक्ष से उसने शरीर रगड़ा कि वह 'अरणि-मथनिका' सींग में उलझ गयी। वह व्यग्र होकर भागा। जैसे-जैसे वह भागता था 'अरणि-मथनिका' उछलती थी, और उसकी पीठ पर चोट करती थी। उस ब्राह्मण ने यह देखा तो बड़ा दुःखी हुआ। पाण्डवों की कुटी पर गया। वहाँ अकेले युधिष्ठिर थे। शेष चारों भाई और द्रौपदी आज बनवास के अन्तिम दिन इस बन के सुन्दरतम स्थल को देखने चले गये थे। यह स्थल अमृतह्लद नाम का एक तालाब था, जो अमृताचल पर्वत के एक शिखर पर था। आज प्रात. ही जब द्रौपदी स्नान करने गयी थी तो मार्ग में एक वज्रसेन से भेंट हुई। उसने

बताया था कि अमृतह्लद पर दानव रहता है, वह मनुष्यों को कष्ट देता है। पाण्डव समस्त दानवों को मार चुके थे—यह दानव कौन है ? उसे देखने और उस रमणीक स्थल का अवलोकन करने के लिए वे अमृतह्लद की ओर प्रस्थान कर चुके थे। युधिष्ठिर ने ब्राह्मण की कष्ट-कथा सुनी और वे हिरन का पीछा करने को चल पड़े। हिरन की एक झलक उन्हें दिखाई पड़ी—बस। वे अपनी धुन में चलते चले गये। यहाँ तक कि उन्हें प्यास लगी। पानी की खोज में वे एक आश्रम में पहुँचे। यह आश्रम अलकापुरी से निष्कासित मणिभद्र नामक यक्ष का था। युधिष्ठिर की यक्ष से बातें हुईं। उसने बताया कि यहाँ का जल मत पीना। हस्तिनापुर का कोई मनुष्य इसमें विष डाल गया है। उसने यह भी बताया कि वह इन्द्रपुरी में अर्जुन के दर्शन कर चुका है और तब से वह अर्जुन का भक्त है, और उनकी नगरी हस्तिनापुर के प्रति भी उसका आदर-भाव था। उसे आश्चर्य और खेद है कि उसी हस्तिनापुरी के मनुष्य ऐसा घृणित कार्य करते फिरते हैं। उसने यह भी बताया कि वह हिरन उसी का आश्रम-निवासी है, और वह 'अरणि-मथनिका' सुरक्षित है। यक्ष स्वयं जब ब्राह्मण को अरणि-मथनिका लौटाने गया तब वह ब्राह्मण से जान पाया कि जिस महानुभाव से वह अभी बातें करके प्रभावित हुआ था वह कोई और नहीं युधिष्ठिर थे—अर्जुन के बड़े भाई। अर्जुनादि चारों भाई और द्रौपदी अमृतह्लद गये हैं। इस सूचना से मणिभद्र को स्पष्ट हो गया कि हस्तिनापुर का जो मनुष्य जल में विष डाल रहा था, वह दुर्योधन का गण होगा और पाण्डवों को मार डालने के लिए ही वह ऐसा कर रहा होगा। तो अमृतह्लद भी विषाक्त हो सकता है। यह विचारकर वह तीव्रता से अमृतह्लद की ओर गया। सम्भव है, वह दुर्घटना होने से पूर्व ही उन्हें सचेत कर सके, यक्ष का अनुमान सत्य था। दुर्योधन के दुर्वृत्त नामक महत्त्वाकांक्षी गण ने वज्रबाहु नाम के एक व्यक्ति के सहयोग से अमृतह्लद को भी विषमय कर दिया था। इसी वज्रबाहु ने वज्रसेन बनकर द्रौपदी के मन में अमृतह्लद देखने की इच्छा उत्पन्न की थी। ये दोनों अपने षड्यन्त्र में पूर्णतः सफल हो चुके थे, क्योंकि चारों पाण्डव और द्रौपदी अमृतह्लद पहुँचकर विष पीकर प्राण दे चुके थे। इस सफलता ने दुर्वृत्त के मन में जो भावी ऐश्वर्य के मनोचित्र प्रस्तुत किये उनसे वह मदोन्मत्त हो उठा, वज्रबाहु उससे भी बढ़ना चाहता था। दोनों मिले और झगड़ पड़े, और परस्पर एक-दूसरे पर विष प्रयोग करके मर गये। उनके लड़ने की ध्वनि से आकर्षित होकर युधिष्ठिर अमृताचल पर चढ़े और मार्ग में दोनों को मृतक देखकर वे समस्त रहस्य समझ गये। उन्हें भी भाइयों की चिन्ता हुई। वे

अमृतह्रद की ओर लपके। वहाँ भाइयों और द्रौपदी को मरा पाया। तभी यक्ष भी वहाँ पहुँचा। उसके पास, पुरस्कार में मिली हुई, अमृत की एक बूँद थी। वह बूँद एक को जीवित कर सकती थी। युधिष्ठिर ने कहा, नकुल को जीवन दो। यक्ष को आश्चर्य हुआ। युधिष्ठिर ने समझाया। यक्ष समझा और उसने नकुल को अमृत दिया। पर वह अक्षय अमृत था। नकुल को जिलाकर अमृत की वह बूँद फिर लौट आयी—इस प्रकार सभी पाण्डव जीवित हुए और प्रातः होने से पूर्व ही 'अज्ञातवास' के लिए प्रस्थान कर गये।

कवि ने महाभारत के कथानक में उक्त परिवर्तन क्यों किया, उससे क्या उपयोगिता सिद्ध की, आदि बातों के विवेचन से पूर्व तो यह विचारना आवश्यक है कि महाभारत के इस अंश ने ही कवि को क्यों आकर्षित किया ?

इसके लिए यह अनुमान करने में तो कोई कठिनाई ही नहीं हो सकती कि चिरगाँव के इस कवि-कुटुम्ब में इतिहास से अधिक महाभारत-रामायण आदि का विशेष गौरव रहा है। सियारामशरणजी का कुटुम्ब ही कवि है, और स्वाध्यायी भी है। महाभारत का पठन-पाठन होना अस्वाभाविक नहीं। जिस युग और जिस काल में कवि उत्पन्न हुए हैं, उसमें उपेक्षितों की ओर ध्यान देने की प्रवृत्ति विशेष लक्षित हुई। इस प्रभाव के कवियों ने अपने विषय के निर्वाचन में पहले तो इस बात पर ध्यान दिया कि वह भारतीय गौरव का एक उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करने वाला हो। उसका कोई पात्र या स्वयं घटना उपेक्षित रही हो, अथवा बहुत प्रकाश में न आयी हो, और नयी-सी लगे। उसमें कुछ अद्‌भुत भी हो, और उसके द्वारा बुद्धि और हृदय को तुष्ट करने वाला कोई मानवता का सिद्धान्त और आदर्श प्रतिपादित तथा प्रतिष्ठित किया जा सके, और वह सामाजिक उपयोगिता के योग्य हो। तो सियारामशरणजी ने महाभारत पढ़ा होगा और वनपर्व में इस स्थान पर आये होंगे। इस कथानक के चरम-उत्कर्ष के स्थल पर 'नकुल' को अनायास ही पाकर वे चौंके होंगे। उन्हें इसमें उक्त बातें और सम्भावनाएँ विदित हुई होंगी। इस कथानक की ओर वे, हो सकता है, कुछ अंग्रेज़ी पुस्तकों के पृष्ठों से भी आकर्षित हुए हों। जिस अवस्था के श्री सियारामशरण गुप्त हैं, उस अवस्था के सभी विद्यार्थियों को अंग्रेज़ी में अनुवादित महाभारत का यह अंश कहीं न कहीं पढ़ने को अवश्य मिला है, और उसकी छाप भी अवश्य पड़ी है। पर उस अनुवाद से 'नकुल' नहीं उभरता—युधिष्ठिर की वह योग्यता और तत्पर-बुद्धि प्रभाव डालती है, जिससे वे यक्ष को, उसके प्रश्नों का उत्तर देकर, सन्तुष्ट करते हैं। यथार्थ यह है कि महाभारत की इस कथा को पढ़ते-पढ़ते 'नकुल' शब्द ने उन्हें आकर्षित

किया। वे इसका समय-परक एक अद्‌भुत अर्थ कर गये। उसी अर्थ में सामयिक उपयोगिता का भाव उन्हें समझ पड़ा।

कोश की दृष्टि से 'नकुल' शब्द का अर्थ 'न्यौला', चतुर्थ पाण्डव, पुत्र, शिव आदि होता है। तो इस कोश के चतुर्थ पाण्डव तो नकुल थे ही—कवि ने इसके द्वारा 'न-कुल' इस समास विग्रह से 'कुल-गोत्र-हीन' का अर्थ भी ग्रहण किया। कृष्ण के वंशीधारी बालरूप के दर्शन के समय कवि ने युधिष्ठिर के मन में यह भाव पैदा किया है :

> **ग्राम ग्राम में घाटबाट में भीतर-बाहर,**
> **सुलभ रहेगा बाल रूप वह सबको घर घर।**
> **न कुल न गोत्र न जाति सभी को होकर निज जन**
> **देगा सबको भव्य भविष्यत का आश्वासन।**

यहाँ 'नकुल' शब्द से वही अर्थ लिया गया है। कुल-गोत्र-हीन का अर्थ हुआ ओछा, छोटा, नीच, लघु। इस अर्थ से एक ओर छोटों का प्रतिनिधि 'नकुल' हुआ; दूसरी ओर छोटों से भिन्न बड़े। इस प्रकार नकुल के आश्रय से कवि की दृष्टि में मानव-समूह दो वर्गों में बँट गया—एक छोटों का वर्ग, दूसरा बड़ों का वर्ग। किन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि कवि ने दो वर्गों की कल्पना से 'वर्ग-संघर्ष' का वर्णन किया होगा। नहीं, कवि ने वर्ग-संघर्ष की स्थिति सर्वथैव स्वीकार नहीं की। उसने ऐसे दो वर्ग पृथक्-पृथक् नहीं माने जिनमें न तो परस्पर कोई नेह-सम्बन्ध है, न जिनमें कोई निजत्व है। कवि गांधीवादी है, उसकी मौलिक मान्यता जग को कुटुम्ब मानने की है : "वसुधैव कुटुम्बकम्", वह परस्पर-विरोधी हितों वाले वर्गों को खड़ा कर उनके नाश द्वारा वर्गहीन समाज का संदेश नहीं देना चाहता। वह 'हृदय-परिवर्तन' के धर्म में विश्वास करता हुआ 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' (ईशोपनिषद्) का हल प्रस्तुत करना चाहता है। इस सिद्धान्त की दृष्टि से 'नकुल' गुप्तजी के आकर्षण की वस्तु बना, अब उन्होंने इसी दृष्टि से कथानक का संशोधन प्रस्तुत किया। पहले तो उन्हें 'नकुल' को सबसे छोटा मानना पड़ा। महाभारत के युधिष्ठिर ने तो धर्म यही माना कि प्रत्येक माँ का ज्येष्ठ पुत्र जीवित रहे। युधिष्ठिर कुन्ती के ज्येष्ठ पुत्र थे, 'नकुल' माद्री के। किन्तु गुप्तजी तो नकुल की नयी व्याख्या करने चले हैं। उन्हें तो 'नकुल' को सबसे छोटा बनाना था। उन्होंने 'नकुल' से स्वयं ही ये शब्द कहलाये हैं :

> **पीछे आकर नहीं किसी विधि से मैं वंचित,**
> **मेरा भाग्य सुदीर्घ चार अंकों तक संचित।**

जिसका अर्थ स्पष्ट है कि वह चारों से छोटा था। इतना परिवर्तन उसने स्वीकार किया तो यह अड़चन आयी कि कथा-सूत्र को किस प्रकार स्वाभाविक और सामयिक बनाया जाय। धर्म द्वारा यक्ष-रूप धारण करना और माया से सबको मूर्छित करना उसे 'धर्म' के स्वरूप की रक्षा के लिए ग्राह्य न हो सका। महाभारत की कथा के तात्त्विक अंश की रक्षा तो उसे करनी ही थी—वह अंश द्वैधा था—एक तो एक ह्रद अनिवार्य, जिसका जल पीकर चारों भाइयों की मृत्यु हो, युधिष्ठिर बचे रहें। यह ह्रद मायावी न हो। दूसरे यक्ष हो, जिससे वार्तालाप हो युधिष्ठिर का; इसी यक्ष के द्वारा चारों भाई जिलाये जायँ। 'अरणि-मथनिका' वाला प्रसंग भी अक्षुण्ण रहे। इस दृष्टि से 'ह्रद' तो उसने अमृताचल पर्वत के ऊपर 'अमृतह्रद' नाम से स्थित किया। पर्वत की कल्पना से वन की शोभा बढ़ी, और ह्रद तक पहुँचने में पात्रों को इतना समय भी लगा कि एक दीर्घ व्यापार समाप्त हो सका। उसके जल को पीने से मृत्यु भी स्वाभाविक हो सकती है जब जल विषमय हो। यहाँ 'महाभारत' में ही जो संकेत था कि युधिष्ठिर ने अनुमान किया कि क्या दुर्योधन के गणों ने जल विषाक्त कर दिया है? इसी को कवि ने यथार्थ माना है और दुर्वृत्त को नियुक्त करके ह्रद को विषाक्त करा दिया, पर अब युधिष्ठिर की रक्षा कैसे हो? इसी के लिए यह कल्पना की गयी कि इतने ऊँचे पर्वत पर भ्रमणार्थ ही वयोवृद्ध युधिष्ठिर क्यों जायँ? वे कुटी में ठहरें, शेष आनन्द प्राप्त करें। इस प्रकार दो दल हो गये। अब 'अरणि-मथनिका' का प्रसंग भी ज्यों-का-त्यों रह सकता है। हिरन सींग में लेकर भागा और अकेले युधिष्ठिर ने पीछा किया। उन्हें यक्ष से मिलना आवश्यक था, अतः अवतारणा हुई कि वह यक्ष धर्म नहीं 'मणिभद्र' है। 'मणिभद्र' कौन? युधिष्ठिर ने बताया है :

होगा पर मणिभद्र नाम से कौन न परिचित ?
गुंजित हैं वे वचन आपके गिरि-गिरि बन-बन,
जन-जन में सर्वत्र कर रहे हैं मधुवर्षण
धनपति ने जब पुरस्कार में किसी कार्य के
बहुत-बहुत मणिरत्न किये थे भेंट आर्य के
फेर दिया था उन्हें आपने निस्पृह रहकर;
वेतन से अतिरिक्त लाभ उत्कोचन कहकर।
'इष्ट नहीं है अधिक, मिल रहा है बहुतेरा;
मेरा अपना कार्य पारितोषिक है मेरा।'
इसी कथन पर मिला आपको यह निर्वासन

निर्वासित मणिभद्र अमृताचल के नीचे आश्रम बनाता है। वह हिरन उसी के आश्रम का है, वह विचरता हुआ पाण्डवों की ओर जा निकला है, तभी 'अरणि-मथनिका' की घटना घटती है, और युधिष्ठिर उसका पीछा करते हुए 'मणिभद्र' से मिलते हैं। किन्तु मणिभद्र महाभारत का धर्मरूप यक्ष नहीं। वह युधिष्ठिर की परीक्षा नहीं ले सकता। यही कारण है कि मणिभद्र के प्रश्न उसकी वास्तविक जिज्ञासा के द्योतक हैं। दुर्वृत्त और वज्रबाहु को कवि ने परस्पर लड़ाकर मार डाला है।

ये परिवर्तन कवि ने मूलकथा में संशोधन करने के लिए किये। इन संशोधनों के साथ उसने कुछ परिवर्द्धन भी किये। दुर्वृत्त और वज्रबाहु भी परिवर्द्धन में ही माने जायेंगे। पर वे कथा की स्वरूप-रक्षा के लिए आवश्यक हो गये थे। पर काव्य के संदेश को पूर्ण, पुष्ट और कलामय बनाने के लिए कुछ और परिवर्द्धन करने पड़े। ये परिवर्द्धन दो प्रकार के हैं—एक तो कथा के शून्य की पूर्ति के लिए—कवि केवल कहानी कहने नहीं बैठा—उसे काव्य प्रस्तुत करना है। उसके लिए उसे कहानी के ढाँचे को भरना पड़ेगा। यह कथात्मक सज्जा ऐसी होनी चाहिए कि कलात्मक भी हो, उद्देश्य में सहायक भी हो, और कथा को गति भी दे। फलतः जब पाँचों पाण्डव और द्रौपदी बन में हैं, तो वे कुछ-न-कुछ करेंगे ही। क्या करेंगे उसकी कल्पना कवि ने यों की है :

द्रौपदी प्रातः उठकर सरिता-स्नान करने जायगी। वह मिट्टी की मूर्ति तो है नहीं, कुछ देखेगी, कुछ सोचेगी। देखेगी प्रातः शोभा, नदी, वन, अपनी कुटी—और क्योंकि चौदह वर्ष के बनवास का अन्तिम दिन है, और कल यह स्थान और कुटी उसे छोड़नी होगी—वह इसी दृष्टि से समस्त प्रकृति को देखकर विचार करेगी। स्नान करके लौटने के समय उसे वज्रसेन के रूप में वज्रबाहु मिल जायगा। वह अपनी बातों से अमृतह्रद देखने की उत्कण्ठा द्रौपदी में उत्पन्न कर देगा; अब द्रौपदी युधिष्ठिर की पूजा के लिए पुष्प-चयन करेगी।

किन्तु आज द्रौपदी को समय से अधिक देर लग गयी है। कारण स्पष्ट है। तब युधिष्ठिर भाइयों से बातें करने लगेंगे, और बातें होंगी पारस्परिक प्रेम की और क्योंकि काव्य को 'नकुल' होना है, इसलिए इन बातों में घुमा-फिरा कर नकुल को महत्त्व देना पड़ेगा। यहाँ वात्सल्य का परिपाक होगा। उधर अर्जुन द्रौपदी को खोजने निकल पड़ेंगे, और फूल चुनते उसके प्रातःकालीन सौन्दर्य को देखकर मुग्ध होते हुए उससे बातें करने लग जायेंगे और सरिता के किनारे भ्रमण करने चल पड़ेंगे। सामने पर्वत को अड़ा देखकर रुकेंगे, यहीं

द्रौपदी को उस पर्वत पर स्थित अमृतह्रद का पुनः स्मरण होगा, और वह आज अन्तिम बार उस स्थान की आनन्दयात्रा का प्रस्ताव कर देगी। वे लौटेंगे और युधिष्ठिर से आज्ञा पाकर अमृताचल यात्रा को चल पड़ेंगे—युधिष्ठिर यह कहकर कुटी में ही रह जायेंगे :

हलके हो तुम तात, तुम्हीं चढ़ सकते ऊपर;
मुझे बहुत यह, रहूँ पार्वती के पद तल में।
कब अब मेरा भाग अम्बिका स्तन्य अमल में।

हम यह माने लेते हैं कि जब अर्जुन और द्रौपदी अकेले भ्रमण कर रहे हैं तब वे पति-पत्नी भाव से बातें करेंगे, विविध मनोरंजक और प्रेम-पवित्र बातें। जब वे सब पर्वतारोहण कर रहे होंगे तो बातें विनोद की होते हुए घूम-फिरकर फिर नकुल पर केन्द्रित हो जायेंगी, नकुल वंशी बजाना जानते हैं। उनका स्वर गूँज उठेगा। फिर थकावट आरम्भ होगी, फिर प्यास और फिर मृत्यु-ग्रास !

इस प्रकार कथान्तर्गत शून्य की समस्त पूर्ति हो जायगी, कवि को सन्तोष होगा, पर एक दूसरा परिवर्द्धन भी इस कवि ने किया है। उसने तीन प्रसंगों की अवतारणा स्मरण अथवा संस्मरण के रूप में और करायी है। ऐसा उसे उद्देश्य को और सन्देश को पुष्ट करने के लिए तथा काव्य की एकरसता को दूर करने के लिए भी करना पड़ा है।

(१) युधिष्ठिर हिरन के पीछे चल पड़े हैं। चलते-चलते उन्हें भी तो कुछ सोचना है। वन-वृक्ष-लता-पता-प्रकृति उनको कुछ देर उलझाती है, पर उनका ध्यान तो एक अद्भुत सौन्दर्य की ओर आकृष्ट हो चुका है। वे वृन्दावन में पहुँच चुके हैं, वे बहुत पहले की बात स्मरण कर रहे हैं। वहाँ वंशी बजाते बालकृष्ण की अनोखी शोभा वे देखते हैं। गोपी मुग्ध हैं, हिरन भी मुग्ध हैं; और वे हिरन के अपने बन जाते हैं। हिरन के प्रसंग से यह स्मरण उन्हें हो आता है। इस दृश्य के द्वारा हृदय की प्रेमभरी मधुरता की शक्ति की छाप पड़ती है। युधिष्ठिर इस संदेश को शाश्वत समझते हैं।

(२) युधिष्ठिर और मणिभद्र मिल चुके हैं। मणिभद्र के लिए हस्तिनापुर नाम में विशेष आकर्षण है। युधिष्ठिर की जिज्ञासा पर मणिभद्र अमरपुरी का अपना वह संस्मरण सुनाता है, जब अर्जुन वहाँ गये थे, और इन्द्र के अतिथि बने थे। वहाँ उसने अर्जुन को देवताओं के चमत्कार और वैभव और ऐश्वर्य से बिना प्रभावित हुए अपने साधारण वेष में अविचलित और हृष्ट भाव से बैठे देखा था। उससे उसे कितना सुख और आत्मबल मिला था :

वहाँ—जहाँ जग रही महोत्सव दीपक-माला।
अन्तस् की यह ग्लानि, संगिनी इस जीवन की;
निराभरणता,—छाप दीनता की इस तन की—
गयी न जाने कहाँ निमिष में ही भीतर से,
रिक्त वेश में यहाँ पार्थ के दर्शन भर से।

वस्तुतः कवि ने इस प्रसंग में मणिभद्र के व्याज से स्वयं गांधी जी की उस ऐतिहासिक इंगलैण्ड-यात्रा का वर्णन किया है जिसमें गांधी जी अपने साधारण दैनिक वेष में ही वहाँ के सम्राट् से मिले थे, और सम्राट् को उनके लिए सहस्रों वर्षों की पुरानी परम्परा तोड़ देनी पड़ी थी। इसमें मानव की महन्ता का भाव कवि ने अमर कर दिया है।

(३) पुष्प-चयन करती द्रौपदी से बातें करते समय—वन, लता, पुष्प के साथ द्रौपदी को देखकर अर्जुन को अपनी एक कैलाश-यात्रा का स्मरण हो आया। वहाँ, पार्वती के यहाँ उन्होंने इसी भारतभूमि की एक कंटकिता लता देखी—पार्वतीजी से वे पूछ बैठे—यह क्यों ? पार्वतीजी ने राम के साथ वनवास भोगती हुई सीताजी के दर्शन कर नेका अपना संस्मरण सुनाया—उन्होंने देखा :

सीता सह श्री रामचन्द्र रघुवंश दिवाकर,
इसी विजन में बैठ गये हैं एक शिला पर।
भाभी के क्षत चरण-कमल अवलोक व्यथायुत,
आगे पथ की टोह में गये हैं लक्ष्मण द्रुत।

× × ×

सीता के सन्निकट सुभागिनि लता यही थी,
शूल-शयन पर स्वर्ण-सुमन में फूल रही थी।
"आर्यपुत्र, यह विजन-लता फूली है कैसी,"
बोले राघव "विजन बीच शोभित तुम जैसी,"
सीता ने सप्रेम तभी वह पुष्प चयन कर,
किया समर्पित समाराध्य के पद-पद्मों पर।
जैसी भी हो देव—अधिक इससे क्या चाहे,
सीता अपना भाग्य इसी सा सतत सराहे।

और इस संस्मरण के द्वारा पुनः मानव की प्रतिष्ठा के साथ स्त्री का भाग भी इस छोटे से काव्य में कवि ने दिला दिया है। संकटों में घर-बार त्याग कर, वन और बीहड़ में, पर और अपरिचित प्रदेश में ही टकराती और भटकती

नारी को ही इसमें संदेश नहीं वरन् नारी के अमर समर्पण को कवि ने यहाँ वाणी दे दी है। 'नकुल' का यह संक्षिप्त स्वरूप है।

यह 'नकुल' काव्य-कला का सुन्दर उदाहरण है। इसमें मानव की, लघु मानव की जय ही नहीं घोषित है, समग्र सृष्टि के प्रेम की पावनता का अधिकार सिद्ध किया गया है। कवि ने मनुष्य, पशु और प्रकृति का एक मनोरम कौटुम्बिक रूप खड़ा कर दिया है। वृक्ष, नदी, पर्वत सभी जैसे जीवन में एक स्थान रखते हैं, उनमें भी जैसे एक उदारता है, पारस्परिक सहानुभूति का भाव जैसे उनमें व्याप्त है—हिरन का पीछा युधिष्ठिर कर रहे हैं—और चारों ओर अगम्य वन हैं—वहाँ उन्हें यह अनुभूति होती है :

आगे पीछे इधर-उधर झाड़ी ही झाड़ी,
नीचे-ऊँचे सरस-शुष्क वृक्षों की बाड़ी।
इनमें मृग का हितू हुआ वह कौन अयाचित,
जिसकी छाया—यथा उठी उँगली का इंगित।
बता रही थी उसे सुरक्षित पथ आगे का ?

इसमें प्रकृति का यह सहानुभूतिपूर्ण सहयोग केवल अलंकार्य नहीं। वह यथार्थ व्यापार है, हिरन उस अगम्य वन में सुरक्षित मार्ग पाता चला गया—यह क्या बिना प्रकृति के सहयोग के सम्भव हो सकता था ? युधिष्ठिर की अनुभूति में प्रकृति का वह यथार्थ सहयोग एक सम्भावना के रूप में ही हुआ है, और उस सम्भावना में वे विश्वास करके उस अज्ञात को धन्यवाद दे उठे हैं :

धन्य बन्धु अनजान प्राण लेकर भागे का,
नमस्कार है उसे !

पशु-पक्षियों के साथ यह कौटुम्बिक भाव कुछ ही आगे और स्पष्ट होता है, जब युधिष्ठिर के मन में वहाँ की स्थिति से ये भाव जागृत होते हैं :

किस रहस्य की किये वनाली है रखवाली,
दिये हुए हैं अधर पल्लवों पर अँगुली-सी !
इसकी छाया-लटें लहरती हुई खुली. सी,
उस जननी का स्मरण दिलाती यह मनभाया।
जिसका छौना कहीं उपद्रव कुछ कर आया,
इस डर से,—ले जाय न कोई शिशु को धरकर।
व्याकुल हो जो करुण भाव नयनों में भर कर,
'यहाँ नहीं वह !' ध्वनित यहाँ की नीरवता में।

प्रकृति की वन-शोभा में इस वात्सल्य-भाव की व्याप्ति प्रकृति के कौटुम्बिक

भाव को दृढ़ कर रही है। यह अवस्था प्रकृति की पशुओं के लिए ही नहीं, जो अपने हैं, सभी के लिए है—द्रौपदी पहले-पहल वन में आयी तो उसे यह अनुभव हुआ :

इस वन में, इस वनस्थली में मैं जब आई,
मैया की-सी गोद यहाँ आते ही पाई।

प्रकृति के प्रति यह भावना भारत की दीर्घ परम्परा में आती है। वनदेव और वनदेवी की कल्पना कितनी प्राचीन है। तुलसी ने सीता के आश्वासन के रूप में कहा है :

वनदेवी वनदेव उदारा।
करिहहिं सास-ससुर सम सारा॥

और, गुप्तजी में उसी प्रकृति की वनदेवी को साक्षात् 'माँ' रूप में हम देखते हैं। यही नहीं, कवि इस बाह्य वात्सल्य के मनोमुग्धकर भाव से और भी ऊँचा उठकर प्रकृति के इस सम्पर्क को दिव्य बना देता है—विकल द्रौपदी वन की गंगा में अनायास ही अपने को भूलकर एक आध्यात्मिक अनिर्वचनीय अनुभूति की लहर में परिप्लावित हो उठती है। द्रौपदी विचार कर रही है :

तेरे तट पर इधर उधर इन तरु पुंजों में,
मृदु मारुत-मर्मरित विहग-कूजित कुंजों में,
बैठी बैठी दूर देखती हुई दिगन्तर,
पाया जब तब, भरा भरा है मेरा अन्तर,
सुख था अथवा दुःख न निर्णय कर पाई वह।
अनुभव भर कर सकी अनिश्चित वह, निश्चित वह !
कह लो कुछ भी उसे भले उसके पल दो पल,
इस जीवन के अमृत बिन्दु बनकर है झलमल।

द्रौपदी अनुभव कर रही है, उन क्षणों में आत्मा में अमृत-भाव का संचार अवश्य हुआ—तभी वह कहती है :

पल दो पल वे, पता नहीं, किस ऊर्ध्व धरा से
टपके थे ज्यों काल वृक्ष के सुफल त्वरा से—

प्रकृति के इस वर्णन में कलाकार का उत्कर्ष स्पष्ट जगमगा उठा है। हमें साहित्य में प्रकृति के कितने ही रूप मिलते हैं। प्रकृति का उद्दीपन रूप हमें साहित्य में बहुधा मिलता है, पृष्ठभूमि वाली प्रकृति का भी अभाव नहीं, अलंकार-रूप में प्रकृति को हँसते-रोते भी देखा गया है, कोई-कोई दार्शनिक नदी-नालों और वृक्षों में पठनीय पुस्तकों के दर्शन भी कर सका है, किसी-

किसी को प्रकृति पुरुष के आध्यात्मिक सम्पर्क का संकेत लिये मिली है। किन्तु सियारामशरण के कलाकार कवि ने प्रकृति को मनुष्य और पशु से अभिन्न कर कौटुम्बिक स्नेह और सहानुभूति के रस से ही अभिमण्डित नहीं किया, उसके द्वारा उच्च भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित होने की शक्ति का भी उद्‌घाटन किया है, जो अभिनव है। प्रकृति के सौन्दर्यांकन में इससे सात्त्विक भाव का जो रंग चढ़ता है वह अनुपमेय है, आत्म-बल को दृढ़ करने वाला है और रुचि का परिमार्जक है। यहीं कवि की कला की परीक्षा होती है। यों प्रकृति को इसने भी कहीं-कहीं उद्दीपन, पृष्ठभूमि अथवा उपमान रूप में प्रस्तुत किया है, उसकी आकार-सुषमा का आकर्षण प्रस्तुत किया है, पर वह सब प्रासंगिक है, यही भाव मौलिक हैं, और कवि के साथ यही यथार्थ है।

पर 'ऊर्ध्वधरा' के उल्लेख से यह भ्रम नहीं हो जाना चाहिए कि कवि किसी ऊर्ध्व से बहुत प्रभावित है। भावों के ऊर्ध्व धरातल में विश्वास करते हुए कला में वह मानव और मानव में ही 'न-कुल'-दीन-हीन किंकर की प्रतिष्ठा प्रस्तुत करता है। कवि और कलाकार ने अब तक मनुष्य से अधिक देव, और भूमि से अधिक स्वर्ग को महत्त्व प्रदान किया था। इसलिए हमारी समस्त प्रेरणाओं का उद्रेक इन्हीं के द्वारा होता है।

कोई बहुत प्रसन्नता का प्रशंसनीय कार्य हुआ तो कहा जाता था :

बरसि सुमन हर्षहिं अमर

देवी-देवताओं द्वारा पुष्प-वर्षा हिन्दी-संस्कृत-साहित्य में प्रसिद्ध कवि-समय की भाँति गृहीत थी। स्वर्ग-प्राप्ति जीवन का चरम लक्ष्य था। गीता में कृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि जीतने पर पृथ्वी भोगोगे, युद्ध में काम आने पर स्वर्ग भोगोगे। मनुष्य-देव का यह भेद जहाँ देवताओं को उत्कर्ष प्रदान करता था वहाँ मनुष्य में हीनता-बुद्धि और अकर्मण्यता को जन्म देता था। यद्यपि ऐसे भी स्वर साहित्य में विद्यमान रहे हैं, जिनमें भारतभूमि की प्रशंसा की गयी है और 'जननी जन्म-भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' ऐसा भी कहा गया है। पर ये स्वर अत्यन्त मन्द और अस्पष्ट रहे। मानव और धरा में श्रद्धा का लोप और देवताओं तथा स्वर्ग-अपवर्ग में विश्वास—यह अब तक के समस्त भारतीय धर्मों का ध्येय रहा। अवतारवाद ने कुछ संशोधन तो किया, पर इससे भूमि का महत्त्व तो बढ़ा; भूमिपुत्र, पृथ्वीपुत्र, का महत्त्व नहीं बढ़ा। इस परम्परा ने तो मानव-आस्था नष्ट कर दी थी, और इधर आधुनिक वैज्ञानिक युग के बुद्धिवाद ने अमर और स्वर्ग में से आस्था नष्ट कर दी। फलतः मनुष्य की पूर्ण मृत्यु हो गयी—न उसे इस लोक में विश्वास रहा, न उस लोक में। वह

छाया और प्रेतों में भ्रमने लगा। उसकी नीति का पेंदा फूट गया। टाल्सटाय और गांधी ने मानव के इस महान् पतन को देखा—ये दोनों महान् कवि और द्रष्टा थे। जिसे न स्वर्ग का सहारा है, न मृत्यु का; वह अतल होकर कहाँ जायगा! तभी मानव की पुनःप्रतिष्ठा की बात कही जाने लगी—मैथिली-शरण गुप्त ने पहले तो यह कहा कि मैं मनुष्यत्व को सुरत्व की जननी कह सकता हूँ। फिर राम को पृथ्वी पर अवतीर्ण करके कहा कि मैं मनुष्यों को स्वर्ग ले जाने के लिए नहीं आया, वरन् यहीं स्वर्ग स्थापित करने आया हूँ। इसी कवि ने पहली बार 'नहुष' में स्वर्ग को मनुष्य का भुक्तोच्छित—भोग करके त्यागा हुआ—जूठन कहा था। और तब उन्होंने पहली बार खोये मानव को पुनः प्रतिष्ठित करने का एक उद्योग किया था। इस युग का खोया मानव कैसे पुनः पाया जा सकता है, यह एक प्रश्न है? सियारामशरणजी ने कहा कि उसका साधन यही है कि मानव और भूमि में पुनः आस्था स्थापित की जाय। तभी उनका कवि अर्जुन के साथ दो बार दिव्यलोक में गया है—एक बार इन्द्रपुरी में—देवताओं के राजा के यहाँ, दूसरी बार कैलाश पर माता भवानी के पास। और प्रत्येक बार वह 'मानव की प्रतिष्ठा' के भाव में पुष्ट होकर लौटा है। पृथ्वी को वह स्वर्ग ले गया है, और वहाँ से पृथ्वी अपने गौरव के साथ, गौरव की छाप छोड़कर अपने में पूर्ण आश्वस्त लौटी है। मणिभद्र ने अर्जुन की उस स्वर्ग-यात्रा का वर्णन किया है—उस देवलोक में अलकापुरी का यह यक्ष भी हीनताभाव अनुभव कर रहा था—मणिभद्र ने उस अद्‌भुत दृश्य का वर्णन यों किया है :

बढ़कर आता गया पार्थवाही गज ज्यों-ज्यों,
तर-लर होता गया तरंगित मानस त्यों-त्यों।
अब समीप से देख धनंजय को मैं पाया,
नर तो पहली बार कहीं दर्शन में आया।
मुख में थी मुस्कान कि थी मुस्कान समुखमय,
उलझ गये उस एक सत्य में संकल्प-द्वय।
वह दिव-वैभव, प्रभामयी मणियों का मेला,
सुरपुर की सौंदर्य - तरंगों की वह खेला।
चकित नहीं कर सकी पार्थ को जैसे कण भर,
दमित न था ज्यों किसी हीनता में वह क्षण भर।
समासीन उस देव-द्विरद पर ऐसे वह था,
मानों उसके लिए सतत साधारण वह था।

और इस दर्शन ने मणिभद्र को अपने से तुलना करने पर बाध्य किया :

मैं यह जो हूँ धनदपुरी का छोटा चाकर,
जड़ित तुल्य रह गया खड़ा विस्मय में आकर।
जिसके तनु पर न हो क्षुद्र मणि का भी गहना,
जिसने कर्कश कठिन वसन वल्कल का पहना।
धन में जिसके पास धनुष भर हो साधारण,
कर कैसे वह सका वहाँ निज दैन्य निवारण !

यहीं तो मनुष्य का, पृथ्वीपुत्र का, यथार्थ महत्त्व सिद्ध हुआ, और पृथ्वी-पुत्र मानव में यों पुनः आस्था लौटी :

धन्य धनंजय ! धन्य तुम्हारा शुभागमन यह
ऊर्ध्व लोक में धन्य तुम्हारा समुन्नयन यह।
प्रकटित तुमने किया सहजपन से ही आके,
सच्चे सुत हो तुम्हीं मृण्मयी वसुन्धरा के
उसके निम्न नितान्त सर्वसाधारण जनसम,
आये हो तुम यहाँ स्वर्ग में मान्य महत्तम।
करके निज को राज-वेश-भूषा से सज्जित।
किया न तुमने किसी धरित्री-सुत को लज्जित—

यह फिर वही स्थल है जहाँ कवि की कला के उत्कर्ष की परीक्षा होती है। मानव के इस उत्कर्ष में मानव के 'निजत्व' का आदर है, और इस निजत्व में मानव की अडिग आस्था ! इसी मानव के स्वभाव के धर्म में कवि ने यथार्थ उत्कर्ष अंकित किया है। देवताओं को उसने गिरने नहीं दिया। उनका अपना वैभव है, उनका अपना निजत्व है। उसमें साधारणतः हीनता-भाव उपन्न करने का आतंक है—और मानव उससे बचता है और अप्रभाविन रहता है तो देवत्व स्वयमेव उस मानव के समक्ष दीन हो जाता है, अपने समस्त ऐश्वर्य की चकाचौंध रहते भी चित्र में यदि विकृत और कुटिल रेखाएँ डाले बिना सात्त्विक भाव महमह महक उठे, उभर उठे और सप्राण खड़ा हो सके तो कलाकार को आप क्या कहेंगे ? यहाँ तो उस मानव की इस विजय का उद्घोष एक यक्ष—एक अ-मानव कर रहा है—एक अन्य पुरुष—और उसकी यह विचारणा अर्जुन को समस्त मानवों का प्रतिनिधित्व प्रदान कर देती है :

उस दिन का सत्कार उन्हीं का न था अकेला।
इस अवनी में जहाँ कहीं भी हैं जितने जन,
न कुल न गोत्र, न जाति किसी में जिनका आसन
वे सब उसके संग हुए थे उच्च अधिष्ठित

जो कला यहाँ है, वह कैलाश-यात्रा में पार्वती के मुख से सीता की प्रतिष्ठा में भी है। एक चित्र में इस कलाकार ने मनुष्य के वास्तविक महत्त्व को चित्रित किया है, दूसरे में स्त्री के स्त्रीत्व को ! यथार्थ में ये सब विशद व्याख्या चाहते हैं। प्राचीन चित्रों को नयी रेखाओं से इस प्रकार चित्रित करने की कला का बल क्या सहज ही आँका जा सकता है।

कवि का यह कला-सौष्ठव मानव-स्वरूप की यथार्थ अनुभूति में बाधा डालने वाले तत्त्वों को हटाने में है। उसने देखा है कि मानव के स्वरूप की अनुभूति के स्पष्ट होने में सबसे बड़ी बाधा 'हीनता' भाव के कारण है। यही हीनता-भाव मनुष्य के पतन का प्रधान कारण है। छोटे-बड़े का, क्षुद्र-महत् का भेद संसार में अवश्य रहेगा—वह किसी भी विधि, किसी भी प्रणाली से मिटाया नहीं जा सकता—'होगा निश्चय क्षुद्र-महत् का भेद भुवन में' फलतः 'लघु' अपने अहंकार में 'महत्' से, बड़े से, स्पर्द्धा कर सकता है।

यह स्पर्द्धा-भाव हीनता-भाव-मण्डल पैदा करेगा ही। विषमता के कारण अनेक रोग और अनेक संघर्ष उत्पन्न होंगे ही। आर्थिक विषमता दूर करने मात्र से मनुष्य समाज में सुख और शान्ति नहीं आ सकती। कवि की जो पंक्तियाँ ऊपर उद्धृत की गयी हैं, उनमें से जैसे इसी आर्थिकवाद का प्रतिवाद झलक रहा है। आर्थिक विषमता तो अन्य अनेक अनिवार्य विषमताओं का एक परिणाम है। मनोविश्लेषण-शास्त्र की प्रतिष्ठापक फ्रायड-ऐडलर-जुंग की आचार्यत्रयी में से एक ने भाव-मण्डल (Complex) को भी सहजात माना है। यहाँ हमें आर्थिक विषम-वितरण के सिद्धान्त में विश्वास रखने वालों के दर्शन की आलोचना नहीं करनी। कवि निश्चय ही यह मानता है कि मनुष्य के दुःख का मूल कारण उसका हीनता-भाव-मण्डल (Inferiority Complex) है। इसी से उसमें तृष्णा, असंतोष और अशान्ति होती है। मूल कारण स्वयं प्रकृति में है, वह अनिवार्य है, वह मनुष्य दूर नहीं कर सकता। उसको दूर करने का मूल-मंत्र एक है—उस मौलिक विषमता को यथार्थतः ग्रहण करना, और स्वस्थतः उस पर विचार करना। न तो अपने लघुत्व पर हीनता अनुभव करना, न महत्त्व पर अहंकार। प्रत्येक का अपना गौरव है; उस गौरव को उसे निर्भ्रान्त उसकी निजी गरिमा के अनुकूल मूल्य प्रदान करना है। ऐसा करने से ही इस द्विविधा के युग में मानव की अपनी खण्डित प्रतिमा का उद्धार सम्भव है। अर्जुन को अविचलित, अप्रभावित और प्रसन्न भाव से अपने ही दरिद्र-वेष में ऐश्वर्य के समक्ष उपस्थित कराके कवि ने यहीं हीनता-भाव दूर करने का प्रयत्न किया है। सुख और दुःख के सम-असम वितरण की चर्चा के वातावरण

में, जबकि दमित काम-कुण्ठा के चित्र प्रस्तुत किये जा रहे हों, काव्य-कला द्वारा मानव-प्रतिष्ठा का यह स्वर अभिनव है; सौम्य और गहरा है।

मानव को मानव बनाकर कवि ने अपनी भूमि की प्रतिष्ठा भी लौटायी है—अर्जुन ने अपनी कैलाशयात्रा के संस्मरण सुनाकर सीता के समर्पण का मर्म प्रकट किया। पुष्प के बहाने सीता ने राम के चरणों में जो समर्पण किया उसके स्मरण से पार्वती भी गद्‌गद हुईं, और द्रौपदी को तो आत्मविभोर होना ही था। यह उस रसमय स्थिति का स्वाभाविक परिणाम था, तभी उसने भी सीता की भाँति अर्जुन से कहा :

बोली वह—"प्रिय, और अधिक कृष्णा क्या चाहे,
इन सुमनों-सा भूरि भाग्य वह सतत सराहे।"

पर इस समर्पण से ही पुरुष को यथार्थ बल मिलता है। अर्जुन भी गद्‌गद हैं :

और प्रियतमे, कृती आज अर्जुन भी है यह,
जो यों गिरि वन पार कर रहा है साध्वी सह।

इस भाव-विमुग्ध मनोस्थिति में वह प्राकृतिक सुषमा, और उसी समय कोकिल की कूक! द्रौपदी के हृदय में सुख और आनन्द का सागर उमड़ पड़ा! उस क्षण के सुख से अधिक सुख फिर कभी मिल सकता है क्या? वह क्षण सुख का चरम था। और तभी क्षणजीवी उमरखय्यामियों की भाँति द्रौपदी कह उठी :·········

प्राणेश्वर

यह वेला, यह सङ्ग और यह मंजुल मर्मर!
ऐसे ही में क्यों न प्राण-पिक भी उड़ जावें,
कूक चुका भरपूर, लोभ क्यों वृथा बढ़ावें।

कवि ने प्रेमी के हृदय के सुख और आनन्द की मदोन्मत्तता यहाँ जैसे अविकल प्रस्तुत कर दी है। हम द्रौपदी के हृदय में उठने वाली कोकिल की कूक-सी एक हूक का अनुभव करते हैं; उसके अन्तर में एक प्रकाश की झलमलाहट अनुभव करते हैं। द्रौपदी ने जो चाहा है, उससे अधिक और क्या चाहा जा सकता है?

तभी कवि इस उन्माद को धीरे-धीरे अर्जुन की वाणी से उतारता है। यहीं वह अपनी भूमि का महत्त्व प्रतिपादित करता है, यहीं वह प्रतिष्ठित, अखण्डित मानव के कर्म का महत्त्व प्रतिपादित करता है, यहीं वह पलायन का विरोध करता है; क्यों हम इस भूमि को छोड़कर स्वर्ग जाने की सोचें?—

निःशेषित क्या हुआ रसा का था जो जितना,
शूल-फूल का सुरस न जाने अब भी कितना।
एक अवधि गत हुई, दूसरी अभी अजित है,
यह दुर्गम उत्तीर्ण, अन्य वह समुपस्थित है।
सोहेगा क्या यहीं हमें यह भाव-पलायन,
लेने को हैं काल-करों के विपुल उपायन।

यहाँ तो एक के बाद एक काम प्रस्तुत हैं, उन्हें छोड़कर स्वर्ग की चाहना पलायन है—अर्जुन ने इसीलिए कहा :

विधि ने विरचे नहीं सिंह-सिंही उड़ने को,
उनके गौरव इसी मृण्मयी से जुड़ने को।

कायर ही पृथ्वी को, मैदान को, छोड़कर भाग सकते हैं। वीर तो भूमि के ही लिए हैं—हमें अपनी भूमि और अपने स्तर पर ही रहना शोभा देता है :

यही उचित है, इष्ट हमें अपना ही स्तर हो;
भू पर उल्कापात, स्वस्ति-गृह है ऊपर जो !
हम अपने ही धरा-धाम के हैं अभिलाषी
मर्त्यभूमि में चाह चिरन्तन के आश्वासी,
फूल रहे हम इसी मेदिनी के फूलों में
झूल रहे ज्यों कण्ठहार बिंध कर शूलों में।

दुःख और सुख में हमें अपनी मर्त्यभूमि ही वरेण्य है, अपनी मातृभूमि ही सेव्य है।

इस प्रकार आज के इस कवि ने मानव की 'खण्डित मूर्ति' पुनः अभिमण्डित की है, और अपनी ही इस भूमि और अपने ही कर्म में पुनः आस्था उत्पन्न की है। इतने महत्त्व की उद्‌भावना इनमें भरकर भी यह द्रष्टव्य है कि कवि ने इस प्रतिष्ठा को प्रासंगिक स्थान ही दिया है। वस्तुतः यह तो 'मानव' की प्रतिमा, विग्रह, वपु या रूप-रेखा है—अब तक तो यह भी कहीं नहीं था। मूल 'प्राण' तो आधिकारिक वस्तु में स्पन्दित मिलते हैं—दो स्थलों में वे 'प्राण' प्रकट हुए हैं। एक कृष्ण के बाल-दर्शन में, वंशीधारी कृष्ण के दर्शन में, और उस दर्शन के सन्देश में, दूसरे नकुल के वंशीधारण में। आदि का कृष्ण-दर्शन नकुल के वंशीधारी अन्तिम दर्शन से मिलकर जैसे इस काव्य के आदि-अन्त को एक कर रहा है।

हीनता-भाव-रहित हो जाने पर स्वस्थ मानव-निर्माण मात्र से कर्म-व्यापार में अभीप्सित सुख नहीं मिल सकता। इस दुःख-सुखपूर्ण, प्रपंच-छलपूर्ण

गरल-अमृतपूर्ण वसुधा में वंशी का वह मधुर प्रेम भरा स्वर ही सार है, वही इस जग के समस्त भेद में अभेद का विश्वास भर सकता है। युधिष्ठिर ने कृष्ण की वंशी का वह स्वर सुना और वे उस स्वर में रँग गये—युधिष्ठिर ने उस मुरली का ऐसा कौनसा विमोहक स्वर सुना और समझा था ?—युधिष्ठिर सोच रहे हैं :

माधव, माधव, मात्र तनिक यह ध्यान तुम्हारा,
बहा गया है रोम रोम में सुस्वर धारा,
इस भव में बस जहाँ शर-क्षेपण की दूरी
मानी जाती माप वीर के गुण की पूरी;
लय-स्वर हैं निःशेष धनुष की टंकारों में,
आक्रन्दित हैं हृदय पुरुष की हुंकारों में,
वहाँ एक बस तुम्हीं अधर पर मुरली धरकर,
फूँक रहे हो प्राण-प्राण में निज प्राण-स्वर,
इतने में रस-धार बह उठी वह उर-उर की
उस कदम्ब के तले बज उठी मोहक मुरली।

× × ×

दूर-दूर तक गयी वेणु-वादन की द्रुत लय
जड़ तक चेतन हुआ, निखिल चेतन ज्यों तन्मय

मुरली का स्वर जड़-चेतन का प्राण था। पर इससे भी अधिक युधिष्ठिर ने अनुभव किया :

वह मुरली जो खींच वनमृगी को भी लायी
देकर जिसने अभय प्राण की भीति भगायी,

यह मुरली-स्वर का गूढ़ रहस्य है—उस स्वर से आकर्षित होकर वनमृगी क्यों चली आयी ? उस मुरली-ध्वनि में अभय का सन्देश था। प्रेम-माधुर्य के अतिरिक्त और 'अभय' का भाव कहाँ है ? कहाँ है अन्यत्र वह स्थान जहाँ प्राणों की भीति भाग सकती हो ? सेना, शौर्य, अस्त्र-शस्त्र और आतंक में विश्वास रखने वाले एक क्षण रुककर युधिष्ठिर की भाँति विचार तो करें—संसार के इतने दीर्घ इतिहास में अस्त्र-शस्त्र का बल कब कितने प्राणियों को निर्भय कर सका है ? अस्त्र-शस्त्रों पर हम जितना अधिक विश्वास करते गये हैं, उतना ही अधिक विश्वासघात हुआ है—उतना ही भय अधिक बढ़ा है। वह भय बढ़ते-बढ़ते आज यहाँ तक पहुँच गया है कि अब कोई भी प्राणी अपने को कहीं भी निरापद नहीं समझता ! युद्ध प्रतिदिन घहरते सुनाई पड़ते

हैं, और उनके दुष्परिणाम को जीवन-यापन में प्रतिक्षण आज अनुभव किया जाता है। हाय री मृगतृष्णा ! इसी में तो विश्वास कर मणिभद्र ने अन्त में युधिष्ठिर से कहा था कि आप 'नकुल' को क्यों, अर्जुन को क्यों प्राण-दान नहीं दिलाते—मणिभद्र ने युधिष्ठिर को समझाने का प्रयत्न करते हुए कहा :

ऐसे पुरुष प्रवीर (भीम, अर्जुन से अभिप्राय है) उदित होते हैं कब-कब,
इस जगती का दुरित दैन्य खोते हैं कब-कब ?
होते हैं अवतरित मूर्ति बनकर त्राता की

× × ×

रक्षक सब के और सभी से संरक्षित वे
होते हैं युग-काल-पुरुष ज्यों परिलक्षित वे।
छोटों का प्रतिपाल, वही उनका जीवन-प्रण।

जीवन-प्रण ही तो मनुष्य का धर्म होता है। तभी युधिष्ठिर बड़ों के धर्म का मर्म यों स्पष्ट करते हैं :

छोटे के भी लिए बड़े से बड़ा समर्पण—
किया जाय जब, तभी धर्म-धन का संरक्षण !

छोटे के लिए बड़े से बड़ा त्याग करना ही यथार्थ धर्म है; किन्तु हो रहा है उल्टा :

सरल सत्य यह, तदपि हाय ! उलटे पर मरती,
गरल ग्रहण कर निज-विरुद्ध जगती आचरती।
कथित बड़े जन सोच रहे हैं—इस भूतल के
जन जितने हैं जहाँ कहीं हलके से हलके,
रहने उनके लिए न देंगे संजीवन-कण,
सुख सब अपने अर्थ, अन्य का शोषण, शोषण।

यहाँ आकर कवि 'शोषण' शब्द का प्रयोग करता है, और इस शब्द द्वारा ही आज की स्थिति को भी उभार कर दिखाता है। तभी, वह आगे यह निदान प्रस्तुत करता है :

उन दलितों में प्रतिक्रिया विस्फोटित होती
दुःशासन में उभर शान्ति वसुधा की खोती
करना है यदि हमें यहाँ यह पाप निवारण
हो अभीष्ट सर्वत्र प्रेम का पूर्ण प्रसारण,
करना होगा बड़ा त्याग निज सुखजीवी को,
होना होगा स्वयं समर्पित गांडीवी को—

इसी को और परिपुष्ट करते हुए वे कहते हैं :

लेना होगा निखिल क्षेमव्रत निर्भय हमको,
देना होगा बड़ा भाग लघु से लघुतम को।
लघु से लघुतम कौन, नहीं यदि हों हम खोटे,
वही हमारे लिए बड़े हमसे जो छोटे,
उनका वह गाण्डीव घहरता रहता जब तक,
दुष्टजनों का हृदय हहरता रहता तब तक।
लुप्त हुए यदि वही, नीच होंगे उच्छृंखल,
फैल जायगा निखिल लोक में उनका शृंखल।

कैसी प्रभावोत्पादक युक्ति मणिभद्र ने दी है। संसार की रक्षा गाण्डीव और गाण्डीवधारी ही कर सकते हैं। और तब युधिष्ठिर अपनी स्वाभाविक दृढ़ता से इस मृगतृष्णा को विच्छिन्न करते होते हैं :

सोच रहे हैं आर्य कि गाण्डीवी के खरशर—
कर सकते हैं शान्ति प्रतिष्ठित इस पृथ्वी पर।
मुझको तो विश्वास नहीं है रंचक इसमें,
देंगे कैसे अमृत बुझे, स्वयमपि जो विष में !

भला युद्ध से शान्ति मिल सकती है ? युद्ध से युद्ध मिल सकता है, शान्ति नहीं। और संसार के इतिहास ने इसे सदा सिद्ध किया है। शान्ति का मार्ग तो त्याग का और प्रेम का मार्ग है :

धरना होगा आत्मदान के पावन मग को,
नवजीवन परिपूर्ण जिन्हें करना है जग को।

इस आत्मदान के भाव ने ही तो उन्हें 'नकुल' के जीवन की याचना के लिए प्रेरित किया और इस आत्मदान के साथ मानव-प्रतिष्ठा के साथ मानव-नव-निर्माण का सन्देश पूर्ण होता है। लघु को अपनी लघुता का क्षोभ नहीं होना चाहिए—पर मानव के नव-निर्माण के लिए जो बड़े हैं उनका एक स्वाभाविक दायित्व है—युधिष्ठिर कह रहे हैं :

उन्हें (बड़ों को) दैव ने दिया जन्म के साथ बड़प्पन,

छोटों के महत्त्व का एक और कारण भी युधिष्ठिर ने दिया है :

जितना आगे उदित हुआ है जो जन हम में
उतना आगे चला गया वह जीवन-क्रम में

अक्षय जीवन स्रोत हमारा उसके भीतर
चला गया है बहुत दूर तक इस अवनी पर ।
यथाशक्ति सब भाँति उसे रक्षित रख निर्भय,
होती है उपलब्ध काल के ऊपर सुविजय ।

छोटे की रक्षा, उसके लिए बड़े-का-बड़े में बड़ा त्याग ही वह मार्ग है, जिससे संसार में कभी अशान्ति नहीं हो सकती; जिससे काल के ऊपर सुविजय प्राप्त होती है । त्याग ही हल है, सम-वितरण नहीं, यह भी यहाँ ध्वनि है । प्रस्तुत दृष्टान्त में 'मणिभद्र' के पास अमृत की केवल एक ही बूंद तो है—और पाँच हैं वहाँ जिन्हें उसकी आवश्यकता है । सम-वितरण का सिद्धान्त यहाँ समस्या का हल कैसे प्रस्तुत कर सकता है । यहाँ त्याग ही हल है, और त्याग समस्त समस्याओं का हल है, और सब काल का हल है । और यह त्याग छोटों के पक्ष में होना चाहिए । बड़प्पन का यथार्थ उपभोग इसी त्याग में है—यही उपनिषद् के अमर वाक्य का सत्य सिद्ध होता है: 'त्येन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' । यह त्याग स्वेच्छा से विचारपूर्वक युधिष्ठिर की भाँति होना चाहिए—और इसमें प्रेम परिप्लावित होना चाहिए । युधिष्ठिर ने मणिभद्र से आगे कहा है :

नकुल पड़ा है वेणु लिये जो अपने कर में,
उसे देखकर याद आ रहा इस अवसर में ।
सोच रहा था बात आज मैं मुरलीधर की,
मिले प्रथम वे मुझे फूंकते वेणु अधर की ।

उस वेणु का अमर सन्देश ही तो युधिष्ठिर में व्याप्त हो गया था और उनकी आस्था अटल हो गयी थी; तभी वे यह अपना अभिमत प्रकट कर रहे हैं :

देखा है, अब लिया उन्होंने चक्र सुदर्शन,
क्या इस हेतु कि पूर्व भ्रान्ति का करें प्रदर्शन ?
नहीं-नहीं, वे प्रकट करेंगे—प्रेम प्रबल है,
ध्वनित करेंगे स्वयं, अन्य पन्था निष्फल है ।

और यह है वह संदेश, वह स्वर, वह प्राण जो 'मानव' का, उसके कल्याण का यथार्थ रहस्य है । आज हमारे कवि युद्ध पर विचार करते हैं, किसी-न-किसी बहाने मणिभद्र की भाँति युद्ध का पोषण करते हैं—कोई उसे बायलाजिकल आवश्यकता बताता है, कोई उसे विकास की आवश्यक सीढ़ी समझता है, कोई उसे ऐतिहासिक और प्राकृतिक औषध सिद्ध करता है, कोई उसे प्राथमिक उपचार के रूप में ग्रहण करने का आग्रह करता है और भी न जाने कितने

'वाद' और कितनी युक्तियाँ युद्ध को पोषण करने के लिए साहित्य में अवतीर्ण हुई हैं। पर इस कवि की यह कलामय वाणी, मूर्त, साकार, विचित्र चित्रों में से अभिव्यक्त और प्रतिध्वनित होती हुई एक लघु किन्तु दृढ़ संकेत से मूल रहस्य को उद्‌घाटित कर रही है।

इस काव्य में कथानक भी है, घटनाएँ भी हैं, विविध चरित्र भी हैं और विविध रस भी; भाषा का मार्दव और अलंकारों की कोमल साभिप्राय छटा भी, किन्तु इन सब में से भी एक बात विशेष लक्षित होती है कि मूल-वस्तु और मूल-काव्य 'युधिष्ठिर-मणिभद्र' संवाद में है। इसी का प्राधान्य है। वस्तुतः आज का कवि संवाद-प्रिय हो गया है। वह संवाद भी नाटकीय नहीं, 'जिज्ञासा-समाधान' का संवाद। युग में उसका कारण निहित है। बौद्धिक प्राणी कार्य को महत्त्व नहीं देता, 'विचार' को महत्त्व देता है। युक्ति-तर्क-प्रमाण से वह जीवन-क्रम के सिद्धान्त को सुनिश्चित कर लेना चाहता है। उसी युगीन आवश्यकता की दृष्टि से कवियों को महाभारत-पुराण से ऐसे-ऐसे दृश्य निर्वाचित करते पड़ते हैं। ऐसे स्थलों और संवादों के नियोजन में सुकवि को बड़े कौशल का उपयोग करना पड़ता है, कहीं ऐसे वार्तालाप मात्र बातचीत, विचार या भाषण का रूप न ग्रहण कर लें? उसे इन संवादों में पात्रों के चरित्र का शील परिपूर्ण कर देना है। इस काल में गुप्तजी इस युग के समस्त कवियों को पीछे छोड़ गये हैं। काव्य-विधान में इस 'नकुल' की समस्त घटना एक दिनभर की है; प्रायः सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक की। समस्त काव्य में युधिष्ठिर के चरित्र का सत्त्व मार्दवपूर्ण औदार्य के साथ अभिव्यक्त हुआ है। मैं इस कवि की इस कला को, जो अभी तक उपेक्षित रही है, उस समस्त श्रद्धा के साथ प्रणिपात करता हूँ, जिस श्रद्धा से समस्त जगद् के समस्त श्रद्धालु महात्मा गांधी के समक्ष नत होते थे।

'नारी' और 'त्यागपत्र'

[डॉ० नगेन्द्र]

प्रेमचन्दजी के सभी उपन्यास हिन्दी के मूर्धन्य पर आसीन होने योग्य नहीं हैं। 'गोदान' उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण कृति है। उसके अतिरिक्त 'ग़बन', 'सेवासदन', 'रंगभूमि' आदि में भी बहुत-कुछ है जो अमर रहेगा। हिन्दी में इनसे टक्कर लेने वाले उपन्यास बहुत नहीं प्रकाशित हुए। जो हुए वे उँगलियों पर गिने जा सकते हैं, जैसे 'त्यागपत्र', 'नारी', 'चित्रलेखा', 'शेखर' इत्यादि।

श्री जैनेन्द्रकुमार के 'त्यागपत्र' और श्री सियारामशरण गुप्त के 'नारी' इनमें कुछ इस प्रकार की समता और विषमता है जो तुलनात्मक अध्ययन को रोचक और उपयोगी बना देती है।

'त्यागपत्र' और 'नारी' दोनों ही में एक नारी की कहानी है। त्यागपत्र एकमात्र मृणाल की व्यक्तिगत कहानी है, और नारी जमुना की। मृणाल और जमुना दोनों के ही व्यक्तित्वों के मूल में अतृप्ति है। दोनों ही हमारे सम्मुख एक अभुक्त वासना लिये आती हैं। मृणाल के तो जीवन का ही आरम्भ इस अतृप्ति से होता है। उसके माता-पिता नहीं हैं। भाई का स्नेह, उसके स्नेह की कमी को भर नहीं पाता। उसको स्नेह की झलक एक दूसरे व्यक्ति से मिलती है। पर मिलने के साथ ही वह एक तीखा घाव छोड़कर सदा के लिए मिट जाती है। भावज की कठोर ताड़ना उस अभाव की अग्नि को और भी भड़काती है, और अन्त में उसका बेमेल विवाह एवं पति की यन्त्रणाएँ इस जीवन-व्यापी अतृप्ति में पूर्ण आहुति बन जाती हैं। इस प्रकार वासना पूर्णतः अभुक्त और अतृप्त रहकर उसके जीवन में एक अद्‌भुत गति और शक्ति का संचरण करती है। जीवन के मध्याह्न तक तो उसे इस वासना के संस्कार का उचित माध्यम नहीं मिल पाता, और वह एक उद्दाम तीव्रता लिये झुलसती और झुलसाती—जीवन को मानो चीरती हुई—भटकती रहती है। बीच में वह पातिव्रत की बात करती है, अपने पति के साथ समझौते का प्रयत्न करती है, एक अत्यन्त निकृष्ट व्यक्ति—कोयले वाले—के साथ ममता का खेल करती है, पत्नी-धर्म के निर्वाह का दावा करती है। पर यह सब कुछ

जैसे एक तीखा व्यंग्य है। सचमुच चारों ओर से नकार प्राप्त कर मृणाल का जीवन ही एक तीव्र व्यंग्य बन गया है।

जमुना का व्यक्तित्व व्यंगमय नहीं है। कारण यह है कि उसमें आरम्भ से ही निषेध और स्वीकृति का मिश्रण रहा है। उसको चारों ओर से नकार ही नहीं मिला। आरम्भ में पति का मुक्त प्रणयदान, उसके चले जाने पर श्वसुर का स्निग्ध वात्सल्य, और उनके मरने के बाद हल्ली के स्नेह में उसे जीवन की मधुर स्वीकृति भी मिली है। इसके साथ ही बाद में पति की उपेक्षा में, गाँव वालों के—विशेषकर चौधरी के—कटु-व्यवहार में उसे तिरस्कार भी मिला है। परन्तु कुल मिलाकर वास्तव में यह नकार उस स्वीकृति से कहीं हल्का बैठता है। इसीलिए जमुना कई बार विचलित होकर भी विश्वास नहीं खो पाती, जीवन की स्वीकृति का अपमान नहीं कर पाती। जीवन की चरम परिणति में भी—जब वह पति का ध्यान छोड़ एक दूसरे व्यक्ति को ग्रहण करने का निश्चय कर लेती है—वह जीवन को स्वीकार ही करती है, उसका निषेध नहीं करती। उसके जीवन में अतृप्ति है। उसकी वासना प्रणय के अभाव में अतृप्त और अभुक्त रहती है। परन्तु उसके साथ ही उसको व्यक्त और तुष्ट करने का साधन भी तो पुत्र-रूप में उसके पास है। वह गृहिणी है। गृहस्थ-जीवन की मर्यादा का भी, जिसके समतल थाले में हल्ली-जैसा सुन्दर पौधा पनप रहा है, उसकी वासना पर अधिकार है। इसलिए उसके व्यक्तित्व में मृणाल की-सी तीव्रता और गति नहीं रह गयी; परन्तु विश्वास की प्रशान्त गम्भीरता उसमें है। मृणाल यदि लैम्प की प्रखर लौ है जिसमें प्रकाश के साथ विषाक्त धुआँ भी है तो जमुना घृत का स्निग्ध दीपक है जिसमें प्रकाश चाहे हल्का हो पर धुआँ बिलकुल नहीं है।

इन दोनों पात्रों के व्यक्तित्वों के अनुसार ही दोनों उपन्यासों के मूल-प्रश्नों में भी साम्य है।

इन दोनों के रचयिताओं की विचारधारा की एक दिशा है। दोनों ही दार्शनिक या सामाजिक शब्दावली में, गांधी-नीति में, और मनोविश्लेषण की शब्दावली में आत्म-पीड़न में विश्वास करते हैं। दोनों ही एक स्वर में कह उठते हैं :

"सचमुच जो शास्त्र से नहीं मिलता वह ज्ञान आत्म-व्यथा में मिल जाता है।"—त्यागपत्र

"लोग ऊपर-ऊपर देखते हैं कि इसे दुख है। किसी को दुख ही दुख हो

तो वह ज़िन्दा कैसे रहे ? आज तो पूरा उपास करने की सोच ली है। आनन्द इसमें भी है।"—नारी

और अधिक स्पष्ट किया जाय तो वास्तव में इस दृष्टिकोण का निर्माण अहिंसा के आधार पर काम की स्वीकृति के द्वारा हुआ है।

दोनों उपन्यासों में आत्मव्यथा में जीवन की शक्ति का मूल स्रोत माना गया है। कष्ट के कारणों से घृणा न करते हुए, कष्ट की अनिवार्यता से त्रास न खाकर उसमें आनन्द की भावना करना अहिंसा है; और अहिंसा यही सिखाती है कि अभुक्त वासना का वितरण करना ही उसकी सफलता है। मृणाल अन्त में जाकर इसी उपचार को ग्रहण करने में अपनी मुक्ति समझती है। जमुना में यह भावना प्रारम्भ से ही वर्तमान है। परन्तु दोनों के दृष्टिकोणों में एक अन्तर है—नारी की विचारधारा में समाज-नीति की मर्यादा का रक्षण है, परन्तु त्यागपत्र में यह बात नहीं है। जमुना के स्रष्टा ने इस बात का ध्यान रखा है कि दूसरे व्यक्ति को ग्रहण करने में भी वह समाज-नीति का उल्लंघन न कर पाये। जमुना जिस वर्ग की नारी है, उसमें पुनर्विवाह या दूसरा घर बसा लेना जायज है। इसके विपरीत त्यागपत्र में सामाजिक मानों की अन्तिम स्वीकृति नहीं है। पति के होते हुए भी मृणाल अपने प्रति सद्व्यवहार करने वाले व्यक्ति को शरीर-समर्पण कर बैठती है। और उत्तेजना में आकर नहीं, ठण्डे मस्तिष्क से। जैनेन्द्रजी नीति की चहारदीवारी को तोड़ जीवन में प्रवेश करना शायद आत्मकल्याण के लिए उचित समझते हैं, परन्तु सियारामशरणजी समाज की मर्यादा भंग करना श्रेयस्कर नहीं मानते।

दोनों उपन्यासों के मूल प्रश्नों को ऋजु-शैली से समझिए :

सबसे पहले दो नारियाँ अपने जीवन का संघर्ष लेकर हमारे सामने आती हैं और हमारे मन में प्रश्न उठता है कि नारी-जीवन की मुक्ति किसमें है—विवाह की मर्यादा में, या प्रवृत्ति के उपभोग में ? प्रत्यक्ष रूप में यही धारणा होती है कि सियारामशरणजी प्रवृत्ति को स्वीकार करते हुए भी विवाह की मर्यादा के पक्ष में हैं और जैनेन्द्रजी समाज-मर्यादा का आदर करते हुए भी प्रवृत्ति के ही समर्थक हैं। पर यह तो हमारे अध्ययन की पहली मंज़िल है। त्यागपत्र और नारी का मूल प्रश्न अभी हमारे हाथ नहीं आया। अभी और आगे चलना है और उसके लिए हमें मृणाल और जमुना के व्यक्तित्वों के पार देखना पड़ेगा क्योंकि त्यागपत्र और नारी स्पष्टतः ही सामाजिक समस्या के उपन्यास नहीं हैं। उनका—विशेषकर त्यागपत्र का—सम्बन्ध मानव-जीवन के मौलिक प्रश्न से है : जीवन की मुक्ति क्या है ?

त्यागपत्र के साथ यह विशेषता लगा देने का अर्थ यह है कि नारी में पाठक की दृष्टि उसके सामाजिक समस्या वाले पहलू पर अपेक्षाकृत अधिक ठहरती है। मृणाल की अपेक्षा जमुना समाज की इकाई ज़्यादा है, उसके जीवन में सामाजिक समस्या भी थोड़ा-बहुत महत्त्व तो रखती ही है। लेकिन फिर भी यह पहली मंज़िल तो आपको पार करनी ही होगी, तभी आप इन उपन्यासों की अन्तर्धारा में प्रवेश कर सकेंगे। यहाँ आकर मृणाल और जमुना उपलक्ष्य बन जाते हैं—समाज तथा पुरुष और नारी के आवरणों को पाकर जैसे ये दोनों शुद्ध व्यक्ति रह जाते हैं और जीवन का समाधान ढूँढ़ने में व्यस्त दिखाई देते हैं! विधान या प्रवृत्ति?—यह इनका मूल प्रश्न है और यही सामाजिक मानव का चिरन्तन प्रश्न भी है।

जैसा मैंने ऊपर कहा, जैनेन्द्रजी विधान का साधारण रूप में आदर करते हुए भी अन्तिम परिणति पर पहुँचकर उसका निषेध कर देते हैं। सर एम. दयाल का त्यागपत्र पर सही करना स्पष्ट रूप में जैनेन्द्रजी का विधान के निषेध पर सही करना है। वह महसूस करते हैं : 'कहीं कुछ गड़बड़ है। कहीं क्यों? सब गड़बड़ ही गड़बड़ है। सृष्टि ग़लत है। समाज ग़लत है······इसमें तर्क नहीं है, संगति नहीं है, कुछ नहीं है। इससे ज़रूर कुछ होना होगा, ज़रूर कुछ करना होगा।"

आगे एक प्रश्न उठता है—'पर क्या···आ?' यहाँ आकर अधिकांश संक्रान्ति-काल के विचारकों की भाँति वे घबराकर रुक जाते हैं। परन्तु उनकी आस्था, जिसका पोषण गांधी-नीति से प्रभाव में हुआ है, उनकी मदद करती है; और वे अहिंसा या तपस्या में जीवन का समाधान मान लेते हैं—यद्यपि वह पूर्णतः उनके घट में उतर जाती है, इसमें मुझे सन्देह है। उनके पास एक यही उत्तर है और यही उत्तर सियारामशरणजी के पास भी है। दोनों का प्रश्न एक है, उत्तर भी एक है; परन्तु क्रिया भिन्न है।

सियारामशरणजी को जीवन-विधान की गड़बड़ का इतना तीखा अनुभव नहीं होता, लेकिन वे उस पर सन्देह अवश्य करते हैं। उसको तोड़ने का लोभ भी उनको कम नहीं होता है—क़रीब-क़रीब तोड़ ही देते हैं—लेकिन अन्त में उन्हें उसी की ओर लौटना पड़ता है। वे मानो इस प्रकार सोचते हों—पीड़ा जीवन में अनिवार्य है, उसी में आनन्द की भावना कर लेना जीवन का समाधान प्राप्त कर लेना है; और प्रवृत्ति के बन्धन की पीड़ा ही सच्ची पीड़ा है।

इस प्रकार आत्म-पीड़न की फ़िलासफ़ी में विश्वास रखने वाले ये लेखक

दो विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा जीवन का समाधान ढूँढ़ निकालते हैं—जैनेन्द्रजी विधान से युद्ध करते हुए और सियारामशरणजी प्रवृत्ति से लड़ते हुए।

दृष्टिकोण का यही अन्तर दोनों व्यक्तित्वों के अन्तर को स्पष्ट कर देता है। प्रवृत्ति के समर्थक जैनेन्द्रजी का अहं स्वभावतः ही अधिक बलिष्ठ और तीखा होना चाहिए, उधर विधान में आस्था रखने वाले सियारामशरणजी में अधिक आत्म-निषेध होना उतना ही स्वाभाविक है। दोनों व्यक्तियों का जीवनादर्श एक है—पूर्ण अहिंसा की स्थिति प्राप्त कर लेना, अर्थात् अपने अहं को पूर्णतः घुला देना। इस साध्य के लिए सियारामशरणजी की साधना अधिक हार्दिक है, नैतिक दमन का अभ्यास उनको अधिक है, और उनका अहं सच-मुच बहुत क़ाफ़ी घुल चुका है। अहिंसा बहुत कुछ उनके व्यक्तित्व का अंग बन चुकी है। इसके विपरीत जैनेन्द्र का अहं अब भी इतना सजग और पैना है कि उनकी सादगी, विनम्रता और सरलता को चीरता हुआ क्षण-क्षण सामने आ जाता है। इसीलिए अपने प्राप्य के लिए उनको सियारामशरणजी की अपेक्षा अधिक संघर्ष करना पड़ता है। उनके जीवन में संघर्ष अधिक है, ठीक उतना ही अधिक जितना मृणाल के जीवन में जमुना की अपेक्षा। सियाराम-शरणजी में हृदय का अंश अधिक है, वे अधिक आस्तिक हैं। जैनेन्द्रजी में बुद्धि की तीव्रता है, अतएव उनके मन में सन्देह का संघर्ष अधिक है। इसी-लिए जैनेन्द्र अधिक व्यक्तिवादी हैं—सियारामशरणजी में सामाजिकता की भावना अधिक है। सियारामशरणजी के लिए अहिंसा का आदर्श कुछ सीमा तक प्राप्त भी है, परन्तु जैनेन्द्रजी के लिए अभी वह एक प्राप्य-मात्र है। उनकी जागरूक मेधा और उससे भी अधिक जागरूक अहंकार स्वभाव से ही अहिंसा के आत्म-निषेध के प्रतिकूल है। इसीलिए उनको उसके प्रति आग्रह अधिक है। यही कारण है कि उनके उपन्यास में संघर्ष तीखा और सशक्त है।

मेरी अपनी धारणा यह है कि साहित्य की शक्ति और तीव्रता उसके स्रष्टा के अहं की शक्ति और तीव्रता के अनुसार ही होती है। दुर्बल अहं, अथवा किसी भी कारण से दबा हुआ अहं, यहाँ तक कि घुला हुआ अहं भी, आर्द्रता की ही सृष्टि कर पाता है, शक्ति की नहीं। निदान, त्यागपत्र में जहाँ तीव्रता है वहाँ नारी में आर्द्रता है।

शैली में भी दोनों की वही सम्बन्ध है जो उनके व्यक्तित्व में—यानी त्यागपत्र की शैली में तीखापन और वक्रता है, नारी की शैली में कोमलता और सरलता है। त्यागपत्र की कहानी जैसे दिल और दिमाग़ को चीरती हुई आगे बढ़ती है, और नारी की कहानी को सुनकर जैसे पीड़ा मधुर-मधुर घुल

उठती है। त्यागपत्र की शैली में कठोर निर्ममता है, उसके कुछ क्षणों की निर्ममता तो असह्य है। अगर आपके सामने कोई व्यक्ति मुँह की रंगत को बिगाड़ता हुआ तकलीफ़ के साथ ज़हर पीता हो तो आप कैसा महसूस करेंगे ? और अगर यही व्यक्ति बिना किसी प्रकार के भाव-परिवर्तन के गम्भीरता के साथ ज़हर को गट-गट कर जाय, तो आपको कैसा लगेगा ? मृणाल की कुछ आत्म-यन्त्रणाएँ ऐसी ही हैं। इसके विपरीत नारी की शैली में घरेलू स्निग्धता है। जमुना आत्म-व्यथा में विश्वास करती हुई भी अपने प्रति स्निग्ध और करुण है। अतएव नारी की कहानी में कोमल-स्निग्ध गति है। उसमें हृदय को स्पर्श करने वाले स्थल अनेक हैं, हृदय को चीरने वाले स्थल नहीं हैं। नारी की यह करुण कहानी हल्ली के बाल-सुलभ क्रिया-व्यापारों से मन बहलाती हुई धीरे-धीरे आगे बढ़ती है—यहाँ तक कि कहीं-कहीं इसकी गति मन्द पड़ जाती है और पाठक सोचता है कि हल्ली के ये खेल और मुक़दमे कुछ कम होते तो अच्छा था, क्योंकि कहीं-कहीं वे कहानी को उलझा लेते हैं। नारी की कहानी का यह दोष उसके प्रभाव में बाधक होता है।

इन दोनों कहानियों की गठन में एक-एक स्थल ऐसा मिलता है जहाँ पाठक का मन रुककर उसकी स्वाभाविकता पर सन्देह कर उठता है।

त्यागपत्र में जब मृणाल पति के घर से निकलकर एक कोयले वाले को ग्रहण कर लेती है तो शायद अनेक पाठकों की भाँति मेरा मन भी पूछ उठता है—क्या एक शिक्षिता मध्य-वर्गीय बाला के लिए यह स्वाभाविक है ? क्या वह अपने पैरों पर नहीं खड़ी हो सकती थी, जैसा कि उसने बाद में कुछ दिन के लिए किया ? और अगर उसे किसी पुरुष के सहारे की ही आवश्यकता थी तो क्या कोयले वाले की अपेक्षा अच्छे चुनाव की गुंजाइश नहीं थी ? यह सन्देह एक बार ज़रूर उठता है। लेकिन इसका समाधान प्राप्त कर लेना भी समझदार पाठक के लिए असम्भव नहीं है। मृणाल के व्यक्तित्व में बुद्धि और संवेदना की प्रखरता के कारण एक असाधारणता है। अतएव एक साधारण मध्यवर्ग की युवती को दृष्टि में रखकर उसके व्यवहार की समीक्षा करना ग़लत होगा। जीवन में नकार पाकर उसका स्वभाव से ही संवेदनशील मन अतिशय संवेदनशील हो गया है। बस, उस आखिरी धक्के से वह एक बार कुछ समय के लिए समग्रतः डूब जाता है। ऐसी स्थिति में चुनाव का प्रश्न ही नहीं उठता—उस पर अहसान करने वाला पहला पुरुष बड़ी आसानी से कुछ समय के लिए तो उसके जीवन में प्रवेश कर ही सकता है। बड़े-बड़े करोड़पतियों की स्त्रियाँ फ़क़ीरों के साथ भाग जाती हैं ? और मृणाल के साथ तो यह स्थिति

मानसिक विवशता के अतिरिक्त चैलेंज का परिणाम भी हो सकती है !! शरत् के पाठक को इस प्रकार के पात्रों को ग्रहण करने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

नारी में भी एक स्थान सन्देहप्रद है। ज्यों ही जमुना की कहानी अन्तिम स्थिति पर पहुँचती है, हल्ली का एक साथी हीरा, सिर्फ़ हल्ली से बदला लेने के लिए, जमुना के पति को एक ऐसा पत्र लिख देता है कि सारा खेल बिगड़ जाता है। यह पत्र इतना कौशलपूर्ण है कि इसको हीरा-जैसा छोटा बालक तभी लिख सकता था जब सियारामशरणजी इबारत बोलते गये होते। माना कि यह घटना जमुना के व्यक्तित्व-विकास में प्रत्यक्ष-रूप से बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है, परन्तु कथा के विकास में इसका महत्त्व असंदिग्ध है। इसकी त्रुटि कथा-शिल्प की एक त्रुटि है। इसका समाधान मुझे बहुत सोचने पर भी नहीं मिल पाया।

यहीं आकार जैनेन्द्रजी और सियारामशरणजी की शैली का एक और अन्तर स्पष्ट हो जाता है—जैनेन्द्रजी अपनी शैली के प्रति जागरूक हैं; प्रभाव को तीव्र करने के लिए उन्होंने सचेत होकर कोशिश की है। उन्होंने इसीलिए संवेदना के मापक रूप में सर एम. दयाल की सृष्टि की है। वे प्रभाव को तीव्र करते जाते हैं और पारा धीरे-धीरे ऊपर चढ़ता जाता है। अन्त में मृणाल की मृत्यु पर, जैसे ताप के सीमा पार कर जाने से यन्त्र टूट जाता है, सर एम. दयाल जजी से इस्तीफ़ा दे देते हैं। यह उपन्यास-शिल्पी का अद्भुत कौशल है। इसीलिए, जब कभी जैनेन्द्रजी सादगी में आकर टेकनीक या शिल्प से सर्वथा अबोध होने की बात करने लगते हैं तो हँसी आ जाती है।

उधर सियारामशरणजी का लक्ष्य—कम-से-कम नारी में—एक सीधी-सच्ची करुण-स्निग्ध कहानी ही रहा है। उन्होंने जागरूक होकर प्रभाव को तीव्र करने का प्रयत्न नहीं किया, या किया है तो इतने हल्के हाथों से कि वह लक्षित नहीं होता। उदाहरण के लिए आप वह स्थल ले सकते हैं जहाँ एक दूसरा व्यक्ति जमुना के जीवन में प्रवेश करता है और जमुना उसे समर्पण कर देती है। यह सब ऐसे होता है जैसे कुछ हुआ ही न हो। पाठक के मन में जमुना के जीवन का यह महत्त्वपूर्ण तथ्य इस प्रकार सरक जाता है कि वह बिलकुल नहीं चौंकता। इसके विपरीत आप मृणाल का समर्पण लीजिए। उसमें कितना व्यंग्य है, कितनी कचोट है, कितनी तीव्रता है! उसके जीवन का यह तथ्य पाठक के मन को चीरता हुआ, उसकी वृत्तियों को झनझनाता हुआ प्रवेश करता है।

त्यागपत्र का कौशल अपनी विदग्धता के बल पर अपने मेधावी शिल्पी की दुहाई देता है, और नारी का कौशल अपने को छिपाकर अपने स्नेहार्द्र शिल्पी की सिफ़ारिश करता है।

अप्रकाशित काव्य : 'गोपिका'

[डॉ० सावित्री सिन्हा]

'गोपिका' स्व० सियारामशरणजी गुप्त की अप्रकाशित काव्य-कृति है, जिसे उन्होंने अपने स्वर्गवास से कुछ ही दिनों पहले पूरा किया था। इसे देव-कृपा ही समझना चाहिए, नहीं तो शायद 'गोपिका' भी प्रसाद की 'इरावती' और प्रेमचन्द के 'मंगलसूत्र' की तरह अधूरी ही रह जाती। 'गोपिका' का आरम्भ लगभग बारह वर्ष पहले किया गया था। ग्रन्थ के 'उपक्रम' में उसकी रचना-प्रक्रिया का निर्देश कवि ने इस प्रकार किया है—'बीज रूप में आकर गोपिका धीरे-धीरे अंकुरित हुई और दीर्घकाल तक पल्लवित होती रही। वास्तव में इसका निर्माण नहीं स्वतः प्रस्फुटन हुआ है। इसके पूरे होने पर मन में यथेष्ट सन्तोष है। पर परीक्षार्थी का कुछ आतंक भी मन में है, अच्छा ही है। परीक्षार्थी का यह भाव तभी फूटता है जब नम्रता के साथ यह विश्वास भी हो कि मेरी अर्जन-क्षमता यहीं समाप्त नहीं हो गयी और अभी और भी आगे का क्षेत्र मेरे सामने है।' उपक्रम का यह वाक्य इस बात का साक्षी है कि गोपिका उनकी साहित्यिक-योजना की अन्तिम कृति नहीं थी। अस्वस्थता और रुग्णता के अन्धकार को पार कर उनकी आत्मा प्रकाश की खोज में निरन्तर आगे बढ़ रही थी। शारीरिक अक्षमताओं से उन्होंने अन्त समय तक हार नहीं मानी। अनेक आलोचक उनकी रचनाओं का मूल्यांकन करते समय यह निष्कर्ष देते रहे हैं कि मैथिलीशरणजी की 'वट-छाया' से उनका व्यक्तित्व कुण्ठित हो गया और उनके साहित्य का उचित मूल्यांकन नहीं हो सका परन्तु स्वयं उन्होंने अनेक बार इस वट-छाया को वरदान कहकर स्वीकार किया है। गोपिका के उपक्रम में भी इसी की आवृत्ति की गयी है—'आपका आशीर्वाद न होता तो सारी प्रक्रिया सम्भव न होती।' आनन्द की बात है कि श्रावण शुक्ला तृतीया को यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है जो आपकी जन्मतिथि है।'

कृष्ण-भक्त कवियों का शृंगार-काव्य आध्यात्मिक है ?

गोपिका एक उद्देश्य-प्रधान काव्य है; अपार्थिव, मधुर भाव जिसका प्रतिपाद्य विषय है। अपार्थिव आलम्बन के प्रति पार्थिव भावनाओं के उन्नयन की जो अभिव्यक्ति मध्यकालीन कृष्ण-भक्ति-काव्य में हुई, उसे अलौकिक या

उज्ज्वल अनुभूति के रूप में ग्रहण करना आज के बुद्धिवादी के लिए तनिक कठिन पड़ता है। कृष्ण-भक्ति के अन्तर्गत वर्णित शृंगार-काव्य के अध्ययन-अध्यापन में सदैव यह समस्या मेरे सामने रही है, क्योंकि उसका रसास्वादन हम लौकिक अनुभूतियों के आधार पर ही कर सकते हैं। सूर द्वारा वर्णित संयोग-शृंगार की लौकिकता के आध्यात्मिक प्रतीक को स्पष्ट करने के लिए जब-जब रसमयी व्याख्याओं के बीच, ब्रह्म और जीव, आत्मा और परमात्मा को लाने का प्रयास किया गया है, तभी कक्षा के सभी छात्र-छात्राओं के ओठों पर उनके अविश्वास और उपहास की द्योतक मुस्कान फैल गयी है। खण्डिता-प्रसंग, मिलन-लीला, आँख-समय तथा इससे भी अधिक अनुल्लेखनीय अश्लील प्रसंगों की स्थूलता में 'मधुर' रस और अपार्थिव आलम्बन की अलौकिकता लुप्त होकर रह जाती है। 'मोदलता', 'चंचलता', 'प्रेम-सखी', अथवा 'चन्द्रसखी' बनकर कृष्ण को प्रियतम, जेठ या देवर मानकर उनकी उपासना की आध्यात्मिकता में विश्वास बड़ी मुश्किल से भी नहीं होता; 'गवाक्ष-दर्शन', 'कुंजलीला' और भी अन्य लीलाएँ, आज के बुद्धिवादी को मध्यकालीन विकृतियों और विलास-प्रधान जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति मात्र जान पड़ती है। तद्-सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्तों से मस्तिष्क को संस्कृत करके इस काव्य के अलौकिक रस को ग्रहण करने का जितना ही अधिक प्रयत्न मैंने किया है, मेरे हृदय और मस्तिष्क की खाई उतनी ही बढ़ती गयी है। अलग-अलग इस दर्शन की ऊँचाई और गहराई दोनों का प्रभाव पड़ता है, तथा कविता भी शृंगार की दृष्टि से हृदय को अभिभूत कर देती है, लेकिन, दर्शन और रस इस रूप में कहीं संपृक्त नहीं हो पाते कि मैं विश्वास कर लूँ कि यह शृंगार रस न होकर मधुर रस है; उज्ज्वल रस है। पहली बार मेरे मन पर कृष्ण-भक्ति के राग और दर्शन का संपृक्त प्रभाव तारा बाबू के बँगला उपन्यास राधा के कुछ स्थलों द्वारा पड़ा और तभी पहली बार मेरे 'दुष्ट सहृदय' ने शृंगार और मधुर रस में अन्तर की थोड़ी अनुभूति की। वहाँ कुछ ऐसा मिला जो शृंगार रसानुभूति से भिन्न अलौकिक मधुर और उज्ज्वल था। 'गोपिका' में वह उज्ज्वलता, वह माधुर्य आरम्भ से अन्त तक विद्यमान है। मध्यकालीन भक्त कवियों ने जिस मधुर भाव की उज्ज्वलता को स्थूल शृंगारिक क्रीड़ाओं के आवरण में लपेटकर प्रच्छन्न कर दिया था, सियारामशरण गुप्त ने उसके अपार्थिव माधुर्य को अपनी विमल भावनाओं और कल्पनाओं द्वारा निखार दिया। इस दृष्टि से 'गोपिका' का स्थान हिन्दी साहित्य में अन्यतम है। द्विवेदी-युग में पौराणिक आख्यानों और पात्रों के आधुनिकीकरण द्वारा नये

आदर्शों, नये जीवन-दर्शन और नये व्यक्तियों की प्रतिष्ठा की गयी थी। मध्य-कालीन कृष्ण-भक्ति की रीतिकालीन अभिव्यक्ति की प्रतिक्रिया तो विशेष रूप से कठोर थी। इसीलिए भागवत के कृष्ण की जगह महाभारत के कृष्ण की प्रतिष्ठा की गयी और राधाकृष्ण समष्टि-चेतना की लहर में राष्ट्र-नायिका और लोकनायक के रूप में प्रतिष्ठित हुए। सियारामशरणजी ने यह काव्य आधुनिकीकरण के उद्देश्य से नहीं, एक अत्यन्त प्राचीन भारतीय भाव-परम्परा की पुनः प्रतिष्ठा और परिष्करण की दृष्टि से लिखा है—जिसके मूल में है पूर्ण समर्पण, अहं का विगलन और वह सामंजस्य-दृष्टि जो समग्र विश्व के साथ अपनत्व स्थापित करके चलती है।

यह अपार्थिव प्रेम, भक्ति की उस सीमा पर पहुँच गया है जहाँ कामनाएँ द्वन्द्व और संघर्ष की स्थिति से परे स्निग्ध, सात्त्विक, परन्तु तीव्र हो गयी हैं। 'गोपिका' की मुख्य नारी पात्र (नायिका शब्द उसके लिए मांसल पड़ता है) 'इन्दु' के व्यक्तित्व में अपार्थिव प्रेम के ये सभी आदर्श उतारे गये हैं। उसका प्रेम सार्वभौम और सार्वकालिक है, वह व्यक्ति नहीं प्रतीक है—उस सनातन प्रेम-साधना का जो ससीम को असीम बना देती है; जिससे शरीर और समय की सीमाएँ टूट जाती हैं :

' 'इन्दु' के रूप में नहीं वह सीमाबद्ध—क्या वह इसी शरीर की है—एक इसी क्षण की ? कब से न जाने जन्म-जन्मान्तर एक साथ उसमें ये जाग उठे। कितने असंख्यों में एकाकार एक वह अमृत चुवा रहा है न जाने यह वेणु वहाँ कब से।'

इस प्रसंग में भी सबसे उल्लेखनीय तथ्य यह है कि ससीम के इस विलय की अभिव्यक्ति सियारामशरणजी ने कृष्ण-भक्ति में स्वीकृत और प्रयुक्त रागात्मक तत्त्वों और परम्पराओं के माध्यम से ही की है, परन्तु उनके हाथों वे परम्पराएँ और वे राग-तत्त्व निखर कर परिष्कृत हो गये हैं। अपने अग्रज श्री मैथिलीशरणजी की ही तरह परम्पराएँ उनके संस्कार में हैं। मैथिलीशरणजी ने षड्ऋतु और बारहमासे के चौखटे को आधुनिक रूप से सजाकर तथा यथार्थवादी स्पर्श देकर उसे स्वाभाविक, सुन्दर और आकर्षक बना दिया था, सियारामशरणजी ने कृष्ण-लीलाओं और नायिका-भेदों के चौखटे के पुराने विलास-संस्पर्शित रंगों को मिटाकर उनके स्थान पर कोमल, सात्त्विक विमल और दीप्त रंग चढ़ा दिये हैं। जिन पनघट लीलाओं, माखन-चोरी और कुंज-लीलाओं का चित्रण कृष्णभक्त कवि, नैन-सैन, गोरस-दान, छेड़छाड़ इत्यादि

के बिना कर ही नहीं सकते थे उसकी अभिव्यक्ति इस प्रकार की अनेक उक्तियों द्वारा की गयी है :

पी कर किस महुए की महूक,
प्राणों की कोयल उठी कूक।
यह स्वर-शर-दुरागत अचूक,
मेरे झिर-झिर झर-झर प्रभात।

अनेक स्थलों पर दार्शनिक स्पर्श देकर भी लौकिक राग में अलौकिकता का समावेश किया गया है। कृष्ण की उक्ति है :

'एक दूसरे के अनुसारी हम, खोजते फिरे हैं एक दूसरे को—गाँव-गाँव, घर-घर और जन-जन में। जब तब चित्र में प्रतीति हुई—पा लिया है, पा लिया है—तो भी यह मिलन सुदुर्लभ है। ब्रज के गोपाल का अनिंद्य गोप बाला से।

सतत प्रमोदमयि दासी नहीं, तू सुचिर संगिनी है और चिर सहचर सखा हूँ मैं।'

'गोपिका' में निशाभिसारिका, दिवाभिसारिका, उत्कण्ठिता, वासकसज्जा, सद्यःस्नाता इत्यादि नायिकाओं के इतने निर्मल और स्वच्छ चित्र खींचे गये हैं कि काम का उद्वेग-पक्ष बिलकुल गौण ही पड़ गया है। भावनाओं की तीव्रता को काम की उद्विग्नता से इस प्रकार पृथक् कर सकने की सामर्थ्य केवल सियारामशरणजी में ही थी। इस प्रसंग में कुछ उद्धरण देना अनुचित न होगा।

निशाभिसारिका

फहर दुकूल रहा······कच गुच्छ हिलते हैं, डुलते हैं। मानो पंख फूटे हों, उड़ती-सी जाती हूँ।

अनजाना स्थान, कृश पगडण्डी वह पीछे कहीं लौट गयी······सुभगा सहेली सम मीठी थपकी से प्रियतम के निकेतन में ठेलकर चुपचाप। इन्दु बढ़ती ही गयी जैसे कृष्ण पक्ष के घनाघन दिनों से रात्रियों से घिरे श्यामल निकुंजों में सुधांशु-कला।

सद्यःस्नाता

'उर तक उल्लोलित जल बीच सरसी में पद रोप अलकें समेटकर ऊली वह और उन्हें पीठ पर उसने उछाल दिया···चुन एक इन्दीवर उपल कठोर सीढ़ियों से वह ऊपर की ओर चली मृदु, मन्द गति से।'

दिवाभिसारिका

'प्रिय की दिवाभिसारिका हूँ। मैं जाती हूँ खुले में आज निःसंकेत। इन्दु

बढ़ी जा रही है गोवर्धन गिरि के विजन मध्य धूप धुली जागृत दोपहरी-सी, बिन्दी लगे भाल पर स्वेद कणिकाएँ हैं। जब तब धूप के झलकने से उनमें नवांकुरित होती हैं, दिवाकर की किरणें—तप से पसीज रही—पीठ पर कसे कंचुकी के बन्ध—उन पर गति लोल कच-गुच्छ केसरिया चूनर के भीतर झलकते। लक्ष्य का पता नहीं है—तो भी लगता है बेध सकते हैं उसको ये दीप-शिख इसके नुकीले नेत्र।'

खण्डिता का उदात्तीकरण

मध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवि इस प्रसंग में, कृष्ण की पगड़ी में लगे हुए जावक, मुख पर लगे काजल और पीक तथा नख-क्षतों के चिह्नों के बिना बात नहीं करते। उसी प्रसंग को सियारामशरणजी ने कितना पुण्य और पवित्र बना दिया है। दूसरी गोपिका मंजुला के यहाँ कृष्ण को जाता समझकर इन्दु कहती है :

"श्याम बस श्यामिका ही पोत देना जानते हो। सोचती थी मेरे भुजपाश में हो, सोचती थी क्या-क्या कुछ······। छोटी खगी चन्द्र के लिए उड़ी गगन में। तो······अब अंगारे चुगे।"

एक नाटकीय स्थिति के निर्माण के द्वारा इस प्रसंग को स्वाभाविक और मधुर स्पर्श दिया गया है। इन्दु, अपनी चिन्ता में तन्मय है कि लौटकर कृष्ण कहते हैं :

"वल्लरी स्वरूप इस छाया में छिपी थीं तुम। निकल यहाँ से गया वंचित कुछेक दूर, भूल तब जान पड़ी, लौट यह आया मैं। तू यह अरूप की भुजाओं में बँधी थी यहाँ देख अब सामने सगुण को। आँख-मिचौनी में देख जीता मैं ही।"

"जीतोगे न क्यों भला—पुरुष हो जीत है तुम्हारी ही······बनी हैं हारने के लिए हम ये······"

"तुम उन नारियों में नहीं, झीखतीं जो कर के रुदनमात्र; देखती जो हीनता ही अपनी। मंजुला के घर भी जाना है······चलती हो साथ······"

"मैं साथ चलूँ ? पटक न दूँगी मटकी मैं उसकी।"

"पटक सकोगी इन्दु ! चाहता हूँ बन सको ऐसी ही। तोड़ोगी तभी तो जोड़ने की शक्ति पा सकोगी। तब न कहोगी सदा जीत है पुरुष की ही, हारने को हम हैं।"

मर्यादित, व्यक्तित्वनिष्ठ और व्यापक प्रेम-भावना

'गोपिका' में व्यक्त प्रेम-भावना में स्वकीया-परकीया का, ग्राम्या और

नागरी बालाओं का भेद मिट गया है। रुक्मिणी और सत्यभामा गोपिकाओं का प्रेम-भाव स्वयं प्राप्त कर लेने को उत्सुक हैं। गोपिकाओं के हृदय में कृष्ण की इन परिणीताओं के प्रति श्रद्धा और प्रेम है, उनकी कल्पना में कहीं द्वन्द्व और संघर्ष नहीं है। सत्यभामा और रुक्मिणी मुकुन्द को जन-जन के लिए अर्पित करती हैं। रुक्मिणी, लक्ष्मी और इन्दु को एक-दूसरे का प्रतिरूप चित्रित करके कवि ने भावनाओं के सार्वभौम ऐक्य की स्थापना की है। अनेक स्थलों पर उनके प्रेम में द्विवेदी युगीन नारी-भावना के मर्यादित प्रेम का स्पर्श भी मिलता है। यशोधरा की भाँति ही इन्दु के मन में मान है कि कृष्ण उसे बताकर क्यों नहीं गये :

"मोदू से कहा, कह देना जा रहा हूँ फिर कभी आऊँगा।" "चले गये, पहले कहा क्यों नहीं, डर था क्या रोककर बाँध लेती ?"

मध्यकालीन गोपियों की भाँति सोलह शृंगार सजाकर प्रियतम को रिझाना ही उनकी "गोपिका" का उद्देश्य नहीं है, उसके प्रेम में आत्मविश्वास है। इन्दु अपनी सखी रुचिरा से कहती है :

"हेम हार रत्न मणि पहना दे मुझे—पुतली बनाना है बना दे। कहती हूँ इतना ही सखी हूँ मैं प्रिय की। भलीभाँति जानती हूँ, खेल के खिलौने उन्हें रुचते तो मेरे लिए धूप में दौड़कर वे आते नहीं।"

दूसरी गोपिका मंजुला के शब्द हैं :

"जो शृंगार बेला ने किया था कुरबक, कुन्द और यूथिका के फूलों से—हरि के अदर्शन से वह परिम्लान हुआ। मैं भी बची सज-धज की लज्जा से।'

विरह-साधना के स्पर्शों के द्वारा इस प्रेम का रूप गम्भीर गरिमापूर्ण हो गया है; प्रेम की विवशता और गम्भीरता एक साथ इन पंक्तियों में व्यक्त हुई है :

"रुचिरा—यह क्या इन्दु ? यह क्या ? दृग क्यों छल-छल हैं ? भूल मत अपना ही कहना—मैं उनमें नहीं हूँ जो रोती हैं। रोना जितना था रो चुकी हैं मेरी पूर्वजाएँ ही।

यह नलिनी, एक यह सूखती है और दूसरी सलिल में तुरन्त फूट पड़ती है ! यह साधना है जन्म-जन्म की युगानुयुग कल्प की। सूखती हैं जिसमें नवीन को चिरन्तन को फिर-फिर फूला खिला देखें—हम पा सकें।"

" 'गोपिका' में व्यक्त अपार्थिव शृंगार को पढ़कर बापू (सियारामशरणजी गुप्त) का एक प्रश्न याद आ गया। "आपको भी शृंगार की रचनाएँ अच्छी लगती हैं ?" उस समय मैं अपने परम्परायुक्त संस्कारों से प्राप्त शील-

संकोच और बापू के प्रति असीम श्रद्धा के कारण 'हाँ' नहीं कर सकी और 'न' कहने में मिथ्या-भाषण का भय था। आज, उस प्रश्न का उत्तर मेरे पास है। बापू होते तो मैं कहती 'शृंगार' अच्छा लगता हो या नहीं, काम्य यही है जो 'गोपिका' में है।"

प्रेम का अलौकिक प्रभाव

यह तो हुआ गोपिका के प्रतिपाद्य का एक पक्ष। इस मधुर भाव के समकक्ष और विरोध में, दुर्जय और 'क्रूर' नामक दस्युओं के अमानवीय काण्ड रख दिये गये हैं। दुर्जय, रुक्मिणी से विवाह करने में असफल युवक है, जो कृष्ण से प्रतिशोध लेने के लिए तत्पर है—इन्दु में उसे रुक्मिणी की छाया मिलती है और वह उसे अपनाने के प्रयत्न में लग जाता है। 'क्रूर' नामक पात्र पिता द्वारा निर्वासित किये जाने पर दस्यु-वृत्ति अपना लेता है। कृष्ण के चले जाने के बाद ब्रज के सांस्कृतिक और नैतिक पतन के चित्र भी खींचे गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि 'गोपिका' लिखते समय चम्बल घाटी के दस्युओं की समस्या तथा विनोबाजी के हृदय-परिवर्तन का प्रसंग उनके अवचेतन में थे। मधुर और कठोर का यह संघर्ष नूतनता की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है लेकिन व्यावहारिक यथार्थ-भूमि पर उसका अधिक अर्थ नहीं है। मधुर भाव अपने में चाहे जितना पवित्र गम्भीर और निर्मल हो परन्तु विश्व में प्रबल रूप से छायी हुई क्रूर प्रवृत्तियों का निराकरण करने में समर्थ नहीं हो सकता—वह एक-दो व्यक्तियों का हृदय भले ही छू ले लेकिन समष्टि-स्तर पर उसका समाधान ढूँढ़ना अव्यावहारिक और यथार्थ से दूर है। प्रेम के आध्यात्मिक और अलौकिक प्रभाव से दुर्जयों और क्रूरों की वृत्तियों को बदलना अब केवल पौराणिक विश्वासमात्र रह गया है।

कुशल प्रबन्ध-योजना

गोपिका की प्रबन्ध-योजना सुन्दर है। अधिकतर कहानी पूर्वस्मृतियों के वर्णन तथा विभिन्न पात्रों के दिये हुए वृत्तान्तों द्वारा आगे बढ़ती है। उसकी कथावस्तु घटित कम है वर्णित अधिक। कृष्ण की लीलाओं में अनेक काल्पनिक तत्त्वों का समावेश करके उन्हें सुन्दर, स्वाभाविक और विश्वसनीय बनाया गया है। इन काल्पनिक और मौलिक उद्भावनाओं से कथा आकर्षक बन गयी है। आख्यानों की भाँति ही गोपिका में काल्पनिक पात्रों की संख्या प्रख्यात पात्रों से अधिक है। काल्पनिक तत्त्वों के योग के द्वारा ही सियाराम-शरणजी कृष्ण-कथा की बँधी-बँधाई सीमाओं से बाहर निकल सकने में समर्थ हुए हैं।

'गोपिका' में ब्रह्म और जीव के अंश-अंशी सम्बन्ध तथा अद्वैत की स्थापना भी की गयी है।

"दुर्जय चला जा रहा है, रुक्मिणी के साथ राजरथ पर और ये है निम्बा, ये स्वस्ति और इन्दु जीजी एक साथ—एक रूप सब के सब श्रीगोपाल।"

वैयक्तिक भक्ति-साधना का अन्तर्भाव समष्टि-साधना में करके सद् से असद् प्रेम से घृणा पर विजय-प्राप्ति के सन्देश के साथ ग्रन्थ समाप्त होता है। कृष्ण की उक्ति है :

श्री सुरभि पथ पर संचय के साथ-साथ त्याग का उपार्जन करो; सप्रेम निस्सन्ताप जूझना है पक्ष-प्रतिपक्ष के समस्त दुर्जयों से—सभी क्रूरों से—विजय समग्र पाओ तब तक।

अभिव्यंजना-पक्ष

सियारामशरणजी की भाषा-शैली हिन्दी-जगत के लिए नयी वस्तु नहीं है परन्तु 'गोपिका' में दो बातें विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। प्रथमतः उसमें ब्रजभाषा के शब्दों का बहुलता से प्रयोग हुआ है जिससे पात्रों के वार्तालाप के साथ ही साथ वातावरण में भी स्वाभाविकता आ गयी है। धेनु की गुहार, बिजन डुलाती रही, मैं भी बिखा लाऊँ, अवतरते—जैसे प्रयोगों से भाषा सहज स्वाभाविक बन गयी है। दूसरी विशिष्टता अप्रस्तुत योजनाओं के नये और सजीव प्रयोगों में है। 'गोपिका' में प्रयुक्त 'उपमान' मधुर भाव के उपयुक्त, क्रान्ति, कोमलता और दीप्ति के भाव जगाने में समर्थ हैं—कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे :

(१) सघन द्रुमों की सन्धियों से झिर यह धूप पीठ पीछे के से चारु चुम्बन-सी इससे आ लिपटी।

(२) एक धूप रेखा वह धवल कटार—जैसी तापसी उमा के मृदु उत्पल पदों पर पड़ी है।

(३) नर्तकी मैं नत हूँ—मुख का मुखर हास दीपक की बाती तुल्य धीमा करके बोली।

(४) एक शुद्ध स्वर में विलीयमान होते हैं जिस भाँति सारे स्वर यहाँ तमस्सागर में लीन उसी भाँति हुआ गोपीग्राम, गोकुल, समस्त, धरातल ही।

(५) सुध-बुध खिसक पड़ी है शीश पर के दुकूल तुल्य।

योजनाबद्ध प्रतीक-रूपक

गोपिका की प्रबन्ध-योजना में एक ओर नाटकीय तत्त्वों का समावेश है और दूसरी ओर उसमें व्यक्त जीवन-दर्शन प्रतीक-योजना द्वारा व्यंजित है।

सम्पूर्ण काव्य १७ खण्डों में विभाजित है, जिनके अन्तर्गत भिन्न-भिन्न पात्रों द्वारा प्रस्तुत वृत्तान्तों और घटनाओं से कथा का विकास होता है । अधिकतर यह विकास स्वगत-कथनों, और कथोपकथनों के द्वारा हुआ है । गद्य और पद्य दोनों साथ-साथ चलते हैं । इन सब विशेषताओं को देखते हुए 'गोपिका' का काव्य-रूप यशोधरा के निकट पड़ता है, परन्तु 'उन्मुक्त' की प्रतीक-योजना की भाँति ही इसके उद्देश्य की अभिव्यक्ति एक सांगोपांग प्रतीक-योजना द्वारा की गयी है । 'श्री सुरभि पंथ', उदात्त, निस्वार्थ, सामंजस्यमूलक जीवन दर्शन का प्रतीक है, जो 'इन्दु' के चरित्र में साकार है । इन्दु की वृन्दवाटिका 'वृन्द' की है, अर्थात् समष्टि-साधना ही मनुष्य का उदात्त लक्ष्य है । संकीर्ण, स्वार्थी और क्रूर वृत्तियों के प्रबल प्रसार के कारण इस साधना पर व्याघात पहुँचता है, 'दुर्जय' और 'क्रूर' इन्हीं वृत्तियों के प्रतीक हैं । उनकी आँखें 'वृन्द वाटिका' पर लगी हैं, जिसके फलस्वरूप वह समूह न रहकर व्यक्ति की सम्पत्ति बन जाती है, उसकी रक्षा के लिए प्रहरी नियुक्त किये जाते हैं । इन्दु बन्दिनी-सी रह जाती है, उदात्त भावना का मार्ग दस्यु वृत्तियों द्वारा अवरुद्ध हो जाता है । 'स्वस्तिग्राम' पर आपत्ति के बादल छा जाते हैं, अर्थात् लोक-हितकारी तत्त्वों की हानि होती है, परन्तु 'इन्दु' की प्रेम-साधना के अलौकिक प्रभाव से दुर्जय और क्रूर परास्त हो जाते हैं । इन विशेषताओं को देखते हुए गोपिका को एक उद्देश्य-प्रधान, प्रबन्धात्मक, प्रतीक-रूपक कहा जा सकता है जिसमें एक संत कवि की उदात्त-विमल भावना और कल्पना को अभिव्यक्ति, मिली है ।